

भारत की प्रेस-संरचना

[परिचित एवं प्रवर्धित तृतीय संस्करण]

प्रणेत

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम्. ए.

शिक्षोपनिर्देशक, बिहार सरकार, पटना

[भूतपूर्व म० संपादक 'कल्याण', गीता प्रेस, गोरखपुर
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, जैन कालेज, आरा
प्रिंसिपल मच्चिदानन्द सिन्हा कालेज, औरंगाबाद]



प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड

पटना-४

परिवर्तित एवं प्रवर्द्धित तृतीय संस्करण

मूल्य ६)

जुलाई, १९५७ ई०

184260

मुद्रक

श्री राजेश्वर झा

श्रीअजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड, पटना-४



श्री श्रीमातृचरणकमलेषु

तृतीय संस्करण में

आज 'मीरा की प्रेम-साधना' का तीसरा संस्करण पाठको की सेवा में प्रस्तुत करते हैं अथवा आभिलाष हो रहा है। इस बीच गंगा का बहुत-सा जल पुल के नीचे से बह चुका है और बहुत-सी पुरानी बातें 'पुरानी' होकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गयी हैं पर यह आश्चर्य है कि मीरा मेरे लिए नित्य नई होती जा रही है ऊषा की भाँति। जितनी बार उसे देखता हूँ और देखने की लालसा बनी ही रहती है, जितना निकट आता गया और निकट आने की लालसा बढ़ती गई है। लगता है, उसे कभी छू न पाऊँगा, पा न पाऊँगा। इसीलिए उसके बारे में सब-कुछ कहकर भी ऐसा अनुभव होता रहा है कि कहने की बात तो कही ही न जा सकी, मन की-मन में ही रह गई। अजीब विवशता है, पर है बड़ी भारी, बड़ी मीठी, सर्वथा स्वसवेद्य।

इस संस्करण में दो नये अध्याय और जुड़े हैं। इधर मीरा पर विद्वानों का ध्यान गया है और बहुत-कुछ लिखा गया है, लिखा जा रहा है। परन्तु लगता है हम अपनी 'पंडिताई' में मीरा के साथ अन्याय करते चले जा रहे हैं। उसके प्रेम-प्रवण हृदय पर पांडित्य की शल्य-चिकित्सा भयावह है, साहित्य, साधना, शील, सौन्दर्य, प्रेम, अन्तःप्रेरणा, भावमाधुर्य किसी भी दृष्टि से। परन्तु आज का विद्वान् अपनी विद्वत्ता के घाट सब-कुछ उतारने पर अमादा है, परिणाम चाहे जो हो। परिणाम जो भी हो इसकी परवा न करना साहित्य-क्षेप्टा और समालोचक का धर्म है, परन्तु अपने समालोच्य या वर्ण्य विषय के साथ अन्याय न होने पावे इतना तो हर हृदय रखनेवाले सुधी को सोचना ही पड़ेगा। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में भावपूर्ण ग्रहण करना साहित्य के पिपासु को शोभा देता है परन्तु, वह वैसी क्यों है ऐसी क्यों नहीं इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मीरा क्यों आने लगी? सचमुच मीरा भाव-भक्ति से निःसृत अपने गीतों की पंडिताई व्याख्या और समालोचना देखकर असीसती होगी विद्वान् समालोचको और धुरंधर पंडितों को। वह देखती होगी ये लोग कहाँ उसे खींचे लिये जा रहे हैं। परन्तु

इसका एक शुक्ल पक्ष भी तो है और वह यह कि सब की अपनी-अपनी पूजा की स्वतंत्र शैली है और जो कुछ भी चढ़ाया जा रहा है—तुलसीदल है या वित्त्वपत्र—सब उपासना के प्रकार के भीतर ही है ।

इस बार यह संस्करण कुछ सज-धज कर नयनाभिराम और मनभावन ढंग से प्रकाशित हो रहा है इसका सारा श्रेय श्रीधजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड के सुयोग्य एवं सुरुचिसम्पन्न अधिकारी श्री प० जयनाथ मिश्रजी को है, जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही यह अनुष्ठान सविधि सम्पन्न हुआ । प्यारे की यह वस्तु प्यारे के हाथों में सौंप कर मैं निश्चिन्त हूँ । जैसा कुछ हूँ उसका हूँ, जो कुछ है उसका है । यह भाव अपने-आप में इतना आत्मसात् कर लेनेवाला है कि अन्य किसी विचार के लिए अवकाश ही नहीं छोड़ता । यही 'उस'की कृपा की महिमा है ।

इस संस्करण के मुद्रण के समय मैं अपने कार्यालय के कार्यभार से इतना दबा हुआ था कि प्रूफ संशोधन के लिए समय निकालना कठिन था । इस विवश परिस्थिति में श्री शीलभद्र साहित्यरत्न ने इस कार्य में मेरी अत्यधिक सहायता प्रदान की है । यदि उनका हार्दिक सहयोग न मिला होता तो पुस्तक अशुद्धियों से इतनी मुक्त न होती जितना पाठक इसे पा रहे हैं । इस सहयोग के लिए मैं श्री शीलभद्र साहित्यरत्न का सदा आभारी रहूँगा ।

२।६ बेली रोड, पटना }
आषाढ शुक्ल पूर्णिमा, २०१४ वि० }

विनीत

माधव



लेखक

प्रकाशकीय वक्तव्य

इस ग्रंथ के लेखक श्री माधव जी काशी विश्वविद्यालय से अँगरेजी और हिंदी में एम्. ए. कर चुकने के बाद देश की स्वतंत्रता आन्दोलन, विशेषतः करबन्दी आन्दोलन में तीन वर्ष और फलतः जेल में डेढ़ वर्ष रह चुकने के बाद काशी के 'सनातनधर्म' के प्रधान सम्पादक रहते हुए पूज्य मालवीय जी महाराज के चरणों का सानिध्य लाभ किया। इनके जीवन-निर्माण में पूज्य मालवीय जी महाराज का विशेष हाथ रहा है। कुछ दिनों तक ये प्रयाग के 'चाँद' और 'भविष्य' के भी प्रधान सम्पादक रहे परन्तु इनके जीवन को वास्तविक रससिंचन का अवसर मिला जब गीता प्रेस, गोरखपुर में 'कल्याण' तथा 'कल्याण कल्पतरु' (अँगरेजी मासिक पत्रिका) में संयुक्त सम्पादक के रूप में पूरे ग्यारह वर्ष सेवा करने का इन्हें शुभ संयोग मिला। 'कल्याण' के अनन्तर आरा जैन कालेज में ये छह वर्षों तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर रहे और तदुपरान्त सच्चिदानन्द सिन्हा कालेज औरगाबाद के प्रिंसिपल पद पर पूरे सात साल। पिछले कुछ वर्ष से ये बिहार सरकार के शिक्षा विभाग में समाजशिक्षा के उपनिर्देशक तथा समाजशिक्षा बोर्ड के सचिव पद पर काम कर रहे हैं इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं—

१. सत साहित्य, २. मीरा की प्रेम-साधना, ३. धूप-दीप, ४. मेरे जनम-मरण के साथी, ५. सत वाणी, ६. हँसता जीवन, और ७. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना।

सतो और भक्तों के साहित्य में माधवजी का हृदय विशेष रमता है।

ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट के तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के सदस्य हैं और अखिलभारतीय समाज-शिक्षा परिषद् के संयुक्त सचिव हैं।

निवेदन

मीरा की प्रेम-साधना का सौन्दर्य मेरे हृदय-मंदिर का एक हँसता हुआ स्निग्ध प्रकाश है। इसकी सहायता से मैं जो कुछ देख सका हूँ उसी को आपके सम्मुख ला रखने की विनम्र चेष्टा इस छोटी-सी पुस्तक का उद्देश्य समझा जाना चाहिये। इस उद्देश्य में मुझे सफलता कहाँ तक मिली है, यह बताना मेरा काम नहीं है। मैं तो अपने को इतने ही से धन्य समझूँगा कि मेरे इस प्रथम प्रयास को आप सहृदयतापूर्वक स्वीकार कर लेने की कृपा करें।

अपने आदरणीय आचार्य ध्रुवजी तथा शुक्लजी को मैं धन्यवाद कैसे दूँ? मेरे प्रति इन दोनों गुरुवरों के हृदय में जो अमूल्य वात्सल्य स्नेह भरा रहता है, धन्यवाद के शब्द लिखकर, उसका मूल्य कैसे निर्धारित कर दूँ? इन्होंने अपनी-अपनी ओर से 'परिचय' और 'प्रस्तावना' लिखकर मेरी इस छोटी-सी पुस्तक की महत्ता बढ़ा दी है। इसके लिये मेरा हृदय कृतज्ञ है, पर वाणी तो मूक ही रहेगी।

हाँ, यह आवश्यक है कि इस पुस्तक में जो कुछ भल-चूक हो, मेरी या छापे की, उसके लिए मैं अपने पाठकों और आलोचकों से नम्रतापूर्वक क्षमा माँग लूँ। बस।

असी मज्झिम, काशी

१—१—३४

}

माधव

द्वितीय संस्करण की भूमिका

लगभग बारह वर्ष पूर्व 'मीरा की प्रेम साधना' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ और साहित्य तथा साधना के क्षेत्र में इसका बड़े उत्साह के साथ स्वागत हुआ। सबने बड़े प्रेम से इसे अपनाया। देश और विदेश के विख्यात विद्वानों तथा मनीषियों ने, प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने मूक्तकठ से इसकी प्रशंसा की और उनमें से कइयो ने निजी तौर पर पत्र लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया। उन पत्रों और सम्मतियों को प्रकाशित कर मैं पुस्तक का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता।

मीरा के साथ मेरे अन्तर्जीवन की एक दिव्य समरसता है जो भावयोग के कारण बड़ी ही मीठी, प्यारी पर साथ ही परम रहस्यमय एवं गोपनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा के साथ मेरे किसी अतीत जीवन का अत्यन्त अंतरंग सम्बन्ध रहा है। 'मीरा' नाम सुनते ही वह सुध हरी हो आती है। यह मादक मिठास मुझे बेहाल, बेचैन पर फिर भी 'रस' में सराबोर किए रहती है। परिणाम यह है कि चलता जा रहा हूँ और 'तलाश' जारी है। खोजने का अनुपम आनन्द अपने आप में इतना नशीला होता है कि वह किसी और चाह को स्थान नहीं देना चाहता। इस 'खोज' में खो जाना ही शायद साधना का चरम मोड़ है। अस्तु

इस बार, इस परिवर्तित और प्रवर्धित संस्करण में कई और नये अव्याय लिखे गये और पुराने अध्यायों को भी नए सिरे से लिखा। सौ सवा-सौ और पद इस संग्रह में संकलित किये गये और उनके फुटनोट में काफी

विस्तार हुआ। पर सच तो यह है कि मीरा पर लिखते हुए कभी भी मेरा जी न भरा, मालूम होता है बाहर ही बाहर चक्कर काटकर रह जाता हूँ और 'हृदय की बात' लिखने को रह गई। रसज्ञ पाठक मेरी बेबसी समझेंगे।

पुस्तक बड़ी ही अस्तव्यस्तता की अवस्था में छपी है, अतएव इसमें छापे की बहुत भूलें रह गयी हैं—जिनके लिए मैं पाठको से क्षमाप्रार्थी हूँ।

विन्ध्याचल
विजयादशमी, १९२७ }

विनीत

माधव

विषय-सूची

शीर्षक	पृष्ठ
विषय-प्रवेश	१
शृंगार के मनोभाव	१३
मधुर रस का स्वरूप	१५
भागवतधर्म में श्रीकृष्ण	२५
कला की साधना और उसकी व्यापकता	३९
परमभाव का स्वरूप	५५
अध्यात्म और शृंगार	६६
रास और चौरहरण का रहस्य	७७
वेदना का सौंदर्य	८९
मीरा के आविर्भावकाल में भक्ति की धाराएँ	१०८
रागानुगा भक्ति और गोपी भाव	११५
प्रेम की चिनगारी	१३४
लौ	१४१
रूपराग	१५०
विषाद की अभावस्था	१५८
आँखमिचौनी	१६६
लीला-विहार	१७४
उत्फुल्ल प्रेम	१८८
विरह वेदना	२०२
रहस्योन्मुख भावना	२१९
मीरा और अन्य प्रेमी कवि	२३४
जीवन की एक झलक	२५२
उपसंहार	२७४

पद-सूची

[अकारादि क्रमानुसार]

- अच्छे मीठे चाख चाख (२०१)
अपन करम को छँ दोस (१८६)
अबतो निभाया सरेगी (२१)
अब नहि बिसरूँ (१०४)
मैं अब सरण तिहारी (१०)
अस पिया जाण न दीजै (३३)
आज अनारी ले गयो सारी (१४४)
आज म्हारो साधुजननो सग (९५)
आये आय जी म्हारो म्हाराज (१६८)
आली म्हाने लागे वृन्दावन नीको (१३०)
आली रे मेरा नणा वाण पडी (३१)
आली साँवरो की दृष्टि (१३८)
आवत मोरी गलियन म गिरिधारी (१४२)
आवा मनमोहना जी जोऊँ थारी बाट (१८०)
आवो मनमोहना जी मोठा थारो बोल (१८१)
आवो सहेल्या रली कराँ हे (८६)
इक अरज सुनो पिया मोरी (१९४)
इण सरवरियाँ पाल (९३)
ऐसी लगन लगाइ कहाँ तू जासी (५६)
कबहुँ मिलोगे मोहि आई रे तूँ जोगिया (५३)
कमल दल लोचना तेने कैसे नाथ्यो भुजंग (१४७)
करुणा सुणि स्याम मोरी (१७७)
करम गति टारे नाहि टरे (२०७)
किण सग खेलूँ होरी (१९३)
कुण बाचै पाती (१६०)
कैसे जीऊँ री माई (१०७)

काँई कछु कहै मन लागा (३८)
 कोई कहियौ रे प्रभु आवण की (८१)
 कोई दिन याद करोग (६१)
 कोई स्याम मनोहर ल्योरी (१४६)
 गली तो चारो बंद हुई (८८)
 गोकुला के बासी भले ही आये (१३३)
 गोबिंद कबहुँ मिले पिया मेरा (८४)
 गोबिंद सूँ प्रीत करत (२१५)
 गोहने गोपाल फिखँ (१३६)
 घडी एक नहि आवडे (१८२)
 चालाँ वाही देस प्रीतम (१२४)
 चालो जगम के देस (८७)
 चालो मन गंगा जमना तीर (१३१)
 छाडो लगर मोरी बहियाँ गहो ना (१४१)
 जगमं जीवणा थोरा (२०९)
 जबसे मोहि नद नदन दृष्ट पड्यो माई (२८)
 जागो बसीवारे ललना (१३५)
 जागो म्हारा जगपति राइक ७५)
 जाबा दे जाबा दे जोगी किसका मीत (६०)
 जावो निरमोहिया जाणी थारी प्रीत (५६)
 जोगिया जी आवो थे या वेस (६९)
 जोगिया जी छाड़ रह्या परवेस (६४)
 जोगिया जी निसदिन जोळँ थारी बाट (५१)
 जोगिया ने कहज्यो जी आदेस (७०)
 जोगिया री प्रीतडी हँ दुखड़ारो मूल (५८)
 जोगिया री सुरत मन में बसी (६३)
 जोगिया से प्रीत किया दुख होइ (५७)
 जोगीम्हाने दासदिया सुख होइ (६५)
 जोसीडाने लाख बघाई रे (११६)
 झक आई बदरिया सावन की (११८)
 डारि गयो मनमोहन फासी (१५६)

तनक हरि बितवौ हमरी ओर (१७)
 तुम आज्यो जी रामा (८०)
 तुमरे कारन सब सुख छाड्या (१८४)
 तुम सुणो दयाल म्हाँरी अरजी (१६)
 तू नामर नन्दकुमार तो सो लाग्यो नेहरा (१२७)
 तू मत गरज माई रो १०८)
 तेरो काई नहिं रोकणहार (८९)
 तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी (५२)
 थाने काइ कह समझाऊँ (७४)
 थाने बरज बरज मे हारी (११०)
 थे तो पलक उघाडो दीनानाथ (८)
 दरस बिन दूखण लागे नैण (१८३)
 देखत श्याम हँसे सुदमा कूँ (२०२)
 देखो सहियाँ हरि मन काठो कियो (७६)
 धूतारा जोगी एरु रसूँ हँसि बोल (६२)
 नदनदन बिलमाई बदरा ने घेरी माई (१४९)
 नहिं ऐसो जनम बारंबार (२०८)
 नहिं भावें थारा देस (९४)
 नातो नाम का रे (१७२)
 निपट बकट छवि अटके (२७)
 नीदलडी नहिं आवैं (१७१)
 नैणा लोभी रे (३०)
 नैनन बनज बसाऊँरी (७१)
 पग घुघरु बाँधि मीरा नाची रे (११३)
 पतिया में कैसे लिखूँ (१६९)
 पपइयाँ रे पिव की बोली न बोल (१९६)
 परम सनेही राम को निति ओलूरी आवैं (१५८)
 पिय बिन सूनो छै जी म्हाँरो देस (१८५)
 पिया अब घर आज्यो मेरे (१७८)
 पिया इतनी बिणती सुण मोरी (१७६)
 पिया जी म्हाँरे नैणा आगे रह्यो जी (७३)

(घ)

पिया तेरे नाम लुभाणी हो (२४)
पिया मोहि दरसण दीजं हो (७७)
पिय बिन रह्यो इ ना जाइ (१६१)
प्यारे दरसण दीज्यो आइ (२३)
प्रभुजी थे कहाँ गया नेहड़ी लगाय (१५५)
प्रभुजी में अरज करूँ छूँ (११)
प्रीतम कूँ पतिया लिखूँ (१७०)
प्रभु बिन ना सरै माई (१६५)
प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे (१३६)
फागुन के दिन चार रे (१२५)
बदे बदगी मत भूल (२०३)
बड़े घर ताली लागी रे (४०)
बदरा रे तू जल भरि ले आयो (११५)
बरजी में काहू की नाहि रहूँ (९०)
बसो मेरे नैनन में नदलाल (७)
बादल देखि झरी हो स्याम (१९८)
बाल्हा में बैरागिण हूँगी (१२६)
भई हौ बावरी सुनके बाँसुरी (१४३)
भज मन चरण कमल अविनासी (२०६)
भर मारी रे बाना मेरे सतगुरु (४३)
भुवनपति तुम घर आज्यो हो (१७६)
भीजे म्हारो दामन चीर (८२)
मत्तवारो बादर आए रे (१९७)
मनुखा जनम पदारथ पायो (२१०)
मन रे परसि हरि के चरण (४)
म्हाने चाकर राखो जी (२२)
माई मोरो मोहने मन हर्यो (१४०)
माई म्हॉने सुपने में परण गया जगदीस (१०६)
माई म्हारी हरि हूँ न बूझी बात (१५७)
माई री में तो लियो गोबिन्दो मोल (३९)
मिलता जाज्यो हो गुरुयानी (४८)

(६)

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ (३)
मीरा मगन भई हरि के गुण गाय (१११)
मीरा मन मानी सूरत सैल असमानी (४७)
मीरा लाग्यो रग हरी (६६)
मुझ अबल्लाने माटी निराँत थई (११२)
मेरे तो गिरधर गोपाल (१)
मेरे तो एक राम नाम (२)
मेरे प्रीतम प्यारे (८३)
मेरो मन बसि गयो गिरधर लाल सों (२०)
मेरो मन रामहि राम रटै रे (२०५)
मेरे मन रामनामा बसी (२१४)
मेरो मन लाग्यो हरि सूँ (६७)
मैं अपने सैया सग साँची (३७)
मैं गिरधर रग रती (३६)
मैं गोविन्द गुण गास्या (१०२)
मैं जाण्यो नहि प्रभुको मिलण कैसे होइ रे (१५४)
मैं तो गिरधर के घर जाऊँ (३५)
मैं तो थारी सरण पडी रे रामा (६)
मैं तो म्हारा रमैयाने देखबो कहूँ री (३२)
म्हे तो राजी भई मेरे मन मे (१२३)
मैं तो साँवरे के रग राची (३४)
मने नामरतन घन पायौ (४४)
मैं बिरहिणि बैठी जागी (१६२)
मैं हरि बिन क्यूँ जीऊँ री माइ (१६४)
मोहि लागि लगन गुरु चरणन की (४१)
म्हाँना गुरु गोविन्द री (१०९)
म्हाँरो ओलगिया घर आया जी (१२२)
म्हाँरा सतगुरु बेगा आज्या जी (४६)
म्हाँरी सुध ज्यूँ जानो त्यूँ लीजै (१५२)
म्हाँरे घर आज्यो प्रीतम प्यारा (७८)
म्हाँरे घर रमतो ही आई रे (६८)

(च)

म्हाँरे घर होता जाज्यो राज (१५३)
म्हाँरे नैणा आगे रहो जजी (२५)
म्हाँरो जनम मरण को साथी (१२९)
यहि विधि भगति कैसे होइ (२१२)
या ब्रज मे कछू देख्यो री टोना (१४५)
या मोहन के मे रूप लुभानी (२६)
यो तो रग वत्ता लग्यो ए माय (१०१)
रगभरी रगभरी रग सू भरी री (११४)
रथों बैल जुताय (१०५)
रमइया बिन यो जिवडो दुख पावै (२१३)
रमइया बिन नीद न आवै (१६६)
रमइया बिन रहो इ न जाय (१५९)

विषय-प्रवेश

नित्य, निरजन, निर्विकल्प, अकल, अनीह, अव्यक्त ब्रह्म की भावना मनुष्य ने व्यक्त, सगुण ईश्वर के रूप में की परन्तु उसका जी न भरा, हृदय न जुड़ाया। वैदिक युग में विष्णु, रुद्र, अग्नि, वरुणादि देवताओं की उपासना में केवल 'भय' (Terror) और आश्चर्य (Wonder) ही प्रेरक-शक्ति का काम कर रहा था और भगवान् के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य-गुणों में केवल शक्ति की ही स्वीकृति मानव ने की थी। भगवान् और मनुष्य के बीच यह भयमूलक, आश्चर्य-परक सबध कितने दिन चल सकता? पग-पग पर हम डर रहे थे कि कहीं हमने भूल की कि चट उधर से प्रतिकार का खड्ग चला। प्रायः सभी देवताओं की उपासना इसलिए होती थी कि कहीं वे असंतुष्ट होकर हमारा कोई अनिष्ट न कर बैठे। इस भावना में हृदय की कोमल वृत्तियों को आलबन मिलना तो सर्वथा असंभव ही था। इन्द्र द्वेष की साक्षात् मूर्ति थे। यज्ञ में विघ्न उपस्थित करना तथा तपोनिष्ठ योगियों को अप्सराओं द्वारा तपोभ्रष्ट एवं योगसंश्लिष्ट करना—यही उनका काम था। जहाँ हम भय से बराबर काँपते ही रहे वहाँ हम प्रेम कैसे करते? जो वस्तु शुद्ध स्नेह का पात्र नहीं वह उपासना के लिए कैसे ली जा सकती? जो ईश्वर हमारे पिता, माता, स्वामी, सुहृद, सखा, पुत्र अथवा भर्ता के रूप में न हुआ वह हमारे हृदय के सिंहासन पर कैसे बैठ पाता?

ज्ञानाधिकरण उपनिषदों ने भी ब्रह्म और आत्मा की एकता स्थापित करते हुए उपासना के लिये कुछ व्यक्त प्रतीकों को ग्रहण किया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोषों में से होती हुई आत्मा ब्रह्मानन्द की परम भावना में तल्लीन हो जाती है। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि से परे रहता हुआ भी 'वह' इनमें ओत-प्रोत है। यही नहीं है,

इसमें 'भी' है—यही भावना उपनिषदों की है। ज्ञान की यही चरम सीमा है जहाँ अनुभूति की पराकाष्ठा और सवेदन की तीव्रता में वाणी मौन हो जाती है, हृदय रसमग्न हो जाता है। 'स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा।' ज्ञान का यह पथ जन-साधारण के लिए एक प्रकार बन्द-सा ही था। यह 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयोर्वदन्ति'—छुरे की धार की तरह तेज है—पग-पग पर भय बना हुआ रहता है, ऐसी ही भावना हमारी बनी रही क्योंकि इस मार्ग में 'बटमारो' की कोई इति ही नहीं है। अस्तु, सोझ की अखण्ड वृत्ति हमारी कल्पना से परे की वस्तु बनी रही। क्रमशः साधना का साधारणीकरण होता चला, उपासना का सुगम एवं सर्व-सुलभ पथ खोजा जाने लगा जहाँ हमारी रागात्मिका वृत्तियों के प्रश्रय एवं प्रसार का भी समुचित अवसर मिल सके, साथ ही साथ हमारे आध्यात्मिक विकास का भी। प्रेम-साधना का भूखा-प्यासा, मात्र प्रेम के लिए तड़पता हुआ हृदय अपने प्रेम का एक आश्रय खोज रहा था, आधार ढूँढ रहा था। ईश्वर को पकड़ने का हमारा यह प्रयास कितना सात्विक, कितना निश्छल था। माना कि उत्तर काल के नारायणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, रामतापनी उपनिषद् आदि ग्रंथों में व्यक्त उपासना की ही विशेष पुष्टि हुई, परन्तु शुद्ध ज्ञानमार्ग के भीतर वासुदेव, नारायण, राम और कृष्ण भी हमारे देवकी-पुत्र, राधिका-वल्लभ, गोपी-जीवन, कौशल्यानन्दन न होकर ब्रह्म के ही व्यक्त रूप में ग्रहण किये गये और अंत में ब्रह्म ही में उनका लय हो गया। इसी लिए उपनिषदों में विमल भक्ति का लहलहाता हुआ रूप पूरी तरह निखर कर हमारे सामने नहीं आ पाया।

बौद्ध-धर्म की भावना ज्ञान-वैराग्य-प्रधान तथा निवृत्ति-मूलक थी। अतः एव उपासना का पीछा उसमें पनप न सका। इसके अभाव में धीरे-धीरे उसके अनुयायी वैराग्य के मार्ग से भी च्युत हो चले। ज्ञान के दुरत्यय मार्ग में कुछ चुने हुए ही लोग चल सकते हैं। जनसाधारण के लिये यह मार्ग न कभी प्रशस्त हुआ और न हो ही सकता है। बुद्धिजीवी अपने हृदय को टिकाने रखने का कोई आधार न पाकर पुनः वही लौट आये जहाँ से चले थे। कहने के लिये तो बौद्ध-धर्म के ह्रास एवं भारतवर्ष से उसके उन्मूलन का मुख्य कारण इसकी वेद-विमुखता एवं नास्तिकता ही मानी जा सकती है परन्तु ज्ञानसाधनों से विमुख 'भिक्खुओं' ने बौद्ध-विहारों और मठों को कामवासना का लीलास्थल बना दिया था और वे तत्र-मत्र, रसायन, हठयोग और अष्ट सिद्धियों के जंजाल में उलझ गये थे। वस्तुतः बौद्धधर्म के अन्ध-

पनन एव उन्मूलन का मुख्य कारण यही हुआ। तत्त्वज्ञान के स्थान पर जब चञ्चकता आ जाती है तो धर्म की आत्मा खोखली हो जाती है और कुछ ही समय में वह धर्म अपना अस्तित्व और प्रभाव खो बैठता है।

जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्यजी ने मृतप्राय हिन्दू जाति को ज्ञान की धूँटी फिर एक बार पिलाई। साधना की चरम सीमा ब्रह्मात्मैक्य स्वीकार करते हुए तथा तत्त्वतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' को ज्ञान का परम साध्य मानते हुए भी स्वामी शंकराचार्य ने शिव, विष्णु, वासुदेव की परब्रह्म-रूप में उपासना स्वीकार की, जैसा उनके रचे हुए स्तोत्रों से प्रकट होता है।

स्वामी रामानुज का विशिष्टाद्वैत भी अद्वैतोन्मुखी था। उसमें भी ब्रह्मवाद की अतिम लहरो की हलचल स्पष्टतः परिलक्षित हो रही थी। इस विशिष्टाद्वैत में मानव-हृदय की साधना-वृत्ति को कुछ सहारा तो अवश्य मिला और भगवान् के साथ हम दृढ़ता-पूर्वक दास्यभाव में बँध तो अवश्य गये, परन्तु अन्तरतम की वृत्तियाँ प्यासी ही रह गईं। हृदय की भूख तो कुछ अवश्य मिटी, परन्तु प्यास ज्यों-की त्यों बनी रही। 'प्रपत्ति' का आधार वस्तुतः बहुत बड़ा आधार था। पर भक्ति ज्ञान में लीन हो जानेवाली ही कही गई, साधन-मात्र ही नमज़ी गई, स्वयं भक्ति ही अपना लक्ष्य अथवा साध्य न हुई।

नर रूप में अवतारी विष्णु के दो रूप हुए—राम और कृष्ण। स्वामी रामानुज के शिष्य स्वामी रामनदजी ने श्रीसीताराम की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया और महामन्त्र 'ॐ रामाय नमः' तथा 'रामनाम' को पुनः प्रतिष्ठापित किया। इन्हीं की शिष्य-परंपरा में कबीर, रैदास, पीपा आदि निर्गुणिये भक्त हुए। इन्हीं सन्त रैदास की शिष्या मीरा बाई हुईं जिन्होंने वल्लभ संप्रदाय के प्रभाव में अथवा हृदय की अन्तरतम प्रेरणा में राम के स्थान में श्रीकृष्ण को ही अपना परमाराध्य प्राणेश्वर माना। राम की उपासना में दास्य-भाव की ही विशेष परिनुष्टि हो सकती है अतः यहाँ सौंदर्य की अपेक्षा शील एव शक्ति ने ही हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। राम में हमने अपना इष्ट तो पा लिया, परन्तु राम केवल प्रेम के ही पात्र न थे। उनकी शक्ति के सामने हम सिर नवाते थे। राम हमसे सटे हुए भी हमसे इतने ऊँचे हैं कि हमारा मस्तक उनके चरणों में श्रद्धा एव भक्ति से झुक जाता है, केवल प्यार ही करे, उन्हें कसकर हृदय से लगा ले, अपने प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध ले—ऐसा नहीं होता।

राम का 'रामत्व' रावण के 'रावणत्व' के विरोध में, शक्ती, अहंता, गणिका, गिद्ध आदि के तारने में, सुग्रीव, विभीषण, हनुमान आदि की

स्नेह-मंत्रों में तथा कैक्यों के प्रति श्रद्धा और स्नेह का भाव रखने में ही अधिक प्रफुल्लित हुआ है। जनकपुर की फुलवारी में 'भयेउ विलोचन चारु अचचल' के चित्र को कितने झटके से हटा लिया गया है। वन जाते समय राम के रूप पर ग्राम-बधुओं के हृदय लुटाने का मनोरम दृश्य भी कितने समय के साथ दबा दिया गया है। रूप-रस के प्यासे मानव-हृदय की रसनिष्पत्ति में कितना बड़ा झटका इन दृश्यों से लगता है। हम लुभाए से, टकटकी बाँधे राम के इस मधुर रूप की ओर देखने ही लगते हैं, उस परम छवि को आँखों के बातायन से हृदय के मंदिर में पूरी तरह ला भी नहीं पाते कि राम अपने कर्त्तव्य के कठोर पथ में चल देते हैं; उनका वह सुन्दर रूप हमारी ललचाई आँखों से ओझल हो जाता है, और हमारे 'कहाँ साँवरो सो सखि रावरो को है?' का कोई उत्तर नहीं मिलता। हरिदर्शन की प्यासी आँखें तडफडा कर रह जाती हैं। लोक-मर्यादा, समय, साधुओं के परित्राण एव दुष्कृतों के विनाश की भावना ही राम में पूर्णतः प्रतिष्ठापित हुई है, पावन ही मंगल है, श्रेय ही प्रेय है, कर्त्तव्य ही प्रेम है—यही राम के लोकोत्तर चरित का आदर्श है। हम राम के सेवक तो हो जाते हैं, परन्तु स्वामी का चरित्र इतना उन्नत, इतना पावन एव उच्च है कि सखा होने के लिए हमारा हृदय प्रवृत्त ही नहीं हो पाता। जीवन का एक बहुत बड़ा अभाव रह ही जाता है। भगवान् राम का चरणामृत तो हमें प्राप्त हो जाता है परन्तु भक्त का प्रेमी हृदय तो भगवान् के अधरामृत के लिये व्याकुल था,—वह अपने स्वामी को केवल स्वामी के रूप में ही पाकर कैसे संतुष्ट होता? वह तो उसे अपनी दोनों भुजाओं में बाँध कर उसका अधरामृत पान करना चाहता था। इस प्रकार, जी की कलक बनी ही रही।

दास्य में 'दूरत्व' का जो भाव हमारे भीतर घर किये हुए है उसको कुछ प्रवाह मिलना अनिवार्य था। सख्य, वात्सल्य एव माधुर्य भाव में दूरत्व का क्रमशः लोप हो जाता है; यहाँ तक कि परम भाव में तो 'दो का एक' तथा 'एक ही का दो' स्पष्टतः स्थापित हो जाता है। इस प्रकार, हृदय की सभी वृत्तियों के रमने का पूरा-पूरा अवकाश एव क्षेत्र कृष्ण में मिला। तुष्टि तथा अभिलाषा के सभी उपादान कृष्ण में विद्यमान हैं। शाल और शक्ति की पराकाष्ठा दिखाते हुए भी सौंदर्य की ही ओर हमारा ध्यान विशेष खिंचा। यशोदा के आँगन में किलकारियाँ छोड़ते हुए, 'घुटुरन चलत रेनु तन मडित मुख दधि लेप किए'—रूप पर सहज ही हमारा हृदय निछावर हो गया।

अवस्था बढ़ती है और अवस्था के साथ नटखटी भी । गोप गोचारण में सजल-श्यामल मेघों के पीछे दौड़ते, सखाओं से दाँव लपकाती तान पर स्वयं नाचते तथा गोपियों को नचाते हुए कृष्ण का वह मोहक रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो विश्व में सचमुच अद्वितीय है, एकदम निराला है ।

वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, हित हरिवंश तथा चैतन्य को इसी मधुर मनोहर श्यामल किशोर त्रिभुवनमोहन रूप ने आकृष्ट किया — जिसकी प्रेम-दार्शनिकता को जयदेव और विद्यापति तथा चण्डीदास ने अपने प्रणय-गीतों में परम भाव की माधुर्य-रति को अंकित किया । श्री चैतन्यदेव ने प्रेम का जो स्रोत बहाया, जयदेव तथा विद्यापति और चण्डीदास ने अपने प्रेमोन्माद-पूर्ण सुललित गीतों में जिसे गाया, वही दिव्य प्रेम-संगीत-धारा नवद्वीप से मिथिला की अमराइयों में होती हुई ब्रज में अपने प्राण-वल्लभ की सुमधुर झाँकी से अनुप्रणित होकर राजस्थान में पहुँची । गीत-काव्य का यह प्रवाह सर्वथा निराला है । प्रेम और आनन्द का यह उमड़ता हुआ, उछलता हुआ स्रोत मीरा के हृदय में जा मिला । मीरा ने प्रेम के पथ में सर्वात्म समर्पण कर, श्रीगिरिधर गोपाल को अपना प्राण-वल्लभ प्रियतम पति मान कर, अपने जीवन को, अपने जीवन की सभी आकांक्षा एवं अभिलाषा को श्रीकृष्णार्पण कर दिया । 'पिया की सेज' सूली के ऊपर होते हुए भी वह महामिलन के आनन्दमधु को छक कर पी सकी और अपने प्राणप्यारे को पिला भी सकी ।

परम भाव की इस परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेम-तत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है और इसी हेतु भगवान् श्रीकृष्ण का यह मोहक रूप मानव-हृदय को अनादि काल से आकृष्ट करता आया है । मेरे परम श्रद्धेय गुरुदेव परम वैष्णव साधु श्रीकृष्णप्रेम जी (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर रोनाल्ड निक्सन) ने भी अपने जीवन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वभावेन समर्पित करते हुए कविवर कीट्स (Keats) के शब्दों में कुछ परिवर्तन कर अपनी प्रेम-भावना की अनन्यता को बड़े ही सुंदर अथच मधुर शब्दों में व्यक्त किया है—

“Krishna is God, God Krishna, that is all
Ye know on earth and all ye need to know.”

अर्थात् कृष्ण ही भगवान् हैं और भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण हैं—इतना ही हम जानते हैं और इतना ही जानने की आवश्यकता भी है ।

शरद ज्योत्स्ना से पुलकित मधु-यामिनी में जब समस्त चर-अचर इस मधु-वर्षा में आनन्दविभोर थे, समीर मन्थर गति से धीरे-धीरे बह रहा था, यमुना तट पर खड़े होकर, ललित त्रिभगी वेश में मदनमोहन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी मुरली की ढेर से सहस्र सहस्र गोपियों को आकृष्ट करते हैं। 'नाम' समेत कृत सकेत वादयते मृदु वेणुम्' गोपियाँ जो जंसी हैं बैसी ही मुरली की जादूभरी ध्वनि सुन कर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए विह्वल होकर दौड़ती हैं। जड़ और चेतन को पागल बना देनेवाली रहस्यमयी, सकेतभरी शरद् की चाँदनी छिटकी हुई है। ज्योत्स्ना-प्लावित अर्ध रात्रि में यमुना के सँकत पुलिन पर रास का समारोह होता है। बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है; चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक 'गोपी' के साथ कृष्ण । परम भाव का उत्कृष्ट, उत्फुल्ल मधु-मंदिर मादक लास्य ।।

x

x

x

हम भागते जा रहे हैं, 'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है। हम आवरण में रहना ही पसंद करते हैं, 'वह' हमें अनावृत कर छोड़ने पर ही तुला हुआ है। आखिर, उसके ही हठ की जीत होती है और अंत में 'वह' हमारे आवरण को हटाकर ही चैन लेता है। यही 'चौरहरण' है। ठीक इसी भाव को परम भावुक आत्मदर्शी अंग्रेज कवि टाम्सन् (Francis Thompson) ने अपनी सुविख्यात कविता 'स्वर्ग के अहेरी' (Hound of Heaven) में व्यक्त किया है—'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है— हम भागते जा रहे हैं, 'उस' के चरणों की चाप स्पष्ट सुनाई पड़ रही है—

*'I fled Him down the nights
and down the days*

I fled Him down the arch of Time'

परंतु अंत में 'वह' हमें 'ग्रस' लेता है और बोल उठता है—

*'Ah ! fondest, blindest, weakest
I am He whom thou seekest*

Thou drivest love from thee who drivest Me

अरे ओ भोले मानव ! तू कहाँ भागा जा रहा है ? मैं अब तुझे छोड़ने का नहीं। अरे ओ पागल, ओ अधे, ओ दुर्बल प्राणी ! मैं वहीं हूँ जिसे तू खोज रहा था—मुझसे अब भाग कर तू कहाँ जायेगा ? मैं तुझे अपनाकर ही चैन लूँगा, आत्मसात् कर लूँगा। जितना हम 'उस' के लिए व्याकुल नहीं,

हे उतना व्याकुल 'वह' है हमारे लिए । भय हमें यह है कि 'उसे' पकड़ हमारा 'अह' रह कहीं सकेगा; हम अपने 'मैं' को कैसे बनाये रख सकेंगे ? परंतु 'वह' तो हमारे हृदय का बन्दी बनने के लिए व्याकुल है । उसकी इस तीव्र उत्सुकता की कोई सीमा नहीं । जिसने उसे पाने की तनिक भी चेष्टा की, आतुर विह्वल हृदय से एक बार भी प्रेमपूर्वक उसे पुकारा कि वह उसके हाथ आ गया । हमारा उसका अनंत और अविच्छिन्न मिलन हो रहा है । प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया में 'वह' और मेरा 'मैं' मिल रहे हैं । यह पृथ्वी, ये असंख्य नक्षत्र यह अनन्त सागर ये दिशाएँ हमारे इस 'महामिलन' की साक्षी हैं । अब हम 'उसे' जाने भी कैसे दे ?

*"I have caught Thee by my hand
I will not let Thee go"*

मैंने तुझे अब पकड़ लिया है—अब तुझे जाने न दूंगा । हमारे इस महा-मिलन का माधुर्य विरह में अत्यधिक प्रस्फुटित एवं उच्छ्वसित हो उठता है । प्रतिपल विरह की उद्दीपना में हमारा हृदय अपने 'प्राणाराम' के लिए आहें भरता है, तूफान में समुद्र की भाँति । आहों के उस सघन कुज के भीतर प्रेम की अल्हड़ मृगछाँनी उल्लसित साधो पर चौकड़ी भरती रहती है । यह विरह ही प्रेम की सजीवनी है । रास की फाँस में गोपियों को डालकर, मिलन-माधुरी का कुकुम राधा के हृदय पर छिड़क कर नटवर छोड़कर चले गये । गोपियाँ तड़पती रह गई, राधा कुहुँकती रह गई । वह 'निठुर' न लौटा—न लौटा ! 'जोग' की आँधी लाकर उद्धव ने धुँधुआती विरह-ज्वाला को धक्का दिया ! प्रेम की बंसी में गोपियों के हृदय को उलझाने की यह निष्ठुर क्रीडा ! विरह की यह ज्वाला ही, वेदना का यह उद्दीप्त शृंगार ही भक्तों का प्राण है, जिसमें अर्हनिश जलते-तपते हुए भी वे इससे बाहर आना नहीं चाहते । दर्द-ये-दिल का यह अहवाल दुनियाँ क्या समझे, समझने ही क्यों जाय ?

“हे री मैं तो दरद-दिवाणों,
मोरा दरद न जाणें कोय
सूली ऊपर सेज पिया की
मिलणो किस बिध होय ?”

शृंगार के मनोभाव

सुनु सखि पिउ मँह जिउ बसै,
जिउ मँह बसै कि पीउ ?

—कबीर

"Love is ever young, and it ever renews itself in fresh rosy colours; and hence Sree Krishna is the Eternal Masculine and Sree Radha is the Eternal Feminine in the enjoyment of Eternal Youth."

—विजयकृष्ण गोस्वामी

शृङ्गार विश्व का आदि रस है। सृष्टि का विकास शृङ्गार का विलासमात्र है। ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुस्याम्' की अतृप्त पिपासा के अन्तः में शृङ्गार का ही मधु छलका है। वाणी एवं मन से अप्राप्य उस 'परम रूप' को स्वयं अपनी छवि की परछाही देखने की उत्कण्ठा जमी और प्रकृति का महारास प्रारम्भ हुआ, विश्व का रगमंच नाच उठा। आदि पुरुष की यह आदि वासना ही सृष्टि का मूल कारण है। 'एक' से 'बहु' हो जाने की वही वासना चर-अचर जीवमात्र में किलक रही है। मानव-हृदय की ही नहीं, सभी जीवधारियों की यह एक अव्यक्त, अतृप्त लालसा है। अपने अधूरेपन का अनुभव करते हुए वह अपने अभाव की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। इस अभाव की पूर्ति नाना रूप से करने की चेष्टा होती है। सुधाशु अपने रूप-लावण्य की पराकाष्ठा पर आकर समुद्र का हृदय डावाँडोल कर देता है, आन्दोलित, उद्वेलित कर डालता है। पूर्णिमा की अर्द्ध रात्रि में समुद्र के अन्तःस्तल में जो हलचल उठती है, जो तूफान खड़ा होता है, चन्द्र-किरणों को चूमकर चाँद को अपने हृदय के हृदय में

बन्द कर लेने की जो तीव्र उत्कठा उस विक्षुब्ध समुद्र के अतल हृदयतल में व्याप्त है, वह अखिल चराचर की मूल वासना का एक चिरन्तन प्रतीक 'एव प्रमाण है ।

‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञानेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम् । तद्वा अस्य एतदाप्तकाम आत्मकाम अकाम रूपम्—बृहदारण्यक ४. ३ २९ ।

जिम प्रकार पत्नी के प्रगाढ परिरम्भन में पति अपनी बाह्य और आन्तरिक सज्ञा खो देता है उसी प्रकार परम प्रियतम परमात्मा के आलिंगन-रस को पाकर आत्मा अपने आपको खो बैठती है ।

बाल उषा की कोमल अरुण किरणों कमल का द्वार खोल देती है । मलयानिल सारी वसुंधरा में एक विचित्र उन्माद उड़ेलता हुआ समस्त जीवधारियों के हृदय में एक गहरी व्यथा की टीस जगा जाता है और कोकिला के आग भरे मीठे गीत में विश्व-वेदना अपना संगीत छेड़ देती है । मजरियों से झुकी हुई अमराइयों एव फूलों से लदी हुई लता-बल्लरियों में मधुमास के नीरव संगीत को कौन नहीं सुनता ? कोकिला का प्रथम कूक में उसके आग भरे, दर्द भरे दिल की अनुल व्यथा में वसुधा का अभाव भरा शृङ्गार परिलक्षित हो रहा है ।

जहाँ देखों तहाँ एक ही साजन का दीवार ।

बार बार देख कर भी जी नहीं भरता, हृदय नहीं अधाता । आँखें जितना देखती हैं उतनी ही और देखने की इच्छा बढ़ती ही जाती है—

तदेव रम्यं रुचिर नवं नवं

तदेव शश्वन्मनसा महोत्सवम् ।

एक अपरिचित 'अतिथि' के लिये अलहड़ शकुन्तला के हृदय में 'अनुराग' उत्पन्न हो जाना प्रकृति की आदिम वासना की सजीव साध है । कण्व के आश्रम में अपनी सहेलियों के साथ शकुन्तला पौधों के आलबाल में जल ढाल रही है । आश्रम में वृद्ध मुनि कण्व के अतिरिक्त, माता गौतमी एव दो सखियाँ प्रियवदा तथा अनसूया हैं । समय के कठोर परिवेष्टन में शकुन्तला का सहज अज्ञात यौवन मर्यादा की चादर ओढ़े अगड़ाई ले रहा है । उस अज्ञात यौवन की पावन अथ व मादक सुरभि से समस्त वातावरण में ह-मँह करता है । तपोवन के उस पवित्र, वातावरण में भी साधना के कठोर नियमन के भीतर लावण्य की ललित लीला अलक्ष्य रूप में लक्षित हो रही है । वेणी में गूँथे हुए फूलों की सुरभि तथा रूप-माधरी के आकर्षण से एक ठोठ

मीरा शकुन्तला का पीछा कर रहा है। उसके आघात से रक्षा करने के बहाने आश्रम-मृग का पीछा करते हुए मृगया-विहारी दुष्यन्त आश्रम की उस एक मात्र अबोध 'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' हरिणी पर अपने विषय-वृक्ष बाण छोड़ता है। शकुन्तला का सरल निश्छल हृदय इस अचानक आघात के लिये तैयार नहीं था। वह इस ढीठ 'भौरे' से अपने को बचाने में सर्वथा असमर्थ थी। दुष्यन्त के बाण सीधे शकुन्तला के हृदय में प्रवेश कर गये। चिर सच्चित साधना एव सयम का बाँध सहसा एक झटके में टूट गया। दुर्वासा का अभिशाप तो ऋषि-कन्या की अनन्य साधना एव अखंड प्रेम तथा नि शेष आत्मसमर्पण को और भी अधिक तेजोमय, दीप्ति-मय कर देता है। लोक-संग्रह की दृष्टि से शकुन्तला का यह एकान्तिक प्रेम एव तज्जन्म स्खलन भले ही 'अशिष्ट' कहा जाय, परन्तु आश्रम की एकमात्र शृङ्गार उस भोली कन्या के दर्द भरे, चोट खाये हृदय की व्यथा को सहानु-भूति एव सहृदयता से देखनेवाले को तो अग्निशर्मा दुर्वासा पर क्रोध आए बिना न रहेगा। क्रोध की मूर्ति उस तपस्वी ब्राह्मण को क्या पता कि प्रेम की मीठी आँच कैसी होती है और उसमें तड़पते हुए हृदय की कैसी एकान्त तन्मयता होती है, कैसी मीठी बेचनी होती है। यह तो वही जान सकता है जिसने प्रेम के बाण को प्यार में नहला कर अपने हृदय में छिपा लिया है और जो अपने इस 'धाव' को हरा बनाये रखने के लिये ही आत्मसमर्पण की चिर स्निग्ध आराधना में, प्राणधन की सुन्दर सुमधुर स्मृति में अपने आपको सर्वथा मिटा देता है, नि शेष कर देता है। क्रोधावतार दुर्वासा इस आशा में थे कि आश्रम-कन्या सदा की भाँति उठकर उनका स्वागत-सत्कार करेगी, परन्तु वह तो आज अपने प्राणधन की मधुर स्मृति में बेहोश थी, उसे क्या पता था कि दुर्वासा कहाँ आये कहाँ गये।

“जाके लगै सोई पै जाने प्रेम-बान अनियारो।”

मिथिलेश-नन्दिनी सीता सखियों के साथ पार्वती जी की पूजा करने के हेतु जनकपुर की फुलवारी में जाती है। राम भी पूजा के लिये पुष्प लाने गये हैं। बार-बार सीता की आँखें राम की अतुल छवि की ओर आकृष्ट हो जाती हैं; 'भयेउ विलोचन चारु अचञ्चल'। निर्निमेष नेत्रों से वह एकटक राम की ओर देखने लगती है। 'प्रीति पुरातन' का स्मरण हो आता है, और वह सारी सुख-बुख खो देती है। रोमाच, वैवर्ण्य एव प्रस्वेद तो फिर स्वाभाविक ही हैं, और वह अपने अन्तस्तल की एक मात्र साध जगज्जननी पार्वती के चरणों में किस सकेत भरी भाषा में व्यक्त कर रही है—

‘मोर मनोरथ जानहुँ नीके, बसहु सदा उरपुर सब ही के ।’

करील कुञ्जो की सधन छाया के नीचे राधा के पाँय पलोटते हुए तथा ‘देहि मे पदपल्लवमुदारम्’ की याचना करते हुए रसिकशेखर श्रीकृष्ण को हमने बहुधा देखा है। हमने उन्हें ‘राधे, राधे’ की टेर लगाते कुज-कुज भरमते-भटकते देखा है और राधारानी के न मिलने पर आँसुओं की जमुना बहाते भी देखा है, परन्तु वही प्रेमी जब अपनी प्राणाधिका राधिका को पाकर अपने आप पर गर्वित हो जाता है और सहसा बशीनिनाद के आवाहन एवं परस्पर प्रणय-सलाप के अनन्तर अन्तर्धान हो जाता है तो उस राधारानी और सहस्र-सहस्र गोप-कुमारियों के हृदय की अतृप्त लालसा उन कुजों में आग बिखेरने लगती है।

नदी जैसे स्वाभाविक ही समुद्र की ओर दौड़ती है वैसे ही जीव-जीव के हृदय में आनन्द-लिप्सा भी प्रति क्षण बढ़ती ही रहती है। समुद्र जैसे आनन्दोन्मत्त हो नदी में प्रविष्ट होकर नदी को भी तरंगपूर्ण और आनन्दमय कर देता है वैसे ही ‘वे’ आनन्दसिन्ध भी करते हैं। निजानन्द सभोग लिये ‘उन’ की स्पृहा का कभी अन्त नहीं होता। उनके पुकारने का न आदि है न अन्त। वे सभी समय सब को बुला रहे हैं। जिस प्रकार पति-पत्नी की भाषा मधुर होने के साथ अस्फुट होती है उसी प्रकार प्रेमी और प्रियतम का परस्पर सलाप भी अस्फुट और मधुर होता है।

मूर्ख लोगो ने मजनूँ से नादानी से पूछा कि लैला में क्या सुन्दरता है, वह तो कुछ भी सुन्दर नहीं है, काली कलूठी है। उससे उत्तम लाखों प्रेमिकाये शहर में चाँद के समान सुन्दर और हाव-भाव में उससे सर्वथा श्रेष्ठ हैं। तुम इन सबमें से जिसको चाहो चुन लो। मजनूँ ने उत्तर दिया कि सूरत तो एक पात्र है और यौवन उसमें भरी हुई सुरा। ईश्वर मुझको उसी के प्याले से सुरा का पान कराता है—तुम लोग पात्र को देखते हो परन्तु वह सुरा तुम्हें नहीं दिखायी देती। प्रणय—जिसे ‘आध्यात्मिक परिणय’ कह सकते हैं, स्थूल दृष्टि से देखने-जानने-समझने की चीज नहीं है, इसे तो वहीं जानता है जो ‘भुक्तभोगी’ है और जिसके हृदय की आँखें खुली हैं।

भग्न-मनोरथा महासती पार्वती ने मन्मथमथन भगवान् महादेव को अचर-मदन एवं असमय वसत के विविध उपकरणों से जीतना चाहा था। दसन्त ऋतु के समय न मालूम किस नैसर्गिक नियम के अनुसार सभी नर-नारियों के हृदय में, प्राण में आनन्दोल्लास का एक प्रबल वेग आ उपस्थित होता है। उस समय विश्व-प्रकृति के अन्दर भी इस आनन्द की उत्तेजना

दिखायी देती है । समस्त दिशाएँ निर्मल एवं स्निग्ध मलय समीर के हिलोर से नरनारियो के हृत्पिण्ड के ताल-ताल में उनके मनको भी नचाने लगती हैं । एक अनिर्वचनीय आनन्द से उन्हें मतवाला कर देती है । शाखा-प्रशाखा में नवीन मजरी, वृक्षावलियों में नूतन किसलय, नवकुसुम कलिकाओं की शोभा और उसके साथ-साथ सुगंध का संचार प्राणों में एक अपूर्व स्पन्दन की जागृति करा देता है—मानो किसी के साथ मिलने की, किसी का अग-सग प्राप्त करने की आकांक्षा से समस्त चित्त उत्क्षिप्त हो उठता है । प्रेमी और प्रेमिका की चित्त-कलियाँ किसी के सकेत से मानो विकसित हो उठती हैं, कोई मानो उसका बिलकुल अपना-सा है जिसे पाने की आशा में चित्त उन्मत्त हो उठता है । अकाल बसन्त के आगमन से भँवरा और भँवरी एक ही कुसुम पात्र में मधुपान करने लगे, कृष्णसार मृग अपनी सींग से अपनी प्रणयिनी हरिणी का शरीर खुजलाने लगा और वह स्पर्श-सुख में विभोर हो गयी ।

सब के हृदय मदन अभिलाखा

लता निहारि नवाँहि तरसाखा ।

नदी उमँगि अंबुधि कहँ धाई

संगम करहिँ तलाब तलाई ॥

बालक मदन शिव को विचलित तो कर सका, पर स्वयं भस्मीभूत हो गया । उसके पश्चात् पार्वती ने जो घोर तपश्चर्या की, वही शृङ्गार के मनोभाव का सहज रूप है । वह कहती है—

महादेव अवगुन सदन विष्णु सकल गुन धाम ।

जोहि के मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम ॥

उसके मन में 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चाहता'—सौन्दर्य वह जो प्यारे को रिझा सके—रम गया था । वह अपने इष्ट-साधन की आराधना में अपने आपको सर्वतोभाव से समर्पित कर देती है । फिर सप्तर्षियों द्वारा जो उसके प्रेम की परीक्षा ली गयी है वह तो मनुष्य जाति का स्त्री-जाति के प्रति सहज आशका एवं अविश्वास का दयनीय दृष्टान्त है । 'कुमार-सम्भव' में स्वयं महादेव पार्वती की परीक्षा के लिए एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी के छद्मवेश में आये हैं । नारी सदैव अपने प्राणधन की होकर रही है, जन्म-जन्मान्तर से वह उसी 'एक' का आधार लेकर जन्म और मृत्यु के द्वार लाँघती चली आयी है परन्तु कुटिल मानव उसके इस सर्वात्म निःशेष आत्मदान के दिव्य सौन्दर्य को अब तक भी नहीं समझ सका; अब तक भी

वह समर्पित नारी को पूर्णतः, एकान्ततः अपना नहीं सका और युग-युग की नारी-साधना पर अब भी पुरुष ने अविश्वास एवं आशंका की काली चादर डाल रखी है ।

प्यार का मधु पिलाकर प्रणय के प्रगाढ परिरम्भन का रसास्वाद लेकर दुष्यन्त शकुन्तला को तो भूल गया और अपने राज-पाट में मदमत्त हो गया-परन्तु शकुन्तला अपने अधरो पर के उस हृदयहीन के स्नेह-चुम्बनो के दाग को कैसे मिटा पाती ? उन्हें मिटा कर वह कहाँ जाती, कैसे जीती ? और तो और, वह उस प्रणय-मिलन की उद्दाम वासना का पूर्णतः शिकार हो चुकी थी, वह आपन्नसत्त्वा, आसन्नप्रसवा हो चुकी थी और इसीलिये राज्योन्माद में प्रमत्त दुष्यन्त के तीव्र प्रत्याख्यान की चोट खाकर वह निराश नहीं होती, साधना से विमुख नहीं होती, अपने को विस्मृत नहीं कर बैठती-अपितु अभिशाप की तपोमय ज्वाला में जलती हुई वह मरीचि के आश्रम में दुष्यन्त की प्रीति-प्राप्ति के लिये आराधना करती है । अकारण लाञ्छिता होकर भी निर्वासिता सीता वाल्मीकि के आश्रम में अपने हृदय-धन की 'मूर्ति' को हृदय में अहर्निश पूजती रहती है । राम को तो लोक-मर्यादा का भार निभाना था, परन्तु अकारण लाञ्छिता होकर जगलो में 'दोहद' का मनोरजन कराने के अभिप्राय से उस सती को लक्ष्मण द्वारा छोड़ आने का भीषण कलङ्क मानव जाति का एक ऐसा कलङ्क है जिसे 'ह्वाइट-वाश' किया नहीं जा सकता । वह लाञ्छन, वह कलङ्क मनुष्य जाति पर सदा के लिये बज्रलेप-सा लगा हुआ है । रास की फाँस में गोपियों को डाल कर लीलामय कृष्ण ने कुब्जा से स्नेह जोड़ा और बेचारे उद्धव गोपियों को 'जोग' की सीख देने की की व्यर्थ चेष्टा करते रहे । उन विरहिणी गोपियों के आँसुओं से आज भी हमारा ब्रज आर्द्र है । उनके आँसू आज तक नहीं पृष्ठ पाये ।

हम समस्त प्राणी उसी विरहिणी राधा के रूप में हैं जिसे कभी एक क्षण के लिये प्राणवत्त्व कृष्ण ने रास का आनन्द दिया और अनेक प्रकार से अपना लीला-कुतूहल पूरा किया ; परन्तु अब वे हमें 'नग्न' छोड़ कर चले गये हैं । हमारे हृदय में वशी का डेर, नूपुरों की 'रुनझुन' कालिन्दी-कूल एवं करीलकुञ्ज तथा वंशीवट अभी भी व्याप्त हैं । रह रहकर हमारा मन न जाने कैसा-कैसा करने लगता है । हम सभी उस एक 'कृष्ण' के विरह में क्षुब्ध एवं कातर हैं, वही हमारे हृदय की निधि एवं प्राणों का सर्वस्व है । मीरा के शब्दों में कृष्ण के सिवा अन्य कोई पुरुष है ही नहीं । हम सभी इन विरहिणी गोपियों के रूप में, तप परायणा अर्पणा पार्वती एवं

अभिषिक्त शकुन्तला के रूप में अपने प्राणवल्लभ की खोज में 'अभिसार' कर रहे हैं। आत्मा का यह कृष्णाभिसार ही शृङ्गार का प्राण है जब हम अन्नस के प्रकाश में उसके पथ में चल पड़ते हैं—

*In that happy night,
In secret, seen of none
Seeing naught myself
Without other light or guide
Save that which in my heart was burning
O guiding night,
O night more lovely than the dawn,
O night that hast unied
The lover with her Beloved
And changed her into Love !*

यही प्रणयी के साथ प्रणयधन प्रियतम का एकान्त मधुर मिलन है। इस मिलन से उस प्रियतम की शोभा और भी बढ़ जाती है। यदि प्रेमी नहीं होता, यदि ये प्रणय-तपस्विनियाँ नहीं होतीं, यदि इनके प्राणों में अभिसार की इतनी चाह न होती तो उस अगर आनन्द का सभोग कौन करता ? इसी आनन्द-मधु में छक कर प्रेमी और प्राणधन दोनों बेसुध हैं—कोई किसी से कुछ प्रश्न नहीं करता—

*I will draw near to thee in silence and uncover thy feet
that it may please thee to unite me to Thyself Make myself
thy bride and I will rejoice in nothing till I am in thy arms*

विश्व के अणु-अणु में उसी की मधुर छवि छलक रही है। परन्तु हम उसे सर्वाङ्ग रूपेण पाना चाहते हैं। उसके बिना हमारा जीवन अधूरा है, अपूर्ण है, नीरस है, अकारण है। उसे पाये बिना हमें क्षण भर भी कल नहीं, हम अरुणा-शकुन्तला उषा, नीलनभ में अँगड़ाई लेती हुई सध्या, तारों के गजरे पहनी निशा का सुस्निग्ध रूप-लावण्य देखते हैं और हमारे हृदय में ये सभी हमारे प्रियतम के मधुर मिलन की स्मृति उद्दीप्त करते हैं, उत्कठा जगाते हैं। एक-एक अणु-परमाणु में मिलन की मधुर लीला हो रही है। यह सब कुछ हमारे प्राणधन के प्रणय में सराबोर है। इसी से तो यह जगत इतना सुन्दर है। इसी से इस आकाश और समुद्र में इतना आनन्द उमड़ रहा है। इसी से शैल-सलिल और अनल अनिल में उस परम प्रेमी के रूप और आनन्द का बाजार लग रहा है।

“मधुरं मधुरं बपुरस्य विभो—

मधुर मधुरं मधुरं मधुरम् ।”

मधुर-रस का स्वरूप और उसकी व्यापकता

मधुर-रस के सम्बन्ध में उपनिषदों में यत्र-तत्र सकेत रूप में उल्लेख मिलता है। पुराणों में श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में इसका बड़ा ही भव्य एवं दिव्य वर्णन है और यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि श्रीमद्-भागवत, पञ्चपुराण और ब्रह्मवैवर्त ही मधुर-रस के आकर ग्रंथों में मुख्य एवं शिरोमणि हैं। बृहद् गौतमीय तन्त्र, ब्रह्म-संहिता, समोहन तन्त्र आदि ग्रंथों में भी इस तत्त्व की विशद् व्याख्या है। कतिपय अन्य संहिताओं में भी मधुर-रस की विवृति है; परन्तु भक्ति का जैसा साङ्गोपाङ्ग सामिक, वैज्ञानिक, सूक्ष्माति सूक्ष्म विवेचन गौडीय वैष्णव संप्रदाय में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गौडीय वैष्णवों ने इसका पुष्पानुपुष्प विचार किया है। अस्तु, यहाँ श्रीरूपगोस्वामीके 'हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' के आधार पर मधुर-रस के सात्त्विक स्वरूप एवं रहस्य का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन—यह जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन है। इसमें गूढ तत्त्व यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपर्यय-धर्म को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् आदर्श जहाँ सर्वोत्तम होता है, प्रतिफलन सर्वाधम, आदर्श जहाँ अत्यन्त निम्न कोटि का होता है, प्रतिफलन अत्यन्त उच्चकोटि का। दर्पण में जैसे प्रतिविम्ब उल्टा पड़ता है, वही दशा यहाँ भी है। चिज्जगत् का परम दिव्य अपूर्व रस जड़ जगत् में विपर्यय होकर स्थूल रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः परम तत्त्व रसरूप है। उसकी अद्भुत विविधता है। इस जगत् में उसकी जो परछाई है, उसी का अवलम्बन करके आगे बढ़ा जाय तो उस अतीन्द्रिय रस का अनुभव हो सकता है^१।

चिज्जगत् के रस और जड़ जगत् के व्यापार—चिज्जगत् के अत्यन्त निम्नभाग में है शान्तरस, उसके ऊपर दास्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर वात्सल्य-रस और सबसे ऊपर है मधुर-रस । इस जड़ जगत् में विपर्यस्त प्रतिफलन के द्वारा मधुर रस सबसे नीचे है । उसके ऊपर है वात्सल्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर दास्य-रस और सबसे ऊपर शान्त रस । दिव्य मधुर-रस की जो स्थिति और क्रिया है, वह इस जड़ जगत् में नितात तुच्छ और लज्जास्पद है । चिज्जगत् में पुरुष और प्रकृति का सम्मेलन अत्यन्त पवित्र एव तत्त्वमूलक है । चिज्जगत् में एकमात्र भगवान ही भोक्ता है । शेष समस्त चित्सत्त्वगण प्रकृति रूप में उनके भोग्य हैं । इस जड़ जगत् में कोई जीव भोक्ता है और कोई भोग्या—इस प्रकार मूलतत्त्व के विरोध में यह सारा व्यापार लज्जाजनक एव धृणास्पद हो जाता है । तत्त्वतः जीव जीव का भोक्ता हो नहीं सकता । समस्त जीव भोग्य हैं, एकमात्र भगवान ही भोक्ता है । कहाँ जीव जीव का उपभोग और कहाँ भगवान और जीव का उपभोग ! परन्तु इस हेय के भीतर से भी एक अत्यन्त उपादेय तत्त्व उपलब्ध हो जाता है । कैसे, इसका विवेचन आगे करेंगे ।

मधुर-रस का आश्रय और विषय—भगवान ही मधुर-रस के विषय हैं और उनकी वल्लभाएँ इस रस का आश्रय हैं । दोनों मिलकर रस के आलम्बन हैं । मधुर-रस के विषय भगवान हैं परम सुन्दर, परम मधुर, नवजलधर वर्ण, सर्व सल्लक्षणयुक्त, बलिष्ठ, नवयौवनशाली, प्रियभाषी, विदग्ध, कृतज्ञ, प्रेमवश्य, रमणीजन-मनोहारी नित्य-नूतन, अतुल्यकेलि, सौन्दर्यशाली, प्रियतम, वशीवादनशील श्रीकृष्ण । उनके चरणों की नखद्युति कोटि-कोटि कदरों का दर्प चूर्ण कर देती हैं और उनके कटाक्ष से सब का चित्त विमोहित हो जाता है ।

नायक-चूड़ामणि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ जो लीला-विलास है, वही है मधुर-रस की आत्मा । इसका स्थायी भाव है दोनों की प्रियता या मधुरा रति^१ जो दोनों को दोनों से सयोग की प्रेरणा देती

१—मिथो हरेभृगाक्ष्याश्च सभोगस्यादिकारणम् ।

मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः ॥

—उज्ज्वल नीलमणि

श्रीकृष्ण की द्विविध लीलाओं में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की लीला श्रेष्ठ है ।

—दे० जीवगोस्वामी का 'प्रीति संबन्ध' पृ० ७०४-७१५ ।

रहती है। युक्त विभावो-अनुभावो आदि के द्वारा जब यह रति भक्तों के हृदय में रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचती है, तब इसे भक्ति-रस-राज 'मधुर-रस' कहते हैं।^१ कृष्ण का कान्तत्वेन स्फुरण ही मुख्यतः इस रस का आधार है, पर कान्त को दोनों ही भाव में लिया जा सकता है—पतिरूप में, उपपति रूप में। शृङ्गार रस का तो उपपति रूप में ही परमोत्कर्ष माना जाता है। शृङ्गार का चिद्व्यापार एक रहस्यमणि की माला की तरह है तो उसमें परकीय मधुर रस को उस मणिमाला में कौस्तुभ विशेष मानना चाहिये। जैसे शान्त से दास्य में, दास्य से सख्य में, सख्य से वात्सल्य में और वात्सल्य से मधुर में इसका अधिकाधिक उत्कर्ष होता चला जाता है, उसी प्रकार स्वकीय की अपेक्षा परकीय में रस अपने चरमोत्कर्ष पर आ जाता है।^२

परकीया भाव की रसात्मक उत्कृष्टता—श्रीकृष्ण का अवतार ही रसास्वादन के लिए हुआ।^३ परकीया या तो कन्यका हो सकती है या प्रौढ।

१—स्वाद्यंता हृदि भक्तानां आनीता ।

—उ० नी० म० ।

२—अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः ।

—उ० नी० म० ।

परकीया भाव के सम्बन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते कि 'यन्तः गोकुले स्वीयापि चित्रादि शङ्कया परकीया इव।' जीव गोस्वामी ने अपने 'प्रीति-संदर्भ', (पृ० ६७६-६८६) में विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डाला है। वे कहते कि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ बिहार 'प्राकृत काम' नहीं है प्रत्युत शुद्ध प्रेम है और प्रकट लीला में ही स्वकीय-परकीय का प्रश्न उठता है। 'वस्तुतः परम स्वीयापि प्रकटलीलाया परकीयामानाः श्री ब्रजदेव्यः।'।

३—न कृष्णे रसनिर्यासस्वादायं अवतारिणि ।

—उ० नी० म०

'श्रीकृष्ण-संदर्भ' में जीव गोस्वामी ने ब्रजलीला की रहस्यमय परम दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि मथुरा और द्वारका की गोपियाँ श्रीकृष्ण की 'स्वरूपा शक्ति' हैं। गोपियों का परकीया भाव वस्तुतः है नहीं, वह प्रकट बुन्दावन-लीला में आभास मात्र है। इतना ही नहीं, उनका कहना है कि ब्रज-सुन्दरियों का कभी अपने पतियों के साथ संगम हुआ ही नहीं 'न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः'।

—उज्ज्वल नीलमणि

लोकदृष्ट्या यह भाव गहि़त हो सकता है, पर यह परकीया-भाव ही वैष्णवों का परमादर्श हुआ और इसी का आधार लेकर आत्माएँ अपने आप को सर्वभावेन श्रीकृष्ण को समर्पित करती रही हैं।^१ श्रीकृष्ण के इसी भाव को लेकर वैष्णव शास्त्रों ने द्वारका में उन्हें पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर तथा ब्रज में पूर्णतम माना है। नायक-नायिका परस्पर अत्यन्त 'पर' होकर जब राग की तीव्रता द्वारा मिलते हैं, तब एक अद्भुत आनन्द-रस का संचार होता है; यही है परकीय रस। गोपियों और श्रीकृष्ण का प्रेम अपनी सघनता, प्रच्छन्न कामना तथा विवाह के अव्यवतत्व के कारण ही परकीया भाव की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ।

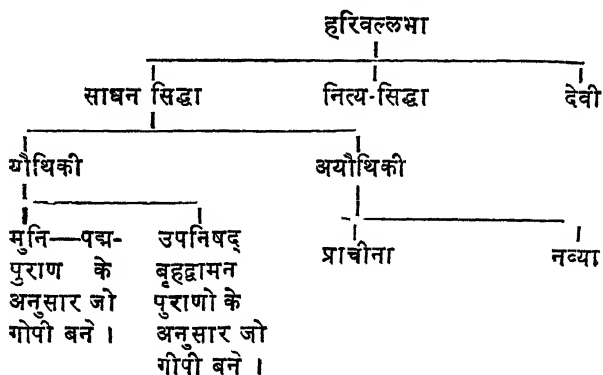
नित्य गोलोक और नित्य चिन्मयी लीला—यह लक्ष्य करने की बात है कि श्रीकृष्ण की चिन्मयी लीला नित्य है। उस नित्य गोलोक की नित्य चिन्मयी लीला में कृष्ण-कृपा से दिव्य देह से प्रवेश का विषय आगे यथास्थान आयगा। यहाँ इतना ही निवेदन करना अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण त्रिपाद-विभूति चिज्जगत् है और जड जगत् में एक-पाद-विभूति है। एक पाद-विभूति चतुर्दश लोकात्मक मायिक विश्व है। मायिक विश्व एवं चिज्जगत् के बीच 'विरजा' नदी है और विरजा के पार है चिज्जगत्। ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम इस चिज्जगत् को वेष्टन प्राकार की तरह घेरे हुए है। उसे भेद करने पर परव्योम सव्योम रूप वैकुण्ठ दीखता है। वैकुण्ठ प्रबल है। यहाँ के राजराजेश्वर है अनन्त-चिद्विभूतिपरिसेवित नारायण। वैकुण्ठ है भगवान् का स्वकीय रस। श्री, भू आदि शक्तिगण स्वकीय स्त्री रूप में उनकी सेवा उस लोक में करती रहती हैं। वैकुण्ठ के ऊपर है गोलोक। वैकुण्ठ में स्वकीया पुरवनितागण यथास्थान सेवा में तत्पर रहती हैं और गोलोक में ब्रज-वनितागण निज रस में कृष्ण-सेवा करती रहती हैं।

1—Even if orthodox Poetics deprecates love to a married woman, she is according to Vaisnava's idea, the highest type of heroine and forms the central theme of the later Parakiya doctrine of the school in which the love of the mistress for her lover becomes the universally accepted symbol of the soul's passionate devotion to God

S. K. De : Vaisnava Faiths & Movements, P. 54

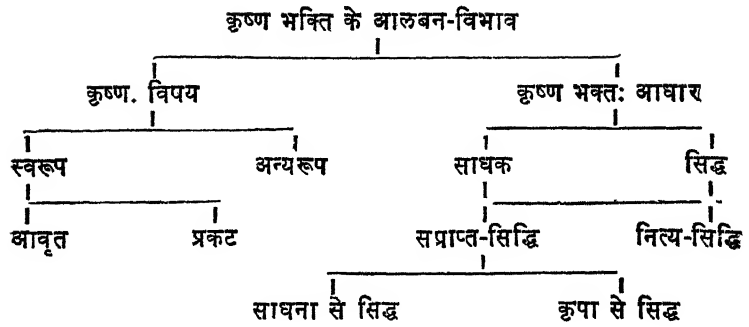
ब्रजसुन्दरियों के प्रकार भेद—इन ब्रजवनिताओं के कई भेद हैं और इनका प्रकार भेद काव्यशास्त्र के अनुसार किया गया है—स्वकीया, और परकीया । इनमें से प्रत्येक के तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा । इनमें 'मान' के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के भेद हैं—धीरा, अधीरा, धीराधीरा । नायक के साथ इनके सम्बन्ध के आधार पर पुनः इनके आठ भेद हैं—१ अभि-सारिका, २ वासकसज्जा ३ उत्कठिता ४ खडिता ५ विप्रलब्धा ६ कलहान्तरिता, ७ प्रोषितभर्तृका और ८ स्वाधीनभर्तृका । नायक के प्रति प्रेम के आधार पर पुनः उत्तमा, मध्यमा, और कनिष्ठा—ये तीन भेद हैं ।

सखी-भेद—यह तो हुआ सामान्य शास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन; परन्तु भक्तिशास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन सर्वथैव नूतन है और भक्तिरसराज मधुर-रस में वही गृहीत है—



नित्यसिद्धाओं में श्री राधा वृन्दावनेश्वरी, श्री कृष्ण की नित्य सहचरी, परम प्रियतमा ह्लादिनी महाशक्ति हैं । राधा की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं—सखी, नित्यसखी, प्राण सखी, प्रिय सखी और परम प्रेष्ठ सखी ।

ब्रज रस—यह एक बात ध्यान में रहे कि कोटि-कोटि मुक्त पुरुषों में एक भगवद्भक्त दुर्लभ है । जो लोग अष्टाङ्ग योग या ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्ति पा जाते हैं, वे ब्रह्मधाम में ही आत्मानुभूति का आनन्द लेते रहते हैं । जो भगवान् के ऐश्वर्यपरायण भक्त हैं, वे लोग भी गोलोक में नहीं जाते । वे बैकुण्ठ में अपने भावानुसार भगवान् की ऐश्वर्य-मूर्ति की सेवा करते रहते हैं । जो लोग ब्रजरस से भगवान् का भजन करते हैं, वे ही गोलोक देख पाते हैं । गोलोक में शुद्ध चित् प्रतीति है । गोलोक स्वप्रकाश वस्तु है । भक्तों के हृदय में गोलोक प्रकाशित होता है ।



नायक भेद—नायक के चार भेद— १-अनुकूल, २-दक्षिण, ३-शठ और ४-घृष्ट । इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत ।

सहायक भेद—नायक के सहायको के पाँच भेद हैं—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्दक और प्रियनर्मसखा । दूती के दो प्रकार—स्वय और आप्त । विभिन्न चेष्टाओं और सकेतो से, जैसे झू-विलास, अधर-दशन आदि द्वारा जो नायक को नायिका की ओर आकृष्ट करती हैं, वही स्वय दूती हैं । आप्त दूती वह है, जो नायक का पत्र आदि ले जाती है । उनके तीन-तीन भेद हैं—अमितार्थी, विसृष्टार्थी और पत्र-हारिका । इनमें शिल्पकारी, दैवज्ञा, लिंगिनी, परिचारिका, घात्रेयी, सखी, बनदेवी आदि कई भेद हैं । सकेत वाच्य भी हो सकता है, व्यङ्ग्य भी; साक्षात् भी हो सकता है अथवा व्यपदेशेन भी ।

परकीया में रस की उत्कृष्टता क्यों ?—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में पति भाव से और ब्रजपुरी में उपपति भाव से लीला करते हैं । सकल ब्रजवासिनी ललनाएँ ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परकीया हैं । कारण कि परकीया के अतिरिक्त मधुर रस का अत्यन्त उत्कृष्ट विकास हो नहीं सकता । थोड़ा इसे विस्तार से समझना आवश्यक प्रतीत होता है । स्त्रियों में जो वामता, दुर्लभता, निबन्धन, निवारणादि प्रतिबंधकता है वही है कदर्प का परम आयुध । जहाँ निषेध विशेष है और ललना दुर्लभ है, वही नागर का हृदय अतिशय आसक्त होता है । नन्दनन्दन श्रीकृष्ण गोप हैं । वे गोपी के सिवा किसी से रमण करते नहीं । गोपीगण जिस भाव से श्रीकृष्ण का भजन सेवन करती थी, शृङ्गार रसाधिकारी साधक भी उसी

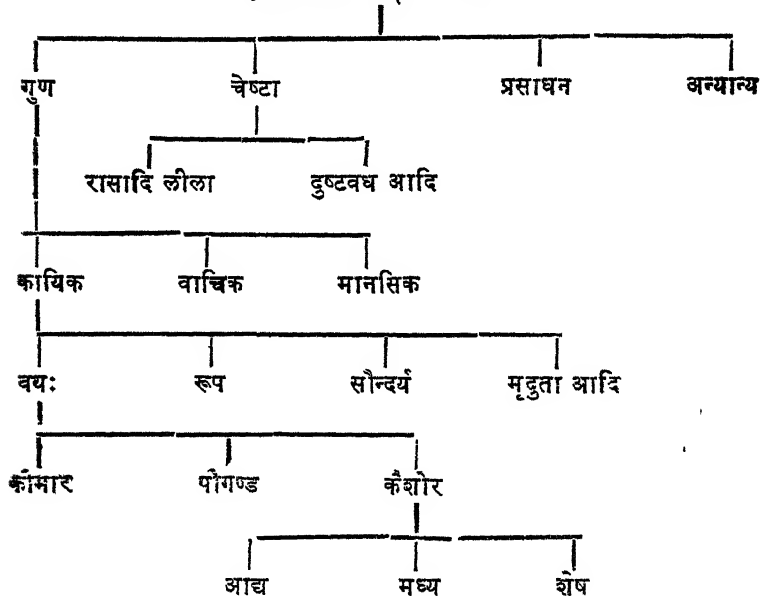
भाव से कृष्ण का भजन करते हैं। भावनामार्ग से अपने को ब्रजवासी मानकर किसी सौभाग्यवती ब्रजवासिनी की परिचारिका भाव से उसके निर्देश पर राधा-कृष्ण की सेवा करनेका विधान है। अपने को परोढा जाने बिना रसोदय होगा नहीं। यह परोढाभिमान ही ब्रजगोपीत्व धर्म है। श्री रूपगोस्वामी लिखते हैं—

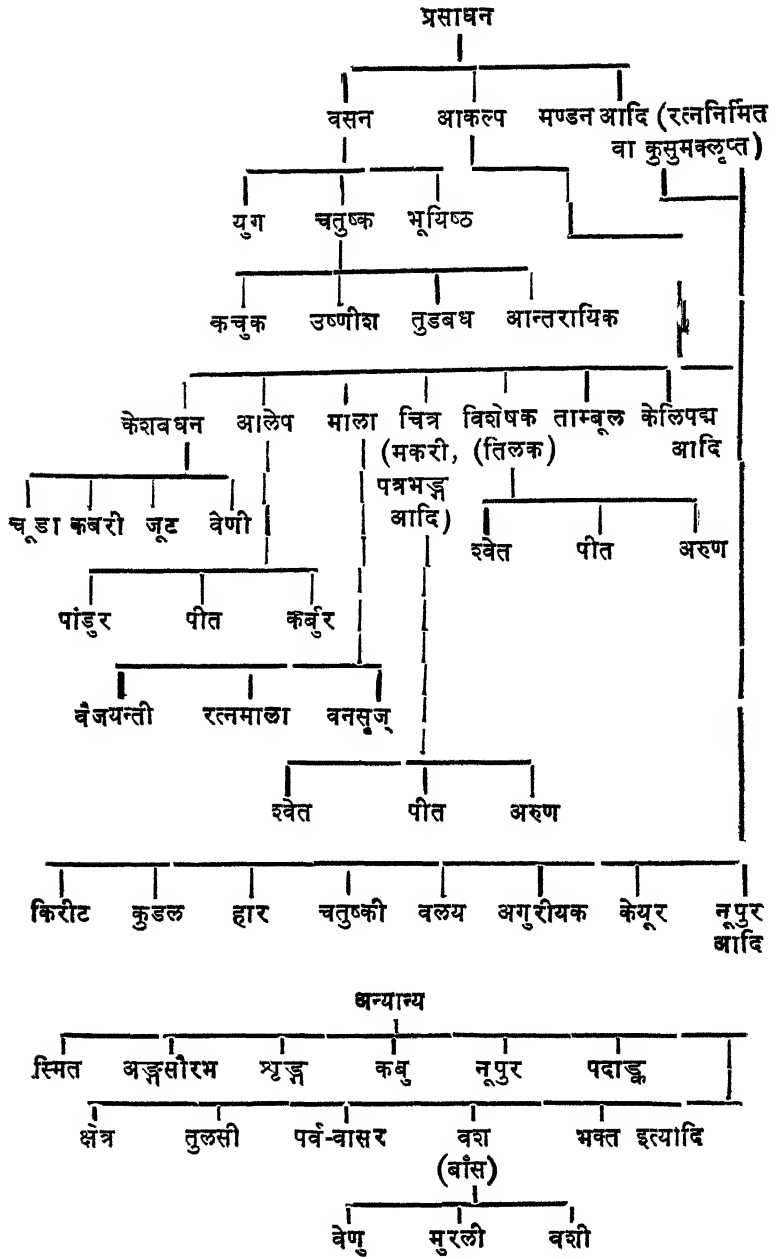
मायाकल्पित तादृक् स्त्री शीलनेनानसूयुभिः ।

न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः ।

ब्रजवासी भाव—परन्तु यह प्रश्न उठता है कि पुरुष साधक अपने को 'परोढा' किस प्रकार माने ? पुरुष इस 'परोढाभिमान' को कैसे सिद्ध कर सकेगा ? उत्तर यह है कि पुरुष मायिक स्वभाववशतः ही ससार में अपने को पुरुष समझता है। शुद्ध चित्स्वभाव में कृष्ण के अतिरिक्त यावत् जीवमात्र स्त्री है। चिदगठन में वस्तुतः स्त्री-पुरुष चित्त है नहीं, इसलिए कोई भी ब्रजवासिनी होने का अधिकार लाभ कर सकता है। जिन्हे मधुर-रस की स्पृहा है, उन्हें तो ब्रजवासिनी होना ही पड़ेगा। स्पृहा के अनुरूप साधना करते-करते सिद्धि का उदय होता है।

कृष्ण-रति के उद्दीपन-विभाव





मुख्य भक्तिरस के रंग आदि

मुख्य भक्ति रस

रस—	शान्त	प्रीति	प्रेयस्	वात्सल्य	मधुर
भाव—	शान्त	विश्वस्त	मित्रता	स्नेह	प्रियता
रग—	श्वेत	चित्र	अरुण	शोण	श्याम
देवता—	कपिल	माधव	उपेन्द्र	नृसिंह	कृष्ण

गौण भक्ति-रस

रस—	हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रौद्र	भयानक	वीभत्स
रग—	पाङ्कुर	पिङ्गल	गौर	धूम्र	रक्त	काला	नील
देवता—	बलराम	कूर्म	कल्कि	राघव	भार्गव	वाराह	मत्स्य

अथवा बुद्ध

रति के अनुभाव—कृष्ण रति के अनुभाव—नृत्य, बिलुठित, भीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुकार, जूभन, श्वासभूयन, लौकानपेक्षिता, लालास्रव, अट्टहास, धूर्णा, हिक्का ।

अष्ट सात्विक भाव—स्तभ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग, वेपथु, वैवर्ण्य, अत्रु, प्रलय ।

स्थायी भाव—काव्य शास्त्र के अनुसार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद, परन्तु भक्ति शास्त्र के अनुसार श्रृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ।

व्यभिचारी भाव ३३—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, झोडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति बोध ।

उद्दीपन विभाव की विशेषता—ऊपर हम उद्दीपन-विभाव का विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं । उद्दीपन में तटस्थ वस्तुओं में वसन्तागमन, कोकिल-कूजन, मेघमाला का घिर आना, चन्द्रदर्शन आदि मुख्य हैं । कायिक सौन्दर्य में रूप, लावण्य, मार्दव आदि मुख्य हैं । यौवन की तीन अवस्थाएँ हैं—नव्य, व्यक्त और पूर्ण । श्रीकृष्ण का नाम, चरित, लीला, उदाहरणार्थ

वंशीवादन, गोदोहन, गोवर्धन धारण आदि विशेष रूप से उद्दीपन विभाक में आते हैं। वृन्दावन, इसकी वृक्ष, नदियाँ, कुँजें, गुल्मलता, पुष्प, पक्षी, पशु आदि भी प्रेम को उद्दीप्त करते हैं।

अनुभावों की विशेषता—अनुभावो का विवरण भी ऊपर की तालिका में आ गया है। उसमें बाईस अलंकार, सात उद्भास्वर और तीन अङ्गज हैं। अङ्गज अनुभावो में भाव, हाव, हेला और स्वभावज में लीला, विलास, विच्छित्ति, मोट्टायित आदि मुख्य हैं। 'लीला' का अर्थ है प्रियतम के चरित्र का क्रीडामय अनुकरण, 'विलास' का अर्थ है क्रीडा के सकेत, 'विच्छित्ति' का अर्थ है अलंकरण और 'मोट्टायित' का अर्थ है इच्छा का स्पष्ट उल्लेख। ये सब तो काव्य-शास्त्र की परंपरा में भी हैं पर सात उद्भास्वर सर्वथा नए हैं—वे हैं नीवीविससन, उत्तरीय-स्खलन, जूभा—जँभाई लेना, केश ससन इत्यादि। ये वस्तुतः विलास और मोट्टायित के अन्तर्गत आ जाते हैं। द्वादश वाचिक अनुभावो में हैं आलाप, विलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सदेश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश और व्यपदेश।

अष्टसात्विक भाव तो काव्य-शास्त्र की तरह ज्यो-के-त्यों यहाँ भी है; परन्तु उनकी चार अवस्थाएँ हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त।

मधुरा रति के भेद (नायिका की दृष्टि से)—नायिका की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद हैं—(१) साधारणी, आत्मतर्पणकतात्पर्या—जिसमें अपनी ही तृप्ति मुख्य है—जैसे कुब्जा। यह प्रेमावस्था तक जाती है। (२) समजसा—उभयनिष्ठारति—जिसमें अपना सुख और कृष्ण का सुख समान रूप से अपेक्षित है—जैसे रुक्मिणी। यह अनुराग अवस्था तक जाती है। (३) समर्था केवल कृष्णार्थ—जैसे गोपियाँ। यह महाभाव अवस्था तक जाती है।

मधुरा रति के भेद (भावो के अनुसार)—(१) प्रेम—प्रेम का अर्थ है भावबधन। यही है रति का अमर बीज और उत्कृष्टता की दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—प्रीति, मध्य और मन्द। (२) स्नेह—यह प्रेम की विकसित एवं उन्नत अवस्था है। शब्द सुनकर रूप देखकर या स्मृति में हृदय द्रवित होता है क्योंकि 'हृदय-द्रावण' इसका मुख्य लक्षण है। इसमें भी उत्कृष्टता की दृष्टि से तीन भेद हैं—श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। इस स्नेह के दो मुख्य भेद हैं—

घृत स्नेह और मधु स्नेह—(क) घृत स्नेह—अखण्ड घृतधारावत, उत्कठा—घत की तरह तरल भी, घना भी। रति का उदय।

(ख) मधु स्नेह—अखड और मधुर । रति स्थिर हो जाती है ।

(३) मान—अर्थात् प्रमातिरेक की अवस्था में उपेक्षा का अभिनय । इसके दो भेद—उदात्त (धृतस्नेहवत्) और ललित (मधुस्नेहवत्) ।

(४) प्रणय—विश्रम्भ—इसके मुख्य दो भेद (१) मंत्र और (२) सख्य । उदात्त और ललित के सम्पर्क में इन दोनों प्रकार के प्रणय के फिर दो भेद होते हैं—सुमंत्र और सुसख्य । विकास क्रम में इसकी गति होती है—

प्रणय के भेद तथा विकास क्रम— स्नेह प्रणय मान
अथवा
स्नेह मान प्रणय

राग और उसके भेद—(५) राग—शृंगार में दुःख का सुख में बदलना । इसके दो रग माने गये हैं (१) नीलिमा या (२) रक्तिमा । नीलिमा के फिर दो भेद—(१) नील राग—जिसका रग न बदले और अव्यक्त हो या श्याम राग—धीरे धीरे पूर्णता को प्राप्त होनेवाला और जरा जरा प्रकाशित । रक्तिम राग के भी दो भेद—कुसुम राग—हलके रग का—जो जल्दी दूसरे राग में घुल जाय और दूसरे रागों को अभिव्यक्त करें या मजिष्ठ राग—स्थायी और स्वतंत्र ।

(६) अनुराग—नित्य नूतन प्रेम । इसके कई स्तर हैं (१) परवशीभाव आत्मसमर्पण और (२) प्रेमवैचित्त्य-विरह की स्नेहमयी आशका (३) अप्राणि जन्म—प्यारे के स्पर्श पाने के लिए निर्जीव वस्तुओं के रूप में जन्म लेने की आकांक्षा और (४) विप्रलभ-विस्फूर्ति-विरह में प्रिय की झलक ।

७—भाव या महा भाव—(१) रूढ—जहाँ सात्विको की परम उद्दीप्त स्थिति हो गई है । सभोग या विप्रलभ दोनों ही अवस्थाओं में (क) निमिष मात्र का भी विरह असह्य हो जाता है, (ख) आसन्न जनता के हृदय को विलोडित करने की शक्ति होती है, (ग) एक क्षण कल्प की तरह और एक कल्प क्षण की भाँति हो जाता है, (घ) प्रियतम की सुख-अवस्था में भी आतिशका के कारण खिन्नता और (ङ) मोह, मूर्च्छा आदि के अभाव में भी पूर्ण आत्म विस्मरण ।

(२) अधिरूढ—उपर्युक्त रूढ भाव की विशेष उत्कर्ष-दशा । इसके दो प्रकार (क) मोदन—सात्विको का अत्यन्त उद्दीप्त सौष्ठव जो केवल राधा वर्ग में मिलता है । इसी का और विकसित रूप है (ख) मादन—सात्विको का सुद्दीप्त सौष्ठव—प्रिया के आलिंगन में होते हुए भी प्रिय का मूर्च्छित

होना^१—तथा स्वयं असह्य दुःख स्वीकार करके भी प्रिय के सुख की कामना^२—तथा सारे ससार को दुखी कर डालने की प्रवृत्ति^३, पशुलोक का रोदन^४—मृत्यु का वरण करके भी प्रियतम के साथ अङ्ग-सङ्ग की अभिलाषा^५ और अन्त में है दिव्योन्माद । दिव्योन्माद की अवस्था में नाना प्रकार की अवश क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ हो सकती हैं जिसे 'उद्धूर्ण' कहते हैं । प्रियतम के किसी मित्र से मिलने पर नाना प्रकार की बातचीत हो सकती है, जिसे 'चित्रजल्प' कहते हैं । इस चित्र जल्प की दश अवस्थाएँ होती हैं—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, सजल्प, अवजल्प अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प और सुजल्प ।

मादन—'मादन' का अर्थ है समस्त भावों का अकुरित हो जाना । यह केवल राधा में मिलता है । इसका लक्षण है मान के कारण न होने पर भी मान करना और प्रियतम के साथ सभोग की अवस्था में भी विरहाशका या नायक के सम्बन्ध की विविध बातों का चिन्तन-स्मरण ।

मधुरा रति का स्थायी भाव ही मधुर रस या शृंगार रस हो जाता है । इसके दो भेद हैं—सभोग और विप्रलम्भ । विप्रलम्भ के अनेक आवान्तर भेद हैं^६ ।

१ कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना ।

२ असह्य दुःखस्वीकरादयितत्सुखकामिता ।

३ ब्रह्मांडक्षोभकारित्व ।

४ तिरश्चामपि रोदनम् ।

५ मृत्युस्वीकारात् स्वभूतैरपि तत्संगतृष्णा ।

इस संभत्क्षण का रूप—

‘पंचत्वं तनुरेतु भूत निबह्य

स्वांशे विशेतुस्फुटम् ।

धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा

तत्रापि याचे वरम् ॥

तद्वापोषु पयस् तदीय मुकुरे

ज्योतिस्तदीयांगने ।

व्योम्नि व्योम तदीय वर्त्मनि धरा

तत्तालवन्तेऽनिलाः ।’

६ ‘रसान्व सुधाकर’ में विप्रलम्भ के चार प्रकार हैं

पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा ।

१—पूर्वराग—प्रसुप्त प्रेम, मिलन के पूर्व का प्रेम । प्रियतम के प्रथम दर्शन, श्रवण, स्वप्न दर्शन, चित्रदर्शन से उद्भूत प्रणय-विपासा । यह 'प्रौढ', 'समंजस' या 'साधारण' भेद से तीन प्रकार का होता है । प्रौढ पूर्वराग की दश दशाएँ हैं—

लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव (दुर्बलता), जडिमा (शरीर का सुन्न पड़ जाना), वैवश्य (व्यग्रता), व्याधि (पीला पड़ जाना), उल्लास, मोह (मूर्च्छा) और मृत्यु ।

समंजस पूर्वराग की दश दशाएँ—समजस पूर्वराग की दश दशाएँ हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि जड़ता और मृति ।

साधारण पूर्वराग की छः दशाएँ—साधारण पूर्व राग की छः दशाएँ हैं, जो समजस पूर्वराग की प्रथम छ के समान ज्यो की त्यो अभिलाष से आरम्भ होकर विलाप पर समाप्त हो जाती हैं ।

(२) मान^१—प्रेम की परिणति में बाधा डालने वाला क्रोधाभास । प्रेमास्पद की कोई चेष्टा या 'हरकत' देखकर, सुनकर या अनुमान कर जो मान होता है वह 'सहेतुक' है । मान का दूसरा भेद है निर्हेतुक या कारणाभास सहित । मधुर शब्द से, उपहार आदि से, आत्म प्रशमा से अथवा उपेक्षा से मान का उपशमन हो जाता है ।

(३) प्रेमवैचित्य—अर्थात् प्रेमास्पद की उपस्थिति में भी विरह की आशका ।

(४) प्रवास—प्रिय के वियोग में मानसिक क्षोभ । प्रवासजन्य क्लेश की दश दशाएँ हैं—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तानव, मलिनागता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु ।

नित्य लीला में नित्य संयोग—नित्य लीला में कृष्ण का ब्रज-देवियो से कथमपि वियोग नहीं होता क्योंकि इनका मिलन नित्य है । प्रकट लीला में ही श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियो को प्रवासजन्य क्लेश होता है । अर्थात्

१. 'मान' शब्द भी 'रस' की भाँति बड़ा ही व्यापक और गंभीर अर्थ वाला है । हर्ष, विषाद, भय, आशा, अहंकार और क्रोध, प्रेम और वितृष्णा आदि का सम्मिश्रित रूप 'मान' अपने आपमें कितना रहस्यमय शब्द है, बाहर-बाहर से उदासीन और भीतर-भीतर से प्रबल आसक्ति ! इसके व्यक्त रूप की कल्पना ही की जा सकती है, चित्रण नहीं ।

प्रकट लीला में बाहर-बाहरसे देखने भर को ही श्रीकृष्ण का मथुरा गमन होता है, वास्तव में तो सच यह है कि 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेक न गच्छति ।'

संयोग शृंगार के भेद-उपभेद—संयोग शृंगार के दो भेद हैं—(१) मुख्य और (२) गौण । मुख्य संयोग है साक्षात् प्रकट मिलन और गौण है स्वप्नादि में मिलन ।^१ इन दोनों के पुन चार भेद हैं—(१) सक्षिप्त, (२) सकीर्ण, (३) सम्पन्न और (४) समृद्धियत् । इसके अनेक प्रकार हैं—दर्शन, स्पर्श, मन्द-मन्द वार्तालाप, राह रोकना, रास, जलक्रीडा, वृन्दावन क्रीडा, यमुना जलकेलि, नौका-विहार, चौरहरण, वशी चोरी, पुष्पचौर्य, दानलीला, कुजो मे आंखमिचौनी, मधुपान, कृष्ण का स्त्रीवेश धारण, कपट निद्रा, द्यूत क्रीडा, वस्त्राकर्षण, नखार्पण, बिम्बाधर-मुष्पापान, निधुवनरमणादि सम्प्रयोग, चुम्बन, आलिंगन आदि-आदि और अन्त में है सभोग । सम्प्रयोग की अपेक्षा लीला विलास में अधिक सुख है ।

लीला के भेद—लीला के दो भेद हैं—प्रकट लीला और अप्रकट लीला । वन वृन्दावन में प्रकट लीला, मन वृन्दावन में अप्रकट लीला और नित्य वृन्दावन में नित्य लीला । परन्तु प्रकट व्रज लीला के भी दो भेद हैं—नित्य और नैमित्तिक । व्रज में जो अष्टकालीन लीला हैं वही नित्य हैं और पूतनावधादि दूरप्रवासादि नैमित्तिक लीला हैं । निशान्त, प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, प्रदोष और रात्रि भेद से अष्टकालीन लीला^२ ।

ऊपर बहुत संक्षेप में हमने गौडीय मतानुसार मधुर रस के स्वरूप की चर्चा प्रस्तुत की है । मधुर रस का द्विविध रूप है—सामान्य रूप में वह उपनिषदादि में विद्यमान है । मूल में एक अद्वय वस्तु परन्तु ध्यानन्द के लिए दो—स्त्री पुरुष अथवा प्रकृति पुरुष । ये दोनों परस्पर पूरक हैं और एक दूसरे को पाकर पूर्ण होना चाहता है । इसी प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय की एकता त्रिपुटी भग द्वारा होती है । मिलन की पूर्णता के आधार पर ही भाव का विकास होता है । पूर्ण मिलन निःसंकोच और निरावरण मिलन मधुर में ही होता है ।

१ 'रसाणं व सुधाकर' ने भी संयोग के चार उपर्युक्त भेद माने हैं । जीव गोस्वामी ने पूर्व राग के बाद सभोग के चार भेद माने हैं और उनका नाम है—संदर्शन, संस्पर्श, संजल्प, संप्रयोग ।

२. निशान्तः प्रातः पूर्वाह्नो मध्याह्नश्चापरातुकः ।

सायं प्रदोषरात्रिश्च कालाष्टौ च यथाक्रमम् ॥

मधुर रस की उपासना संसार की प्रायः सभी साधनाओं में प्रकट या गुप्त रूप में विद्यमान है। ईसाई सतो और सूफी फकीरो की अनुभूतियों में मधुर रस की ही धारा है। समस्त सगुण उपासना में मधुर भाव की स्वतः-स्फूर्ति है क्योंकि जीव अपने आप को पूर्णतः देकर अपने प्राणाराम को पूर्णतः पा लेना चाहता है। जीव-जीवन की यह एक परम सामान्य परन्तु साथ ही परम विलक्षण विशेषता है कि वह अपने प्यारे का प्रियतम बनना चाहता है, जिसे प्यार करता है उसके प्यार पर अपना एकाधिकार या इजारा चाहता है^१। सगुण साधना में यह चाह सहज रूप में बलवती एवं फलवती होती है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो अत्यन्त गुह्य अर्थात् 'एँसटरिक' साधनाएँ हैं उनमें भी किसी न किसी रूप में मधुर भाव की उपासना बनी हुई है। यहाँ हम इतना ही देखना चाहते हैं कि भारतीय गुह्य सहज साधनाओं में मधुर भाव का क्या स्वरूप है और उसकी पूर्ण निष्पत्ति का क्रम क्या है। क्योंकि बौद्ध धर्म में भी प्रज्ञापारमिता तथा आदि बुद्ध के सम्मिलन से 'महासुख' की उपलब्धि होती है। तंत्रादि में भी इस की विशेष व्याख्या है। नाथ, सिद्धो और सतो में भी इस उपासना की विशेष व्याख्या है। वैष्णव सहजिया संप्रदाय में इसका सागोपांग विवरण है। इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम से देखने पर ही मधुर रस की साधना हमारे देश की परम प्राचीन साधना है इस में सदेह नहीं किया जा सकता।

सहज साधनाओं की पृष्ठभूमि—भारतवर्ष की समस्त गुह्य धर्म-साधनाओं की पृष्ठभूमि तथा लक्ष्य एक है। वासना के विवर्जन या तिरस्करण के स्थान पर वासना के शोधन एवं उन्नयन द्वारा मानव मन के अन्दर सोये हुए दिव्य आनन्द को उद्बुद्ध एवं उल्लसित करना ही इसका लक्ष्य है। इसके लिए शरीर की दृढता, मन की निर्मलता, बुद्धि की तीक्ष्णता

1 One longs for another for perfection

M. M. G. N. Kavira;

इसी को प्रो० रायस (Royce) 'Man's homing instinct' कहते हैं।

'इश्क अल्लाह महजब अल्लाह'

'The lover of God is the beloved of God

—अलबस्तामी

He who chooses the Divine has been chosen by the Divine.

—Sri Aurobindo.

एव आत्मा की विजयोत्कण्ठा अनिवार्यतः आवश्यक है। समस्त सहज साधनाओं में वाणी, मन, स्वास, वीर्य और प्राण पर सहज रूप से नियन्त्रण स्थापित कर इनका उर्ध्व दिशा में उन्नयन आवश्यक माना गया है। लक्ष्य इनका है समरस की स्थिति में प्रवेश करना। यह स्थिति योग से प्राप्त हो या प्रेम से प्राप्त हो—साधन भेद या प्रस्थान भेद जो भी हो, लक्ष्य में कोई भेद नहीं है।

समरस की अवस्था—समरस की अवस्था दिव्य आनन्द की वह अवस्था है जिसमें दो का एकीकरण होता है। 'सहजिया' यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन पर्यन्त सघर्ष झेलकर भी काम को सर्वथा निर्मूल या उच्छिन्न नहीं कर सकता। अतएव इसका उन्नयन कर इसे ही दिव्य प्रेम और दिव्य आनन्द अर्थात् महासुख और महानुभव का निर्मल एव अमोघ साधन बनाया जा सकता है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य राग द्वारा ही बँधता, और राग द्वारा ही मुक्त होता है—'रागेन बध्यते जीवो रागेनैव प्रमुच्यते।'।

समस्त गुह्य साधनाओं की एक सामान्य मान्यता यह भी है कि एक से दो हुआ और दो से अनेक। इसीलिए एक वचन, द्विवचन तब बहुवचन। 'स एकाकी ना रमत एकोऽहं बहु स्या प्रजायेम' का भाव यही है। एक से ही यह अनेक है परन्तु इस अनेक के प्राण में पुन उसी 'एक' में लौट जाने की प्रबल वासना है जिसमें से वह निकला है। इसीलिए इन आन्तर गुह्य साधनाओं का चरम और परम लक्ष्य है द्वैत का सर्वथा निरसन और अद्वैत स्थिति की उपलब्धि। इस अद्वैत स्थिति में दो का एकीकरण हो जाता है अथवा एक ही में दोनों समाविष्ट होते हैं जिसे उनकी भाषा में अद्वय, मिथुन, युगनद्ध, यामल, युगल, समरस, सहज आदि नामों से अभिहित किया गया है। हिन्दू तन्त्रों ने परास्पर तत्त्व के द्विधात्मक रूप को शिव और शक्ति अथवा पुरुष और प्रकृति के रूप में स्वीकार किया है। और इन अतरंग गुह्य साधनाओं ने ब्रह्मांड और पिंड की एकता को स्वीकार करते हुए यह माना है कि मूल तत्त्व में, जो कुछ भी ब्रह्मांड में है वह पिण्ड में भी है। शिव का निवास सहस्रदल कमल (सहस्रार) में है और शक्ति का मूलाधार में। शक्ति मूलाधार में सर्प की तरह गेडुर मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इसे जगाकर, मूलाधार से उठाकर सहस्रार में शिव के साथ इसका सम्मिलन कराया जाता है। शिव शक्ति का यह सम्मिलन ही आनन्द का आदि विलास है।

इस सदर्भ में यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि प्रत्येक पुरुष शरीर के वाम भाग में नारी और दक्षिण भाग में पुरुष तत्त्व विद्यमान रहता है। इसी से सदा-शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप में वामार्द्ध में उमा और दक्षिणार्द्ध में महेश्वर है। इसी प्रकार वैष्णव सहजिया में रसिक साधक वामार्द्ध में राधा दक्षिणार्द्ध में कृष्ण, बाई आँख में राधा और दाहिनी आँख में कृष्ण है—ऐसा मानते हैं।^१ अस्तु प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक नारी में पुरुष तत्त्व और नारी तत्त्व विद्यमान है—पुरुष में पुरुषत्व की प्रधानता है नारी में नारी तत्त्व की, परन्तु है दोनों में दोनों ही। ठीक जैसे वाम और दक्षिण का अर्थ है नारी और पुरुष, वैसे ही वाम का अर्थ है इडा और दक्षिण का पिंगला, वाम का अर्थ है प्राण और दक्षिण का अर्थ है अपान। साधना के द्वारा इन्हें 'सम' करके प्राण-प्रवाह को सुषुम्ना में प्रवाहित किया जाता है। यही सुषुम्ना-साधना है।

इस दृश्य जगत में पुरुष और नारी का जो भेद हम देखते हैं वह भेद परात्पर तत्त्व में भी ज्यों का त्यों विद्यमान है—शिव शक्ति रूप में। शिव शक्ति का सामरस्य ही परात्पर सत्य है। प्रत्येक पुरुष और नारी शरीर में शिव और शक्ति विद्यमान है अस्तु परम सत्य के साक्षात्कार के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि प्रत्येक पुरुष अपने को शिव रूप में और प्रत्येक स्त्री अपने को शक्ति रूप में अनुभव करे और तब परस्पर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सम्मिलन द्वारा परम आनन्द की उपलब्धि करे। समस्त अन्तरंग गुह्य साधनाओं की यही चरम परिणति है। समस्त गुह्य साधनाओं के अन्दर यही है परम रहस्य जिसका साधन साधक और साधिका करते हैं।

बौद्धों का 'सहज'—बौद्ध सहजिया साधना में, परात्पर तत्त्व 'सहज' है—वह आत्म-अनात्म निरपेक्ष है। शून्यता और कर्हणा—दूसरे शब्दों में 'प्रज्ञा' और 'उपाय' उस सहज के प्रधान लक्षण हैं। यह 'प्रज्ञा' और 'उपाय' और कुछ नहीं है बल्कि हिन्दू तंत्रों के शिव और शक्ति है। प्रज्ञा (नारी तत्त्व) और 'उपाय' (पुरुष तत्त्व) का सम्मिलन ही बौद्ध सहजिया साधना का लक्ष्य है। प्रज्ञा और उपाय का एक और भी अर्थ है और वह है प्रज्ञा = इडा, उपाय = पिंगला। इन दोनों को सम करने पर प्राण-प्रवाह सुषुम्ना से होकर ऊपर की ओर उठता है। इस प्रकार प्रज्ञा और उपाय

१—वामे राधा दाहिने कृष्ण देखे रसिक जन।

दुई नेत्रे विराजमान राधा कुंड श्याम कुंड दुई नेत्रे हय।

सजल नयन द्वारे भाव प्रेमे आत्वादय।

के सम्मिलन से योगी अन्तःसम्मिलन की साधना में प्रवेश पाता है। 'उपाय' ही है ब्रह्मसत्त्व जिसका सहस्रार में निवास है और 'प्रज्ञा' है शक्ति जो मूलाधार में रहती है। अन्तर्मिलन का अर्थ है नामिदेश से शक्ति को उद्बुद्ध कर सहस्रार में शिव के साथ युगनद्ध करना।

वैष्णव सहजिया में राधाकृष्ण तत्त्व—वैष्णव सहजिया साधना में चिर भोक्ता और चिर भोग्या के रूप में क्रमशः कृष्ण और राधा की उपासना चलती है और इस साधना विशेष में यह मानकर चलना होता है कि प्रत्येक पुरुष कृष्ण और प्रत्येक स्त्री राधा है। 'आरोप' के द्वारा जब पुरुष अपने को कृष्ण और स्त्री अपने को राधा के रूप में अनुभव करने लगती है तब पुरुष और स्त्री का सम्मिलन तत्त्वतः पुरुष-स्त्री का सम्मिलन न होकर कृष्ण और राधा का सम्मिलन हो जाता है। बौद्ध सहजिया में योग साधना की मुख्यता है पर वैष्णव सहजिया में प्रेमसाधना या रस-साधना की।

नाथ पंथ की उपासना सूर्य चंद्रतत्त्व—नाथपंथ में युगलोपासना एक और ही रूप में व्यक्त हुई। यहाँ सूर्य और चन्द्र प्रतीक रूप में लिये गये सूर्य कालाग्नि रूप में और चन्द्र अमृतत्व रूप में। नाथ सिद्धों का लक्ष्य रहा है दिव्य शरीर में अमृतत्व की उपलब्धि। हठयोग की नाना क्रियाओं, बंध, मुद्रा आदि द्वारा तथा रसायन द्वारा कायाशोधन और कायासिद्धि की प्रणाली सिद्धों में विशेष रूप में पाई जाती है। नाथ सिद्धों के काय-सिद्धि और रस सिद्धि की यह साधना रसायन संप्रदाय से बहुत मिलती जुलती है, भेद इतना ही है कि रसायनज्ञों में रससिद्धि की ही प्रधानता रही जहाँ नाथ पंथ में योगिक क्रियाओं की। साथ ही वैष्णव सहजियों की भाँति नाथ पंथियों ने भी अंतरंग साधना के लिए प्रेम को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की। सहज उपासना में बौद्ध सहजियों का लक्ष्य 'महासुख' और वैष्णव सहजियों का लक्ष्य 'परम प्रेम' रहा पर दोनों ही प्रकार के लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह अनिवार्यतः स्वीकार किया गया कि सबल और निर्मल शरीर के बिना यह साधना हो नहीं सकती इसीलिए सभी प्रकार की अन्तरंग साधनाओं में किसी न किसी रूप में योग की प्रधानता बनी रही।

भागवत धर्म में श्रीकृष्ण

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित इस पंच महाभूतात्मक स्थूल मानव शरीर में कोई ऐसी सूक्ष्म वस्तु है जो हमारे जीवन को विश्व के चिरन्तन जीवन-प्रवाह में मिलाने के लिए व्याकुल रहती है; विश्व के सार्वभौम जावन में मिले बिना वह स्वतः अपूर्ण अथवा अर्थहीन है। जब तक हमारा स्वर विश्व-संगीत में लीन नहीं हो जाता तब तक हमारे स्वर में कोई लय नहीं, कोई ताल नहीं, कोई सकेत नहीं, कोई अर्थ नहीं। व्यष्टि के समष्टि में मिलने की परम उत्कण्ठा को भिन्न-भिन्न धर्मों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। 'एक' में अनेक और अनेक में एक के सामरस्य को ही सभी धर्म सम्पादित करते हैं, कम से कम करना चाहते तो हैं अवश्य। सभी धर्मों ने स्वीकार किया है कि मनुष्य, या सभी चेतन पदार्थ में, अचेतन जड़ तक में भी, ब्रह्म की परम ज्योति बिखरी पड़ी है और इस अनित्य नश्वर जगत् में वही 'एक' अनन्त एव शाश्वत है। धर्म तथा जीवन की तह में प्रवेश कर हमारे ऋषियों ने यह अनुभव किया है कि समस्त अनित्यता की तरंग तथा बुद्बुद् के नीचे नित्य, अकल, अनीह, निरजन ज्योति का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। यह निखिल ब्रह्माण्ड उस 'एक' का न परिणाम है और न विवृति ही! यह उसकी लीला है, 'लीला एव प्रयोजनमस्ति'।

ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुस्या' की अमूर्त वासना से निखिल ब्रह्माण्ड का विराट् अभिनय प्रारम्भ हुआ। क्योंकि वह 'एकाकी' आनन्द का उपभोग कर नहीं पाता था। आनन्द की उपलब्धि तो दो से ही होती है। उसी 'एक' से ही अनेक की सृष्टि हुई इसीलिये मूल रूप से अनेक के हृदय में उस 'एक' के लिये ही भूख-प्यास है! और उस 'एक' में लय हुए बिना अनेक को शान्ति

नहीं, आनन्द की उपलब्धि नहीं। हाँ, 'वह' एकाकी ऊब रहा था, 'स एकाकी न रमते' इसलिये 'बहुस्या'—बहुत हो जावे ऐसी वासना उसके हृदय में उगी और फिर क्या था, विश्व का रगमच नाच उठा। 'वह' स्वयं उसी में व्याप्त हो रहा है, भीतर भी, बाहर भी। सूत्र में जिस प्रकार मणियों का हार पिरोया होता है उसी प्रकार 'वह' अखिल चराचर में होता हुआ, उसे बेधता हुआ, ओतप्रोत करता हुआ चला गया है। सभी कुछ उसी में तल्लीन है, ओतप्रोत है; दूध में घी अथवा मधु में मिठास की भाँति। बीज में सारा वृक्ष मूल-रूप में, सार-भूत होकर सन्निहित है। 'वह' हममें बुला-मिला, ओतप्रोत है, फिर भी हमारा उसका साक्षात्कार नहीं होता। 'पिउ हिरदय महुँ भेट न होई, को रे मिलाव कहौ केहि रोई'—ही हमारी सारी उत्सुकता, अभिलाषा तथा जिज्ञासा का मूल प्रेरक है। हम सतत् उसके स्पर्श में आने, उसमें लय होने के लिए व्याकुल हैं। हम अरुण/शुक-बसना उषा की मधुर रू-श्री देखते हैं, हमारा हृदय आनन्द से नाच उठता है, विभोर हो जाता है। मधुमास में मजरी के मार से झुकी हुई अमराइयो, गदराई हुई लता-बलरियो के भीतर छिपकर कोकिला कल्याण का राग छेड़ जाती है, अपने दर्द-भरे घायल दिल को उँडेल जाती है। हमारा हृदय किसी अज्ञात वेदना में कुहूँक उठता है। शरद ऋतु के किसी ज्योत्स्ना-स्नात निशीथ में अनन्त सागर एवं दूर तक फैले हुए विशाल सैकत खण्ड पर छिटकी हुई चाँदनी, उद्बेलित लहरो की हलचल किसके हृदय में एक अतृप्त लालसा का उद्बोधन नहीं करती? सजल सावन के सघन रिमझिम में पक्षियों को प्रफुल्ल क्रीड़ा करते और चहचहाते देख किसका हृदय आनन्द से आप्लावित नहीं हो जाता? यह सब कुछ हम देखते हैं और विस्मय से भर जाते हैं। हम इन चित्रों के पीछे छिपे हुए चित्रकार को देखना चाहते हैं, इस विराट् अभिनय के सूत्रधार को देखना चाहते हैं और चाहते हैं उस गायक को देखना जिसके इस दिव्य संगीत में अखिल विश्व डूबा जा रहा है। रमणीय दृश्यों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर हमारे अन्तस् में जो आकुल उत्कण्ठा जग जाती है—हमारी इस जागृत अभिलाषा, चिर अतृप्त आकांक्षा की पुनीत प्रेरणा द्वारा ही हमारे भीतर ईश्वर की खोज का आरम्भ होता है।

प्रकृति के निरवगुण्ठित, आवरणहीन सौंदर्य के अविच्छिन्न साहचर्य में आकर हमारे आत्मदर्शी ऋषियों ने अपने अन्तस् में उसके अतल स्पर्श का अनुभव किया और आनन्द-विभोर हो यत्किञ्चित् अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। वैदिक युग में प्रकृति के इन्हीं व्यक्त प्रतीकों की

उपामना भी होती थी। वरुण, इन्द्र, यम, अग्नि, विष्णु आदि की पूजा प्रचलित थी। उषष् छन्दो के अतिरिक्त इन मन्त्रों में देवता की शक्ति का ही विशेष वर्णन है। सौंदर्य की ओर ध्यान गया भी है वह भी लौट कर शक्ति में मिल गया है। ऋग्वेद में वरुण सबसे श्रेष्ठ देवता माने गये हैं। वरुण जल के देवता है और उनकी शक्ति भी अपरिमेय है। विष्णु छन्दो में बार-बार विष्णु के 'तीन मधुपूर्ण पदों से अखिल ब्रह्माण्ड को नापने' की कथा दुहराई गई है। परन्तु वही छोटे छंद की एक पक्ति है—'भूरि शृङ्गाः अयास गावः'^१ अर्थात् विष्णु का वह पावन-लोक जिसमें अनेक सींगवाली गायें चरती-फिरती हैं। विष्णु के साथ गोचारण, गोपालन तथा विष्णु-लोक में गौओं का घूमना-चरना देख अवश्य कुतूहल होता है क्योंकि यही विष्णु आगे चलकर हमारे गोपाल कृष्ण बन जाते हैं।

वैदिक युग में गोलोक-विहारी विष्णु की एक झलक लेकर हम आगे बढ़ते हैं और ब्राह्मण तथा उपनिषद् काल में प्रवेश करते हैं। आरम्भ में ही यह कह देना उचित होगा कि उपनिषदों में ज्ञान का ही विषय प्रधान है। उन्होंने ब्रह्मात्मैक्य का ही प्रतिपादन किया है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियों ने स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्म हमारी चाणी और मन की पहुँच से परे है, वह परब्रह्म पंचमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँच गुणों से रहित अनादि, अनंत और अव्यय है।^२ परन्तु ज्ञानाश्रयी उपनिषदों में भी अव्यक्त की व्यक्त उपासना की झलक कहीं-कहीं मिलती है। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को यही उपदेश किया है कि अन्न ही ब्रह्म है फिर क्रम से प्राण मन, विज्ञान और आनंद इन ब्रह्म रूपों का ज्ञान उसे करा दिया है। परन्तु अन्त में आते-आते उत्तरकालीन उपनिषदों में सच्चिदानंद की भावना श्रीकृष्ण के रूप में की गई है। 'गोपाल-नापनी उपनिषद्' में 'सच्चिदानंद रूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे' तथा अथर्व शीर्ष में 'गोविन्द सच्चिदानन्दविग्रहं' पद आते हैं। 'ब्रह्म-संहिता' के पंचम अध्याय का प्रथम श्लोक है—

१ न वा वास्तून्नुद्मसि गमेध्वं यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयास ।

अत्राह तदु गायस्य वृषणः परम पदमेव भाति भूरि ॥

ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त १५४, छंद ६

२ यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' । (तैत्ति० २, ९)

३ इयं अप्राप्या (मुं० ११०)

४ वक्ष्या गृह्यते नाप वाचा' (मुं० ३. १८)

ईश्वर परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम् ॥

साराश यह कि वैदिक काल में धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप यज्ञमय कर्म प्रधान होते हुए भी ब्रह्म की प्रतीक उपासना की आवश्यकता समझी जाने लगी थी और उपनिषद् काल में उस ब्रह्म सच्चिदानन्द की मधुर कल्पना श्रीकृष्ण वासुदेव के ही रूप में होने लगी थी । वेद-संहिता तथा ब्राह्मणों में भी, विशेषतः इसी की आगे चलकर तीन शाखाएँ हो गईं । उनमें पहली यज्ञ-याग आदि कर्म को प्रतिपादित करती रही, दूसरी ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा कर्म-संन्यास अथवा साख्य मार्ग और तीसरी शाखा ज्ञान-समुच्चय मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई । इनमें से ज्ञान-मार्ग से ही आगे चलकर योग और भक्ति के प्रवाह निकले । ज्ञान प्रधान उपनिषदों में ब्रह्म-चिन्तन के लिए प्रणव का पुष्ट साधन स्वीकृत था । आगे चलकर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ और अंत में ब्रह्म-प्राप्ति के लिए राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण, वासुदेव की उपासना का प्रादुर्भाव हुआ । छांदोग्य उपनिषद् में भी एक स्थल पर स्पष्टतः अंकित है कि मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ ही है और यह यज्ञ-विद्या आंगिरस नामक ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को बतलाई । मैत्रेय उपनिषद् में यह कई स्थलों पर प्रकट किया गया है कि विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि की भक्ति की जाती है और ये भी परमात्मा एव ब्रह्म के स्वरूप हैं । परन्तु यह भक्ति साधन-मात्र मानी गई—साध्य ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान ही निरूपित किया गया । इसी हेतु वैष्णव उपनिषदों में भी भक्ति का निखरा हुआ रूप प्रकट न हो सका ।

उपनिषत्काल से लेकर बौद्ध-जैन धर्म के जन्म तक के हमारे धार्मिक-विकास का कुछ व्यवस्थित क्रमबद्ध रूप नहीं मिलता । वैष्णव धर्म प्रवृत्ति-मूलक, साधना-मूलक है और बौद्ध तथा जैन धर्म निवृत्ति-मूलक ज्ञान-वैराग्य-प्रधान है । इसी हेतु वैष्णव धर्म का वह स्रोत जो उपनिषत्काल के उत्तर भाग में प्रवाहित हो चला था बौद्ध तथा जैन धर्मों के संन्यास-मूलक वातावरण में लुप्तप्राय हो गया । काल-चक्र की गति बड़ी ही विचित्र है । महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' में भक्ति की एक झिलमिल आभा विकीर्ण हुई जो श्रीमद्भागवत् में विराट् रूप में प्रकट हुई । नारद सूत्र और शांडिल्य सूत्र में तो भक्ति की बहुत ही सूक्ष्म सीमासा हुई है । भक्ति की जो सुव्यवस्थित निष्पत्ति श्रीमद्भागवत् में हुई वह नारद तथा शांडिल्य सूत्रों द्वारा प्रवर्तित पावन भक्तिमय वायुमंडल में पूर्णतः पल्लवित-पुष्पित हुई । श्रीमद्भागवत्

कैसे दसवे स्कंध में श्रीकृष्ण की रास तथा चौरहरण की जिन लीलाओं का वर्णन हुआ उनमें प्रेम एवं आनन्द की इतनी अधिक मात्रा थी कि जनता का हृदय सहसा आकृष्ट हुए बिना न रहा।

‘गीता’ का ज्ञान कर्ममूलक, भक्ति-प्रधान है। उसमें तीनों का समन्वय है। कर्म को ज्ञान की आग में शुद्ध कर भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों में सर्वात्मभाव से श्रीकृष्णार्पण कर देना है। गीता का भक्त भी ‘स्थितप्रज्ञ’ है तथा नित्य सनातन ब्राह्मी स्थिति में विचरनेवाला है। गीता समर्पण में समाप्त होती है, भागवत समर्पण से शुरू होती है। ‘मामेक शरणं ब्रज’ गीता के अन्तिम अध्याय का पद है परन्तु भागवत के परीक्षित् सब प्रकार से शुकदेव के चरणों में आत्मार्पण करके प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि गीता जहाँ समाप्त होती है, भागवत का वहाँ से श्रीगणेश होता है। गीता में कहीं-कहीं ‘परम भाव’ की जो झलक मिलती है वह श्रीमद्भागवत् के दशम-स्कंध से सर्वथा भिन्न नहीं है। अठारहवें अध्याय में भगवान् के अन्तिम उपदेश वचन को ही लीजिए, जिसे कहकर भगवान् ने अर्जुन के अन्तश्चक्षुओं को खोल दिया है—

“सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥”

ग्यारहवें अध्याय का वह श्लोक जिसमें अर्जुन भगवान् के विराट् विश्व-रूप को देखकर काँप रहे हैं और ‘सखा’, ‘यादव’, ‘कृष्ण’ आदि कहकर विहार, शय्या, आसन, भोजन में अपने किए हुए सख्य-व्यवहार पर वह आत्मक्षोभ में डूब रहे हैं, क्षमा के लिए भगवान् के चरणों में प्रणत होकर भय से काँपते हुए करुणा से गीले शब्दों में कहते हैं—

‘तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्यः

प्रियः प्रियायार्हसि देव ! सोढुम्॥

समर्पण का यह कोमल मधुर भाव पति-पत्नी के सम्बन्ध में ही पूर्णतः चरितार्थ होता है। इसी हेतु भगवान् को पिता और सखा मान कर ही अर्जुन को सतोष नहीं हुआ, ‘प्रिय. प्रियाया’ ही बना कर छोड़ा।

साधना का वह परम पावन स्रोत जो पहाड़ की कदराओं, खोहो-मह्वारों में बह रहा था, उपनिषत्काल में हमारी आँखों के सम्मुख कल कल वेग से बहता चला जा रहा था, पूर्ण रूप से श्रीमद्भागवत में ही प्रकट हुआ। हृदय की सम्पूर्ण भावनाओं एवं प्रवृत्तियों को पूर्णतः रमने का पहला अवसर यही

था । प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्य की जो त्रिवेणी श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में बही है उसमें बार-बार मज्जन और पान करके भी हमारा हृदय अघाता नहीं, तृप्त नहीं होता, अभी और की आकांक्षा बनी ही रहती है ।

इस परम मज्जलमय भागवत धर्म के सार तत्त्व को स्वयं श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है—‘निरन्तर मुझमें ही मन और चित्त को लगाये रहनेवाला तथा जिसके आत्मा और मन का मेरे धर्मों में ही अनुराग हो गया है वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मों को धीरे-धीरे मेरे ही लिये करता रहे । जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हो वहाँ रहे । पर्व-दिनों पर अकेला ही अथवा सबके साथ मिलकर नृत्य, गान, वाद्य के द्वारा ठाट से मेरी यात्रा आदि का महात्सव करावे । निर्मल चित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों में और अपने आपमें मुक्त आत्मा को ही आकाश के समान निरावरण रूप से बाहर-भीतर व्याप्त देखे । इस प्रकार वह समस्त प्राणियों को मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और भक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूर में समान दृष्टि रखता है, लोभ, लज्जा छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे को भी पृथ्वी पर गिर कर साष्टाङ्ग प्रणाम करता है और इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियों से संपूर्ण प्राणियों में मेरी ही भावना करता है ।’

भागवत धर्म के मूल तत्त्व-ज्ञान में परमेश्वर को वामुदेव, जीव को सक-र्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहंकार को अनिरुद्ध कहा गया है । भगवान् ने गीता में ‘वामुदेव सर्वमिति’ ऐसी भावना करनेवाले महात्मा को ‘सुदुर्लभ’ कहा है । इसका विशेष कारण यही है कि प्रेम का परम व्यापक स्वरूप ‘रति’ में ही सन्निहित है । हमारी समस्त रसप्यासी वृत्तियों के आलबन-उद्दीपन, आकर्षण, प्रथय एवं प्रसार के लिए, प्रेम के आनन्दमूलक, सौन्दर्य-सत्तात्मक एक ऐसी मधुर मूर्ति की उद्भावना होनी चाहिए थी जिसमें हमारा हृदय पूर्णतः डूब जाय । ऐसी छविशाली मूर्ति श्रीकृष्ण की ही है ।

हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष । हृदय का धर्म है सवेदन, मस्तिष्क का धर्म है चिन्तन । हृदय सुन्दर की ओर आकृष्ट होता है, मस्तिष्क सत्य की ओर । हृदय भक्ति-विह्वल, भावना-प्रवण होता है, मस्तिष्क ज्ञान-चित्तक एवं आत्मदर्शी । भक्ति प्रधानतः नारी-हृदय का धर्म है, ज्ञान पुरुष-हृदय का । भक्ति ‘त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये’ लेकर चलेगी परन्तु ज्ञान ‘उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत’ लेकर । भक्ति का पथ राज-मार्ग के समान सरल, सुगम एवं प्रशस्त है परन्तु ज्ञान की ‘ऊँची गैल राह’ रपटीली

को 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कहा गया है। वैष्णव धर्म भावना-प्रधान प्रवृत्ति-मूलक तथा आनन्द विधायक है। भगवान् की शील, शक्ति एवं मौदर्य—तीन विभूतियों में राम में तीनों का समन्वय होते हुए भी शील एवं शक्ति का चरम विन्यास हुआ है। कृष्ण में, इसके विपरीत, सौन्दर्य की प्रधानता है। राम में लोक-मर्यादा, कर्तव्य और आत्मसत्य का ही भाव प्रमुख है, कृष्ण में प्रेम एवं आनन्द का। राम में दास्य भाव की ही परि-तुष्टि होती है परन्तु कृष्ण में सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भाव की। यही कारण है कि भक्ति की सम्पूर्ण रति-भावना की पुष्टि श्रीकृष्ण में ही हुई। इसी हेतु राम-भक्ति-शाखा की अपेक्षा कृष्ण भक्ति-शाखा अधिक पल्लवित-पुष्पित हुई। रामानुज और रामानन्द ही राम-भक्ति-शाखा के प्रधान आचार्य हुए परन्तु कृष्ण-भक्ति-शाखा में बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, हितहरिवंश चैतन्य महाप्रभु आदि कई हुए। रामभक्ति की परम पुनीत गाथा 'रामायण' तक में ही केन्द्रीभूत हुई परन्तु कृष्ण-भक्ति की जो स्रोतस्विनी उमड़ी, उसमें श्री चैतन्य, जयदेव, विद्यापति, मीरा, सूर, नन्ददास, घनानन्द, रसखान आदि कवियों की एक धारा-सी छूट पड़ी।

राधा का अभाव श्रीमद्भागवत में अवश्य खटकता है, परन्तु रास में सहसा भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर गोपिकाएँ राधारानी के भाग्य की सराहना करती हुई कह रही हैं—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीडवरः ।

यस्यो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रह ॥

निश्चय ही इन्हीं राधारानी ने भगवान् श्रीहरि का एकान्त आराधन किया है क्योंकि इनके ही प्रेम के पीछे भगवान् हम सबको सहसा परित्याग करके उनके साथ एकान्त में चले गये।

यह विषय अत्यन्त ही गोप्य है। भगवान् व्रथासदेव ने भी इसे परम गुप्त समझकर अप्रकट ही रखा है। केवल सकेत से बहुत ही थोड़ा-सा लक्ष्य किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मादिनी शक्ति आनन्द-विधायिनी राधारानी तथा सहस्र-सहस्र गोपियों की केलिक्रीडा में 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का भाव हमारे हृदय पर सदा के लिए अमिट रूप में जम जाता है। पूतना और कंस के तारने-वाले, सुदामा के तन्दुल और विदुर के साग पर रीझनेवाले, प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्य की अपार राशि, सहस्र-सहस्र गोपियों के प्राणवल्लभ और यशोदा के लाड़ले नन्द के दुलारे श्रीकृष्ण हमारे हृदय के हृदय में सदा के लिए बस जाते हैं।

पता नहीं कितनी आत्माएँ राधारूप में अपने को श्रीकृष्ण के चरणों में निवेदित कर चुकी हैं। देवदासियों का रूप पीछे जाकर चाहे जितना भी विकृत हो गया हो परन्तु आरम्भ में तो उनका देवता के चरणों में सर्वात्मसमर्पण प्रेम की प्रेरणा द्वारा हुआ करता था। इन देवदासियों का कोई सुव्यवस्थित इतिहास नहीं मिलता, परन्तु यह तो हम जानते हैं कि अन्दाल, कान्होपात्रा जैसी सहस्र-सहस्र कुमारियों ने अपना पवित्र एवं अक्षत यौवन श्रीकृष्ण के चरणों में चढ़ाया है, और उन्हें भगवान् का अग-सग प्राप्त हुआ, उनके सारे मनोरथ पूरे हुए, इसे कौन अस्वीकार करेगा ?

अन्दाल का जन्म विक्रम संवत् ७७० के लगभग हुआ था। वह दक्षिण के आलवार सत्तो में प्रमुख मानी जाती है। वह एक दिन प्रातःकाल तुलसी के एक वन में पायी गई। सयानी होने पर जब वह भगवान् के लिये माला गूथती तो प्रेम में इतना पागल हो जाती कि उस गूथे हुए हार को स्वयं पहन कर आइने के सामने खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्य की अपने आप प्रशंसा करती हुई कहती—“प्रभु मेरे इस शृङ्गार को स्वीकार कर लो ?” श्रीकृष्ण सदा ही उसकी जूठी माला पहना करते और इसी में उन्हें विशेष सुख मिलता।

अन्दाल वस्तुतः दक्षिण भारत की मीरा थी। वह मधुर भाव की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। वह चित्त से सदैव वृन्दावन में वास करती थी और गोपियों के साथ मिल कर अपने प्राण-वल्लभ हरि के साथ केलि-क्रीडा किया करती थी। अन्दाल का विवाह एवं पाणिग्रहण बड़ी धूमधाम से भगवान् श्रीरंगनाथ के साथ हुआ। अन्दाल ने प्रेम में मतवाली होकर रंगनाथजी के मन्दिर में प्रवेश किया और तुरन्त वह भगवान् की शेषशय्या पर चढ़ गई। इतने में ही लोगो ने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाश में अन्दाल सब के देखते ही देखते बिजली-सी चमक कर विलीन हो गई। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये। अन्दाल के जीवन का कार्य आज पूरा हो गया—वह अपने प्रियतम में जाकर मिल गई।

दक्षिण के वैष्णव मन्दिरों में आज भी अन्दाल के विवाह का उत्सव प्रतिवर्ष बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। पण्डरपुर में भगवान् श्रीविठ्ठल के चरणों में आत्मार्पण करनेवाली कान्होपात्रा एक वेद्या की लडकी थी। उसने भी अपने को भगवान् के चरणों में निवेदित किया और अन्त में वह उसी मूर्ति में लीन हो गई।

कला की साधना

‘रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’

The meeting of man and god must always mean penetration and entry of the divine into the human and a self immergence of man in the Divinity.

—*Sri Aurobindo*

जिसे कवि ने ‘यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ कह कर मन और वचन द्वारा अप्राप्य विराट निराकार की धारणा की थी, उसे चित्रकार ने तेजो-मय प्रणव का रूप दिया, और इस साकार साधना में मानव हृदय को एक राहत मिली, आधार मिला, शान्ति मिली । जिसकी अलौकिक छवि ब्रह्मांड के कण-कण में उल्लास एवं आनन्द की किलकारियाँ ले रही है, उस अपरूप रूप को हम आँखों से पीना चाहते हैं, उसमें अपने सुख की छाया और दुःख की सहानुभूति देखना चाहते हैं । ‘कोई’ है जो हमसे ओट रहकर भी, हमारी इन स्थूल आँखों के ओझल रहकर भी हमारा ‘अपना’ है, हमारा प्रियतम है, हमारे जीवन का जीवन और प्राणों का प्राण है । श्रुति कहती है ‘स उ प्राणस्य प्राण.’ अर्थात् ‘वह’ प्राणों का प्राण है । उसे अप्राप्य या अदृश्य कहकर हमारे हृदय को तृप्ति नहीं होती, शान्ति नहीं मिलती । हमें तो उस ‘न मिलनेवाले’ से मिलना है, ‘न दीखनेवाले’ को देखना है और उस ‘ना ना’ की मधुर मूरत से एक बार ‘हाँ’ कहा लेना है । इस जगत में सभी उसी प्रिय के अन्वेषण में लगे हैं, सभी आनन्द के भिखारी हैं । इसी से समस्त जगत् क्रन्दन और हाहाकार की ध्वनि से भर रहा है । सभी के प्राण व्याकुलता से रो-रोकर यही चिल्ला रहे हैं—‘कहाँ है वह सुन्दर ? वह आनन्द-सिन्धु, हमारा जीवनसर्वस्व, हमारा प्राण-सखा ? प्यारे ! कहाँ हो तुम ?’ हमें विश्व के विविध रसों में इसी ‘एक रस’ रसराज रसिकशेखर की चाहना बनी

रहती है, जिसे पाये बिना विश्व के सारे रस नीरस है, फीके हैं। हमे अपने परम प्रिय की छवि देखने की उत्सुकता आजीवन बनी रहती है। हम अपने हृदय के समस्त आनन्द, सौन्दर्य एवं माधुर्य की विभूतियों को समेट कर उस निराकार की मजुल प्रतिमा का निर्माण करते हैं, और उस मूर्ति को हृदय-मन्दिर में स्थापित करते हैं। कला की मूल प्रेरणा यही है।

सब में आनन्द बिखेर कर, सभी वस्तुओं को अपनी शोभा से पूर्ण कर, सारे जगत् को शोभा से भर कर, कौन हो तुम जो हृदय के भीतर छिपे बैठे हो और मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हो ? ममस्त शोभाओं में, सारे सौंदर्य में अपने को बिखेर कर भी तुम कैसे छिप कर 'भीतर' जा बैठे हो ? छिपे-छिपे कौतुक कर रहे हो ? सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, नदी, समुद्र, वृक्ष, लता, मानव, मानवी, जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, सयोग, वियोग सभी कुछ क्या सुन्दर ताल के साथ तुम्हारे इशारे पर नाच रहे हैं ! सब की ओट में यह चिक डाल कर तुम खूब जा छिपे हो ! पदों में छिप कर भी अपनी झलमल-झलमल-रूप-श्री की स्तिग्ध किरणों में चर-अचर को अपने प्रेम-पाश में बाँधे हुए हो और फिर भी तुम्हारा पता, तुम्हारा निशा कुछ भी नहीं मिलता ! यह कैसी तुम्हारी मायामयी लीला है ? श्रुति कहती है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्याभिसविशन्ति, तै ३-६ ।'

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पगषोऽस्यो परमोलोक एषोऽस्य परम आनन्दः, के० ४-३२ ।

इस आनन्द-भोग के लिए ही ससार की रचना हुई है। इसी आनन्द के हिलोरो से ससार नाच रहा है। मिलन और विरह दोनों में ही प्रिय का प्रेम, प्रिय का आनन्द उमड़ रहा है। मिलन की ज्वाला ही कला का प्राण है। पृथ्वी किससे मिलने के लिए रात, दिन प्रतिपल चक्कर काटती फिरती है ? आकाश अनादि काल से किसके लिए चन्द्र-सूर्य का दीपक जला कर विश्व के एक छोर से दूसरे छोर को नापा करता है ? जल की इन लहरों में व्याकुलता क्यों है ? वे तट से क्यों टकराया करती हैं ? हवा किसकी खोज में सौरभ का उपहार समेटे, स्वयं रूपहीन होकर, किस 'रूप' की आराधना के लिए नदी-नद, गिरि-गङ्गारो तथा जगलो को छानती फिरती है ! अग्नि के प्राणों में इतनी ज्वाला क्यों है ? क्यों यह भीतर ही भीतर सुलगती और घघकती रहती है ? किसके चरणों को चूमने के लिए इसकी लपटे ऊपर उठकर आकाश में विछीन हो जाती है ? यही ज्वाला, यही मिलन की

‘उत्सुकता’ हमारे जीवन का मूल स्रोत है, आदि तत्त्व है, जो जन्म के प्रथम निश्वास से लेकर मृत्यु की अंतिम सांस तक अविच्छिन्न बनी रहती है। उसकी चेष्टाएँ, उसका अभिसार-उद्यम भले ही बारबार निष्फल होता रहे, परन्तु एकदिन अवश्य ही ऐसा आवेगा जिस दिन वह अपने जीवन के इस चरम लक्ष्य की सन्निधि में पहुँच कर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करेगी। उस परम प्रियतम को ढूँढ़े बिना इन्द्रियो की यह आनन्द-स्पृहा कभी मिट नहीं सकती। क्योंकि उस आनन्द के लिए ही तो जीव-जीव का हृदय व्याकुल है और जिसे ही पाने के लिए उसने जीवन-यात्रा आरम्भ की है। वह आनन्द ही विश्व चराचर के प्राणों का एक मात्र अवलम्ब है। यह आनन्द नहीं होता तो यह जगत् एक पल भर के लिए भी जीवित नहीं रह सकता।

‘एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति’। इतना ही नहीं, वह आनन्दोत्सुकता, यह जलन तो मृत्यु का द्वार लॉच कर पुनः नवीन जन्म प्राप्त कर नए जोश के साथ बढ़ती जाती है। हमारे अनन्त जीवन की भाँति यह जलन भी, मिलन की यह उत्सुकता भी अमर है, अनन्त है। जिस प्रकार हमारा जीवन हमारे कई गत जन्मों से पार होकर इस रूप में दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार यह जलन भी हमारे साथ अनादि काल से लगी चली आ रही है, और हमारे साथ ही अनन्त में विलीन हो जायगी। इसी ज्वालामय जीवन की एक-एक चिनगारी से विश्व की निखिल कलाओं की सृष्टि हुआ करती है।

हृदय का यह स्वाभाविक गुण है कि वह ‘सुन्दर’ की उपासना करता है, और इस साधना में वह स्वयं अपनी उपासना की भाँति सुन्दर बन जाता है! इस साधना के पथ में आगे बढ़ कर अपने उपास्य देव की मधुर छवि का विश्व के चर-अचर यावत् पदार्थों में अवलोकन कर आनन्द-विभोर हो जाया करता है। आनन्द के अतिरेक में वह गा उठता है, नाचने लगता है और उस आराध्य देव की रूप-रेखा को व्यक्त करने के लिए तूलिका में रंग भर कर चित्रपट पर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी पक्तियाँ खींचने लगता है। इसी मिलन की अनुभूति और इस अनुभूति से उद्भूत आनन्द की अतिरेकावस्था में हमारे हृदय से कला का कलित धारा फूट बहती है, जिसका अवलोकन कर विश्व की तृप्ति आँखें जुड़ा जाती है। सौंदर्य, आनन्द और माधुर्य के ये वाह्य प्रतीक वस्तुतः उस आंतरिक आनन्दसिधु के एक उल्लास की लहर है, भीतर की छलकन है। मदिरा, दीपक और प्रियतमा—ये सब मुख्यतः अन्तरंग

वस्तुएँ हैं, जिनकी झलक इन सभी सूरतो में दिखाई पड़ती है। ऐ देखने वाले ! देख, मदिरा, दीपक और प्रियतमा में कौन-सा आनन्द छिपा हुआ है। तू उस अमर मुख के प्याले से शराब पी जिसका साकी ईश्वर है और वह साकी ही सब लोगों को मदिरा पिलाया करता है। उसके बिना पिला ही कौन सकता है ? उस 'साकी' की चितवन ऐसी है जिससे हमारे प्राण निकलने लगते हैं और उसका एक चुम्बन हमें प्राण-दान देकर जीवित कर देता है।

कला और जीवन का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना अधूरा है। कला की विशेषता इसी में है कि वह जीवन की मूल आभ्यन्तर ललित लालताओं को अभिव्यक्त करती है, और जीवन की विशेषता इसी में है कि वह अपने 'देवता' की छाया देखकर प्रफुल्लित हो जाता है। जीवन कला का आदि स्रोत है, अनादि निर्वार है, जहाँ से कला अपनी सामग्री लेती है और कला स्वयं जीवन के आधार की छाया है। उस अगाध समुद्र की एक हुंकार—'foaming of that infinite deep' है। सृष्टि के आदि काल से जीवन और कला, दोनों लिपटी चली आती हैं और आज तो एक दूसरे की अविवेक सहेली बन गई हैं ! एक के बिना दूसरी को शान्ति ही नहीं मिलती, तृप्ति ही नहीं होती। आगल कवि लांगफेलो ने गायको का कितना दिव्य उद्देश्य बतलाया है—

God sent His singers upon earth
With songs of sadness and of mirth
That they might touch the hearts of men
And bring them back to Heaven again.

अर्थात् परमात्मा ने इस पृथ्वी पर गायको और कवियों को आनन्द और विषाद के गीतों के साथ इसलिए भेजा है कि वे मानव-हृदय को सस्पर्श कर उन्हें पुन उसी आनन्दलोक में लौटा ले चले।

कला हमारी भावनाओं की बाह्य अभिव्यक्ति है, हमारे सपनों की सजीव तस्वीर है। वह हृदय से एक आधार पकड़ कर बाहर बह चलती है। इसकी अभिव्यक्ति की रेशमी डोर को पकड़ कर जो 'भीतर' पैठ सके, भीतर की अपार सौंदर्य-राशि को पा और पी सके, उस 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' का रसपान कर सके—वही कला का सच्चा पारखी है, कला के वास्तविक आनंद का बही भोक्ता है।

यह निखिल विश्व वास्तव में एक अविच्छिन्न संगीत है, एक आर्ष कविता है, लीलामय की नृत्य-लीला है, एक सुन्दर सुमधुर आनन्द प्रवाह है, जिसके रस में हमारे प्राण सराबोर हुआ करते हैं—‘आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।’ ऊपरी सारी विषमताओं की तह में एक अविराम समता है, एक अविच्छिन्न संगीत है । ये विषमताएँ तो केवल ऊपरी बर्फ की चट्टानें हैं, जिनके अंतराल में अविराम गति से आनन्द का अमृत-प्रवाह अनन्तकाल से प्रवाहित होता चला आ रहा है । हमारा यह जीवन ‘क्षण-भंगुर’ होते हुए भी, एक विराट् ‘स्वप्न’ होते हुए भी, अनन्त है, अमर है, शाश्वत है । जीवन एक है, जन्म कई बार होता है । जीवन की इस अमर धारा को मृत्यु और भी उद्वेलित-उल्लसित-पुलकित कर देती है । मृत्यु का द्वार लौंघ कर भी हमारे जीवन का स्रोत बंद नहीं होता । इसी अमर अनन्त जीवन का स्पर्श समस्त कलाओं में मिलता है । इस विविधता में ‘एकता’ के अखण्ड सूत्र को निकाल लेना, इस विषमता में ‘सम’ को ढूँढ लेना ही कला की आत्मा है, और, जो कलाविद् बनने-मिटनेवाली काया के भीतर अखण्ड एक रस चिर-शाश्वत, चिर नवीन आत्मा की एकता पर अपनी कला का निर्माण करता है वही अमर है और उसी की कला ‘कला’ है । आत्मदर्शी कवि ब्राउनिंग ने कहा है—

Oh World as God has made it ! all is beauty,
And knowing this is love, and love is duty

यह समस्त सृष्टि प्रभु की रची हुई है इसलिये यहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, सौन्दर्य ही सौन्दर्य है । यह आनन्द ही सचमुच प्रेम है और यह प्रेम ही मानव-जीवन का चरम कर्तव्य है । चाहे जिस रूप में हो, अनादि काल से ही हमारे भीतर कला की उपासना चली आई है । जीवन का मूल रस सौन्दर्य है, और सौन्दर्य ही से कला की धारा बहती है, इसी हेतु जीवन और कला का अविभेद्य सबध है ।

भारतीय आदर्श में सदा ही काव्य और चित्रादि कला जीवन को उन्नत एवं प्रभुमय करने में सार्थक समझी गयी है और इसके द्वारा जीवन-प्रवाह असत् से सत् की ओर तमस् से ज्योति की ओर मृत्यु से अमृत की ओर मुड़ जाता है । राबर्ट ब्रीजेज ने भी कला के इस आदर्श को स्वीकार किया है—

Thy work with beauty crown, thy life with love.
Thy mind with truth uplift to God above

For whom all is, from whom all was begun
In whom all Beauty, Truth and Love are one.

कार्य में सौंदर्य भर दो, जीवन में प्रेम । अन्तस्तल को सत्य के द्वारा प्रभु के समक्ष उद्घाटित करो, क्योंकि उसी प्रभु से ही सब कुछ निकला है जिसमें ही सब कुछ लय होता जा रहा है और जिसमें समस्त सौंदर्य, समस्त सत्य, समस्त प्रेम एकाकार हो रहे हैं ।

कला की सृष्टि का भी बहुत सुन्दर इतिहास है । नाचना हमने मोरो से सीखा है और हँसना फूलों से । शृङ्गार करना उषा से सीखा है और चहकना बिड़ियो से । जीवन की सुन्दरता को हमने ओस की एक बूंद पर पड़ी हुई अरुणिमा की आभा से पाया है । चित्र बनाना हमने इन्द्रधनुष से सीखा, गुनगुनाना भौरो से, उछलना विधुब्ध समुद्र से और वरसना मेघों से । इस निखिल सृष्टि का अनंत विलास तथा विकास एक अविच्छिन्न कविता में हो रहा है, एक लय में गूँज रहा है, कला की कमनीय वाति में किलक रहा है । विश्व कलामय है, कवितामय है, सुन्दर है, मोहक है, बहुत ही मधुर है ।

भारतवर्ष ने केवल बाह्य रूपको कभी स्वीकार नहीं लिया है । उसने सतत आभ्यन्तरिक सौंदर्य का मधुपान किया है, आत्मा के अमर सौंदर्य में अपने को नहलाया है । यथार्थवाद (Realism) इसी कारण भारतीय कला का कभी प्रेरक नहीं हुआ । इन्द्रियता में अतीन्द्रिय का दर्शन ही भारतीय कला की स्फूर्ति का कारण रहा है । भारतीय कला केवल प्रकृति को नहीं देखती, प्रकृति के भीतर के सजीव सकेत, अमर इशारे को देखती है । सृष्टि के प्राण-पिण्ड में जो गति है और उस गति के कारण ही बाहर जो चहल-पहल है उसे ही भारतीय कला साक्षात्कार करना चाहती है - समस्त सौंदर्य जिसकी अभिव्यक्ति मात्र है । परात्पर रूप जब अपने को व्यक्त करता है तो उसे हम 'सुन्दर' कह उठते हैं । भारतीय वैष्णव-साधना ने इस अमर सौंदर्य को ही सृष्टि का सनातन प्राण माना है । इसीलिये चिर सुन्दर के रूप में ही प्राणधन का दर्शन किया है—

जनम अवधि हम रूप निहारिनु
नयन न तिरपित भेल
लाख लाख युग हिया माझ राखनु
तब हिया जूड़ न गेल ।

इसी से पूर्व और पश्चिम की कला की उपासना के सबध में बहुत मत-भेद रहा है। कला सुन्दर की प्रतिमा है। जिसे भारतवर्ष सुन्दर कहता है, उसे योरोप नहीं कह सकता। इसका मुख्य कारण यही है, कि दोनों देशों के मानव-जीवन की मूल अनुभूति एवं संस्कृति में बड़ी विभिन्नता है। प्राच्य साधना आत्मा की आभ्यान्तरिक लालसाओं और सौंदर्य को लेकर चलती है, इसीलिये हमारी कला में भी उसी का विन्यास हुआ है। इस नश्वर काया के भीतर जो अखण्ड आत्म-सत्ता है, उसका जो अमिट सौंदर्य है; इस क्षण-क्षण में नाश की ओर जाते हुए ससार के अनल-गर्भ में अविनाशी की जो चिर ललित लीला हो रही है प्राच्य कला, प्राच्य साधना उसी का आधार और आश्रय लेकर चली है। जहाँ पाश्चात्य साधना और संस्कृति मानव और प्रकृति की बाह्य अभिव्यक्ति में ही अपने को सीमित कर लेती है, जहाँ उसे इसके भीतर डूबने अथवा इससे ऊपर उठने के लिये न अवकाश है न प्रेरणा ही, वहाँ भारतवर्ष आत्मा की अमर ज्योति को जगा कर उमी के दिव्य प्रकाश में जगत् को देखने का, अनेक को एक में डुबाकर देखने का, सम में विषम को मिटा कर देखने का अभ्यासी है। इसी कारण भारतीय और पाश्चात्य कला-दर्शन में एक महान् अन्तर है जिसे सक्षेप में ऐन्द्रिय और इन्द्रियातीत का अन्तर समझा जाना चाहिये। राधा और हेलेन तथा सीता और डायना के चित्र आज भी हमें आकर्षित करते हैं, परन्तु राधा और सीता की जिस शोभा का वर्णन कवि ने किया है, उसकी छाया को भी हेलेन और डायना छू नहीं सकती। नटनागर राधा को छोड़ कर चले गए और राधा आजीवन तड़पती रही। उस तड़पती हुई चिर विरहिणी राधा के मनोभावों का चित्रण ही प्राच्य कला का मूर्त आधार है। राधा की इस अमर वेदना में विश्वात्मा की अमर वेदना व्यजित है जो उस 'न मिलने वाले देवता' के लिये हमारे हृदय में सदा जागती रहती है। रास और चौर-हरण की मधुर लीलाएँ हमारे हृदय को सयोग शृङ्गार की पराकाष्ठा के कारण ही नहीं खींचती। इनमें तो हिंदू हृदय का, आर्यों की रहस्यमयी मधुर साधना का चित्र अंकित है। राधा सभी गोपियों के साथ माधव से मिलती है, और उनके साथ हमारा हृदय भी देवता को अनंत विराट सत्ता में अपना तुच्छ व्यक्तित्व गँवा देता है! उसमें हमारे हृदय की अन्तर्ज्वाला का चित्र है। चौरहरण-लीला हमें क्यों मोहे हुई है? उस में तो हमारे और हमारे आराध्य के बीच का परदा हटा कर, 'दुई' का भेदभाव हटा कर 'एकता', कभी न विछुड़ने वाली एकता की ओर सकेत है।

कला की सृष्टि कवल आनन्द के लिये होती है, वह मानव-हृदय की उत्कठाओं को तीव्र कर परम आनन्द में डबो देती है, विलीन कर देती है। चारो वेदों में साम वेद को इसी हेतु सब से सुंदर माना जाता है कि उसमें मानव हृदय की आभ्यंतर लालसाओं का सुन्दर संगीत है। इसी से भगवान् श्री कृष्ण ने भी गीता में कहा है 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'। इसलिये सबसे महान् कला तो वह है जिसमें कलाकार कला की उपासना में 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' का साक्षात्कार करके उसी में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का दर्शन करता है, 'रसो वै स' का रसास्वादन करता है और उसका आस्वादन कर 'समोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' उस आनन्दमय को पाकर स्वयं आनन्दमय हो जाता है।

यह ससार माया है, मिथ्या है, स्वप्न है, इसका अर्थ इतना ही है कि यह उस अव्यक्त को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पा रहा है। जिस प्रकार अभिनय में अभिनेता, गीत में गायक, काव्य में कवि और क्रीडा में बालक आनन्द लेता है उसी प्रकार इस व्यक्त सत्ता में अव्यक्त ब्रह्म की अविराम लीला चल रही है। यह लीला चिरन्तन है, इस लिये चिरनवीन है। 'वह' स्वयं लीला करनेवाला और स्वयं लीला और स्वयं लीला-भूमि है। इस लीला में एक ताल है, गति है, स्वर है, आलाप है, आरोह और अवरोह है; परंतु है यह चिरतन और चिर नवीन, चिर सुन्दर, चिर मधुर। 'हमारा अहं, समस्त समष्टि के पृथक्-पृथक् अहं उस लीलामय के अपार लीलासिंधु में लघुकण है, बुद-बुद है—उसी में से निकल कर उसी में लय हो जानेवाले स्फुलिंग है। इसी लिये यदि हम अपनी गहराई में डूब सकें तो हम उस सत, चित्, आनन्द की राशि में अपने को एक कर उस अखण्ड प्रकाश-पुञ्ज में अपने नन्हे से स्फुलिंग को खोकर अपने वास्तविक विराट् रूप का दर्शन कर सकेंगे। सतह पर सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता, उसका दर्शन तो अपने आप में डूबने पर ही होता है और कला की उपासना इसी में हमें प्रेरणा भरती है, हमारे अन्तस्तल को उल्लसित एवं आनन्दित कर अपने-आपमें, अपने अन्त के अथाह सागर में डूबना सिखलाती है। ऐन्द्रियता से ऊपर उठा कर आत्मतत्त्व में एकाकार करने में कला सर्वसुन्दर साधना है। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद तो सतह की लहरें हैं। इनके प्रहार को चीर कर हमें इनके अंदर डूबना है और यह अनुभव करना है कि जो कुछ है, सत चित्त आनन्द की लीला है—ईशावास्यमिदं सर्वं—सब कुछ ईश्वरमय है, परमात्मा से ओतप्रोत है। 'नेह नानास्ति किंचन' यहाँ 'नानात्व' है ही

नहीं, एक ही एक है। अनेकता के पदों में वही 'एक' अपनी लीला से चर-अचर सब को मुग्ध किये हुए है।

इस 'विश्व रूप दर्शन' के साथ ही हमारी सीमा जो हमें चारों ओर से जकड़े हुए है, छिन्न-भिन्न हो जाती है, हम उसी विराट् पुरुष के एक अविभेद्य अंग बन जाते हैं, हमारे मनोराज्य में समस्त ब्रह्माण्ड आसानी से समा जाता है, एक अनेक का भेद मिट जाता है, तभी जाकर हम वस्तुतः सत्य, शिव, सुन्दर का दर्शन कर पाते हैं और हमारी इस काया को भीतर और बाहर वही सत्य, शिव और सुन्दर अपने अखण्ड लीलाअभिनय में डुबा लेता है। कला की चरम साधना यही है।

मानव-जीवन अपूर्ण है और वह 'पूर्णता' की ओर बड़े वेग से दौड़ता है, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं। वह अपने नन्हें बिंदु में निखिल सृष्टि को छिपा लेना चाहता है, सब कुछ अपनाना चाहता है। इसी उत्सुकता में, इसी अतर्जलन में कला का बीज उगता और पनपता है। हम विशाल समुद्र, अनंत आकाश मण्डल, सुन्दर छविशाली चन्द्र, सूर्य तथा असंख्य तारे, निर्झर, सर, सरिता, उषा, और संध्या को देखते और विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं। ये क्या हैं? किस की ज्योति है—किसकी लीला है—इस विशाल सुन्दरता की तह में कौन मुसकिरा रहा है? कौन सकेत दे रहा है? यह सारा किस का मौन 'निशा-निमग्न' है? हमारे हृदय में उसी छिपे हुए प्रेमी में लय होने की लालसा जगती है और हम उसे भर आँख देखने, अपनी भुजाओं में बाँधने और अपनाने के लिये व्याकुल हो जाते हैं। सजल श्यामल मेघमाला देख कर मोर नाच उठता है। मलया-निल के तनिक से झोके से कोकिला का कंठ खुल जाता है—आम की गौरी के भीतर छिपकर वह गा उठती है। दिनकर की किरणें कमल का हृदय गुदगुदा देती हैं—चंद्रमा के स्निग्ध अमृत चुम्बन का रसास्वादन करने के लिये समुद्र अपना विशाल वक्षस्थल खोल देता है। वीणा की मधुर लय पर कुरङ्ग मचल पड़ता है, मृत्यु की गोद में सहर्ष छलांग मारता है। शलभ दीपक को अपनी कण्ठ कहानी न सुना सकने के कारण स्वयं उसकी लौ में लीन हो जाता है। सारा ससार प्रेम के सूत्र में बँधा हुआ है। सभी किसी-न-किसी के चरणों में अपने आपको निछावर कर देना चाहते हैं, किसी 'एक' का हो कर अपने प्राणों की अमर ज्वाला शान्त करना चाहते हैं। यह ज्वाला ही मनुष्य के हृदय को बँचन किये हुई है जिसके कारण न वह कहीं

रुक सकता है, न कहीं विरम सकता है । चलता ही चला जा रहा है—किसी 'अनदेखे' की खोज में, किसी 'अपने' को पाने की चाह में । इसी 'चाह' में, इसी आजीवन जलन में आनंद है । इसी आनंद की व्याख्या और अभिव्यक्ति कला में होती है । इसी कारण सभी को अपने हृदय की प्यास बुझाने का उपकरण किसी न किसी प्रकार की कला में मिलता है । कोई कविता लिख कर, कोई चित्र द्वारा, कोई संगीत, नृत्य-वाद्य द्वारा अपनी ज्वाला को बुझाना चाहता है; उस अनंत में अपने सात को मिला देना चाहता है । अपने भीतर एक शीतल स्पर्श का अनुभव करता और किसी अदृश्य सत्ता को विद्यमान देखता है परंतु समझ नहीं पाता कि यह क्या है । इसी स्पर्श की अभिव्यक्ति बडेंस्वर्थ ने यों की है—“I have felt a presence that disturbs me with the joy of elevated thoughts”.

बस, इसी चिरंतन शीतल स्पर्श की मधुर अनुभूति के लिए कला की सृष्टि तथा उपासना होती है, और इस उपासना में साधक की आभ्यन्तरिक अथवा अन्तरतम लालसाओं को एक सहारा और आधार मिलता है जहाँ साधना की सुंदर निधियाँ सजा कर मीरा 'मिलन-मंदिर' में प्रवेश करती है और अपने हृदय के हृदय में अपने प्राणाराम सखा और जन्म मरण के साथी 'गिरिधर-मोपाल' को पा कर उसमें सदा के लिए अपने को खो देती है, जैसे कभी, 'हुई' थी ही नहीं । समस्त कला-कृतियाँ सान्त को अनन्त में डुबा कर अनन्त बना देती हैं—आत्मा परमात्मा का अथवा यों कहिये 'प्रिया-प्रीतम' का 'अन्तर्मिलन' करा कर स्वयं तदाकार हो जाती है ।

परम भाव का स्वरूप

देवर्षि नारद ने अपने 'भक्ति-सूत्र' में भगवदासक्ति के ग्यारह भेद किये हैं। उन ग्यारह के नाम हैं :—

गुण महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्स्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति। प्रेमरूपा भक्ति की पूर्णता में ये सभी आसक्तियाँ रहती ही हैं—जैसे श्री ब्रजगोपियो में थी। इन आसक्तियों के द्वारा भगवान् प्रेमरशना में बँध जाते हैं। इनमें उत्तरोत्तर सबंध की ज्यो-ज्यो प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है त्यो-त्यो भक्त और भगवान् का सबंध भी प्रगाढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि यह आसक्ति 'तन्मयता' का रूप धारण कर लेती है—भगवान् और भक्त 'एक' हो जाते हैं। इसके बाद 'परम विरह' की अवस्था प्राप्त होती है। इस परम विरह में चिर मिलन और चिर विरह का अपूर्ण रसायन तैयार होता है—नित्य मिलन होते हुए भी चिरन्तन विरह का रसास्वादन होता रहता है। राधा रानी श्रीकृष्ण की गोद में सिर रखे लेटी हैं फिर भी उन्हें भान हो रहा है कि कृष्ण नहीं मिले। यह परम मधुर स्थिति है—इसका शब्दों में आकलन किया नहीं जा सकता। अस्तु

ऋग्वेद की एक ऋचा का अंश है—'योषा जारमित्र प्रियम्' जिसका भावार्थ यह है कि ईश्वर के प्रति मनुष्य के प्रेम का आवेग परकीया नारी के उपपत्ति के प्रति आवेग के समान होना चाहिये। परम भाव की तात्त्विक सूक्ष्म भीमासा पूर्णतः उपर्युक्त पद में की गई है। प्रेम का परितः परिवाक परकीया में ही होता है। स्वकीया में तो वह नियन्त्रित होकर आत्म-बोध का सहायक बन जाता है। सहजिया संप्रदाय के विचार में राधा (ऊँडा) का प्रेम ही आदर्श प्रेम है। प्रकृति में जो मिथुन-भाव चल रहा है, स्त्री-पुरुष में

आकर्षण है उसे ही साहित्य में 'रति भाव' और साहित्य के अनन्तर साधना-क्षेत्र में 'मधुर भाव' कहते हैं। ईसाई ईसा-मरियम, सूफी लैला-मजनूँ अथवा शीरी-फरहाद तथा हिन्दू राधा-कृष्ण के द्वारा अपनी इस परम भावना को व्यक्त करते हैं। परकीया अपने सारे गृह-कार्यों में फँसी रहने पर भी अपने प्राणवल्लभ प्रेमी का स्मरण किया करती है और मिलन की प्रतीक्षा में व्याकुल हो तडपती रहती है—

‘परव्यसनिनि नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।

तमेव स्वादयत्यन्तर्नव सङ्ग-रसायनम् ॥’

हम जिन-जिन बातों से इस प्रकार में बँधे हुए हैं ठीक उन्हीं नातो से भगवान् में भी जुड़ सकते हैं। सच तो यह है कि इन सम्बन्धों के अतिरिक्त भी कोई सम्बन्ध है इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते, इसीलिये इन्हीं सब सम्बन्धों को लेकर भगवान् से भी मिलना है। हम किसी के पुत्र हैं, किसी के पिता, किसी के मित्र, किसी के प्रेमी, किसी के प्रेमास्पद। परमार्थ के पथ में ये सभी नाते वस्तुतः अपना आस्पद पाकर दिव्य हो जाते हैं क्योंकि हम अपने सभी नाते भगवान् में स्थापित करना चाहते हैं। हमारे भीतर जो अपूर्णता है, रिक्तता है वह हमें चैन नहीं लेने देती। ‘शांत भाव’ में हमारी रति-भावना का प्रस्फुरण नहीं होता। स्वान्तस्थ ईश्वर में लय होनेवाले आत्मदर्शी सिद्ध सन्तो ने प्रभु को जो झोंकी पाई उसे कभी-कभी अपने प्रेम-विह्वल गीले शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। कबीर ने ‘धुनि लागी नगरिया शगन धहराय’ द्वारा उसी अव्यक्त आनन्द को व्यक्त करने की चेष्टा की है। सुन्दरदास ने भी इस ‘मधुर मिलन’ का उल्लेख किया है—

है बिल में दिलदार सही अँखिया उलटी करि ताहि चितैये ।

आब में, खाक में, बाद में आतस, जान में सुन्दर जान जनैये ॥

नूर में नूर है, तेज में तेज ही, ज्योति में ज्योति मिले मिल जँये ।

क्या कहिये कहते न बने, कुछ जो कहिए कहते ही लजँये ॥

यह आनन्द योगियों के ‘अनहद’ से भी कुछ बढ़कर है। इस ‘शान्त भाव’ में जो आनन्दानुभूति है वह भी द्वैतमूलक है। दो का एक में लय होने की क्रम-व्यवस्था ही प्रेम एवं आनन्द की मूल-प्रेरणा है।

हाँ, तो हमारे इन्हीं सबधों को, जिन्हें हम भगवान् में स्थापित कर पूर्णतः उस संबध-विशेष में लय होना चाहते हैं, पाँच मुख्य भावों में विभक्त किया गया है—

- | | |
|-------------------------|-------------------|
| १ शान्त या प्रशान्त भाव | ४ वात्सल्य भाव |
| २ दास्य भाव | ५ रति या मधुर भाव |
| ३ सख्य भाव | |

इनमें शान्त और दास्य तो 'भाव' तक ही रह जाते हैं परन्तु सख्य, वात्सल्य और मधुर 'रति' कहे जाते हैं। यह प्रकट करने की अब आवश्यकता न रही कि इन भावों में हमारी रति-भावना क्रमशः तीव्र होती चली है। समाधि की निर्विकल्प स्थिति में योगी लोग अपनी हृदय-गुफा में सहस्र सहस्र सूर्यों का तेज तथा सहस्र-सहस्र चन्द्रमा की शीतलता का एक साथ ही अनुभव किया करते हैं। इस दिव्य प्रकाश एवं सुस्निग्ध शीतलता की प्रशान्त स्थिति में स्थित हो जाना ही प्रशान्त भाव है। दूसरे शब्दों में कहना चाहे तो यो कह सकते कि जब ससार की ओर बढनेवाले समस्त भाव-प्रवाह भगवान की ओर मुड़ जाते हैं और अतस्तल में निर्वात दीपक की लौ जगमगाने लगती है तब इस प्रेमपथ में साधक पैर रखने का अधिकारी होता है। और-और भावों में साधक ज्यो-ज्यो आगे बढता हुआ रसास्वादन करता जाता है त्यो त्यो परमात्मा उसके निकट आते जाते हैं और वह परमात्मा को प्रत्यक्षत खूली आँखों देखता है, स्पर्श करता है, उनसे सँलाप करता है, उनका मधुर आलिंगन करता है और फिर क्या-क्या नहीं करता ?

यहाँ यह भूल न जाना चाहिए कि शान्त भाव या उसके पूर्व की स्थिति अर्थात् परमात्मा के प्रति हृदय की साधारण रुझान को भी हमारे ऋषियों ने प्रभु की प्रेरणा ही का फल माना है* जिसे गोसाई जी ने 'सो जानत जेहि देहु जनाई' द्वारा प्रकट किया है। हमारे हृदय में भक्ति का जो पौधा उगता है उसका बीज परमात्मा की प्रेरणा में ही सन्निहित है। भक्ति में प्रेम का पुट प्रारंभ से ही रहता है। बिना प्रेम के भक्ति हो नहीं सकती। 'प्रेमाभक्ति' तो पंचम पुरुषार्थ मानी गई है जिसे भगवत्कृपा के बिना प्राप्त करना कठिन है। इसी अर्हेतुकी परम प्रेमाभक्ति द्वारा हमारा चिरन्तन सबंध भगवान् से

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनु स्वाम् ॥

"Let no one suppose "says the Theologic Germanice, that we may attain to this true light and perfect knowledge.....by hear-say, or by reading or study, nor yet by high skill and great lear-ning"—'Inner Lights'

स्थापित होता है। विश्व-मनमोहन ब्रज-बल्लभ ही जो पहले हमारा स्वामी है, धीरे-धीरे हमारा सखा हो जाता है। परन्तु इस समानता से हमारा जी नहीं भरता। जो हमारा सखा है वह दूसरे का भी सखा हो सकता है; उसके प्रेम का भागी दूसरा हो सकता है। हम तो अपने प्रेम-पात्र के ऊपर अपना पूर्ण एकाधिकार या इजारा चाहते हैं। हमारी कामना तो यही होती है कि हम सर्वथा उसीके हो जायें और वह सर्वथा हमारा ही, केवल हमारा ही, बस एकमात्र हमारा ही हो जाय।

सख्य-भाव में प्रेम की अद्वैतता नहीं मिलती। हम अपने प्यारे सखा को सर्वथा एकान्ततः 'अपना' नहीं बना सकते। इसमें 'ना मैं देखौ और को, ना तोड़ि देखन देऊँ' की अभिलाषा पूरी नहीं हो पाती। प्रेम तो एकाधिपत्य ही चाहता है, इसमें तीसरे की गुजाइश ही नहीं है। वात्सल्य-भाव में यह एकाधिपत्यता प्राप्त हो जाती है। वात्सल्य रति में भगवान् को अपना प्रिय वत्स बना लिया जाय अथवा उस जगज्जननी का अबोध शिशु बन जाया जाय—दोनों ही तरह से इस रस का आस्वादन होता है। किसी भी सम्बन्ध से अपनाना चाहिये—भगवान् बाहे फैलाये तैयार हैं। जो हमारा पुत्र है वह किसी और का नहीं हो सकता। उसे प्यार चाहे जितने करे परन्तु हमारा उसका सम्बन्ध तो अविच्छिन्न बना रहेगा। उसके भी मित्र, सखा कितने ही हो परन्तु माता तो एक ही होगी, जिसके प्रेम-पूर्ण अधिकार में कोई भी अन्य सम्बन्ध बाधा नहीं डाल सकता। पुत्र पर माता की एकमात्र अनन्यता होती है। कहावत है, 'डायन को भी अपना बेटा प्यारा होता है।' भगवान् कृष्ण के विराट् रूप को देख, अर्जुन, जिनकी उपासना सखा-भाव की थी, भय से काँपने लगे, परन्तु वही रूप यशोदा के हृदय में भय का सञ्चार न कर सका। अर्जुन अपनी भूलो, त्रुटियो एवं अपराधो के लिए भगवान् से क्षमा माँगने लगे परन्तु यशोदा अपनी प्यार-जन्य प्रताड़ना के लिए क्षमा माँगने न गई।

प्रेम की पराकाष्ठा कान्ता-भाव में ही प्राप्त होती है। सर्वार्थ समर्पण की पूर्ण अभिव्यक्ति यही होती है। पत्नी पति के संपूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है; उससे उसकी कोई लाज नहीं, कोई दुराव-छिपाव नहीं। पत्नी पति के प्यार स्नेहादि की भी अधिकारिणी है, सेवा की भी। पति पत्नी का सखा भी है, स्वामी भी, प्रेमी भी है, प्राणनाथ भी। अवसर पर पत्नी माता के अभाव को भी पूरा करती है। इसी हेतु इस 'परम भाव' में सभी भावों का रसायन तैयार हुआ है।

प्रभु के साथ दास, वत्स, सखा अथवा उसकी परम प्रणयिनी का संबंध स्थापित हो जाने के बाद हमारे जीवन में एक विचित्र आनन्द का उन्मेष हो उठता है और अपने स्वजन, परिजन, वर्ग, समाज, आदि में हम उसी दिव्य सबध का दर्शन करते हुए सदा आनन्द-मुग्ध रहते हैं—जगत के साथ हमारे सभी सबधों में एक प्रकार का दिव्य रोमान्स (romance) आ जाता है और हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र—यहाँ तक कि सेक्स-सबधों में भी एक अकथनीय आनन्द का संचार हो जाता है। सब सबध धर्ममूलक हो जाते हैं।

परमभाव की साकार प्रतिमा राधा है। महाभाव में राधा और कृष्ण का चिरन्तन विहार होता रहता है। कभी-कभी राधा ही कृष्ण तथा कृष्ण ही राधा रूप में आकर केलि क्रीडा करते हैं। कृष्ण कभी-कभी कालिन्दी-कूल के करील-कुंजों की सघन छाया में राधा के पाँव पलोटते हुए तथा रूठी हुई प्रियाजू से 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' की याचना करते हैं। राधा की भाँति मीरा की उपासना भी परम भाव की थी। स्वप्न में मीरा ने अपने अधरों पर कृष्ण के चुम्बन का शीतल-मधुर, विद्युत-स्पर्श का अनुभव किया, आलिंगन का अमृत पान किया—(like the passionate lover's resting on the heaving bosom of his beloved) और यह स्वप्न ही उसके लिए महान जागरण, चिर जागरण का कारण बन गया। फिर क्या था, गिरिधारीलाल को ही मीरा ने अपना प्राणवल्लभ पति मानकर सर्वस्व-समर्पण कर दिया।

सतो ने भी इसी परम-भाव में अपनी अनुभूति की उपलब्धि की है। कबीरदास ने भी अपने को 'हरि की बहुरिया' कह कर परिचय दिया है। सूफी फकीरों में तो यही भाव ओतप्रोत है। 'साजन के घर' का आह्वान सुनने वाले 'सूत्र महल' में सेज बिछाने वाले भावुक भक्तों ने 'प्रीतम' को ही सम्बोधित कर अपनी अनुभूति-मूलक प्रेमोपासना की दिव्य सगीत-धारा में हृदय की लालसा और आत्मा की भूख-प्यास को बुझाया है। दास्य-भाव के उपासक गोस्वामी जी तक ने भी 'कामिहि नारि पियारि जिमि' की भावना में ही हृदय को तृप्त होने का आदर्श स्वीकार किया है। यहाँ 'नारि' में परकीया का ही बोध होता है जिसमें 'रति' की चरम अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह कि निर्गुण सतो तथा मर्यादावादी लोक-संग्रही भक्तों ने भी जीवन की पूर्णावस्था में पति-पत्नी भाव के गहरे प्रेम के रूप में भगवत्प्रेम को ग्रहण किया है।

महाप्रभु श्री चैतन्य देव जब दक्षिण भारत में तीर्थाटन कर रहे थे, वहाँ उन्हें राय रामानन्द के दर्शन हुए थे और दोनों में साध्य तत्व के सबध में बहुत विस्तार के साथ बातें हुई थी। श्री राय रामानन्द ने बहुत ही विस्तार के साथ साध्य साधन के क्रम-विकास पर प्रकाश डाला है।

प्रभु ने पूछा—मनुष्य का जो कर्तव्य है उसका कथन कीजिये।

राय महाशय ने कहा—प्रभो ! मैं समझता हूँ, अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कार्य करते रहने से मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो सकता है।

प्रभु ने कहा—हाँ, यह तो ठीक ही है। कोई और उपाय बताइये।

‘अपने सब कर्मों को भगवान के चरणों में अर्पित कर दिया जाय। सब कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाय।’

‘बात तो बड़ी सुन्दर है परन्तु इससे भी आगे कोई बात हो तो कहिये।’

‘सत्-असत् का विचार करते हुए भगवान् की निरन्तर भक्ति करते रहना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है।’

‘कोई सरस-सा उपाय बताइये।’

‘भगवान् की विशुद्ध भक्ति ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।’

‘यह तो मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु भक्ति किस प्रकार की जाय, यह और बताइये।’

‘प्रेमपूर्वक भक्ति करने से ही प्रेममय प्रभु का प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम ही उनका स्वरूप है, वे रसराज रसिकशेखर हैं, इसलिये जैसे भी हो उस रससिन्धु में घुस कर खूब गोते लगाना चाहिये।’

‘परन्तु उस रस का आस्वादन कैसे हो?’

‘भगवान् के प्रति दास्य भाव रखना ही सर्वश्रेष्ठ है।’

‘परन्तु इससे भी बढ़कर तो कोई सम्बन्ध होगा न?’

‘हाँ, सख्य-सम्बन्ध इससे भी बढ़कर है। यथार्थ रसास्वादन तो सख्य-प्रेम में ही होता है।’

‘परन्तु प्रेम का कोई ऐसा रस बतलाइये जो हर हालत में एकरस बना रहे।’

‘वह है वात्सल्य-भाव।’

‘इससे आगे भी कोई भाव हो तो उसे मुझसे कहिए।’

‘वह है कान्ता-भाव। बस, इसी में जा कर सभी रसों और सभी भावों की परिसमाप्ति हो जाती है।’

‘परन्तु कान्ता-स्नेह से भी बढ़कर जो कुछ हो, उसे कृपया बता दीजिये ।’
 ‘बस बस प्रभो !’ इससे आगे अब कह नहीं सकता, वह अत्यन्त गोपनीय है । भला श्री राधारानी के प्रेम की प्रशंसा कौन कर सकता है ? उनका ही प्रेम तो सर्वश्रेष्ठ है ।’

भगवत्प्रेम की इस दिव्य मधुर साधना में शरीर को कसना नहीं पड़ता ; यम नियमादि के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता । साधारणतः देखा जाता है कि लोग समय के पीछे ही परीशान रहते हैं, विषयो से मन को मोड़ने में ही जीवन को खो देते हैं और इस संघर्ष में ही उनकी सारी शक्ति लग जाती है, फिर भी वे मन को जीत नहीं पाते । परन्तु भगवान् के प्रेम का एक कण भी जिसे मिल गया उसकी सारी इच्छाएँ, सारी वामनाएँ नष्ट हो कर निर्मूल हो जाती हैं । जिन इन्द्रियो पर यती और तपस्वी लोग समय करते हैं फिर भी नहीं कर पाते, उन इन्द्रियो को भक्त भगवान् के चरणों में निवेदित कर देता है । स्त्री, पुत्र, घर, शरीर, सब-का सब कृष्णार्पण कर देता है और सच पूछा जाय तो वास्तविक पूजा है भी यही ।

प्रेम तो परस्पर हृदय का आदान-प्रदान है—भगवान् को अपना हृदय देकर हमने भगवान् का हृदय पाया क्योंकि इस प्रेम पथ में तो भगवान् भी मनुष्य का प्रेम पाने के लिए उतना ही पागल है जितना मनुष्य भगवान् का प्रेम पाने के लिए । भगवान् को भी हमारी उतनी ही आवश्यकता है जितनी हमें उनकी है । इस प्रेम में दोनों ही एक दूसरे के पीछे दीवाने हैं । भगवान् अपनी सारी भगवत्ता भुलाकर भक्त के पीछे-पीछे प्रेम की भीख माँगते फिरते हैं ।

रवि बाबू का इस विषय पर एक बहुत ही सुन्दर गीत है जिसका संक्षेप भावार्थ यो है—

युग-युग से मेरा हृदय-कमल खिलता चला आ रहा है जिसमें हम तुम बँधे हुए हैं । इस कमल के दल एक-पर-एक खुलते जा रहे हैं—मानो कहीं इस का अंत ही नहीं है और इस कमल-कोष का मधु इतना मीठा है कि तुम एक मृग भ्रमर की तरह इसे एक क्षण के लिए भी छोड़ नहीं पाते—इसी लिए तो तुम बँधे हुए हो, और मैं भी बँधा हुआ हूँ । इससे मुक्ति कहाँ ?

यह स्थूल जगत् जिसमें विषमता तथा विरोध के प्रवाह चल रहे हैं, वस्तुतः भगवान् की लीलाओं का विलास मात्र है । तह में प्रवेश करनेवाले भावुक भक्तों ने अणु-अणु में उसी ‘एक’ परम रूप की मोहक छवि को ही

देखा है । इस विभिन्नता के भीतर से एकता को निकालना यथार्थ ज्ञान है । बर्फ की इस विशाल चादर के नीचे मधुर प्रेम का अविच्छिन्न सोता बह रहा है । चराचर के यावत् पदार्थों में एक शृङ्खला है, एक सिद्धांत है, एक नियम है, एक व्यवस्था है । इसी विराट् विश्व-प्रवाह में, इस अविच्छिन्न रस-स्रोत में आ मिलना ही सच्ची साधना है, अणु-अणु में विकीर्ण उस परम रूप की परिछाही के स्पर्श में आ जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है । यह तभी संभव है जब 'बूतों के परदे में छिपे हुए खुदा' को देखते हुए सब भूतों तक, विश्व के यावत् चराचर तक हृदय को फैलाकर जगत में भाव-रूप में हम रम जायें । यही परम भाव का उत्कृष्ट स्वरूप है ।

अध्यात्म और शृंगार

*All music is only the sound of His laughter,
All beauty the smile of His passionate bliss;
Our lives are His heart beats, our rapture the bridal
Of Radha and Krishna, our love is their kiss*

—Sri Aurobindo

अध्यात्मने शृंगार को अस्वीकार नहीं किया है, प्रत्युत् उसे पूर्णतः अस्वीकार कर उसे पार्थिव स्तर से ऊँचा उठाया है, दिव्य बनाया है, सब्लिमेट (Sublimate) किया है। 'रति' शब्द जिसका व्यवहार साधारणतः हल्के अर्थ में होने लगा है अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत गम्भीर एवं रहस्यमय भाव का द्योतक है। 'आत्मरति' अध्यात्म की एक परम दिव्य स्थिति है। जिसमें आत्मा स्वयं आत्मा में ही 'रति' करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने शृंगार को ही आध्यात्मिक साधना का प्रमुख हेतु माना है। स्टैनली हाल ने तो यहाँ तक कहा है कि भगवत्प्रेम मानव हृदय की शृंगार वासना का ही दूसरा रूप है।* इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शृंगार का कला और अध्यात्म के साथ गहरा सम्बन्ध है। शृंगार के आकर्षण से मनुष्य के हृदय में एक भाव विशेष की सृष्टि होती है सौंदर्योपासना की वृत्ति जागृत होती है और यही है धर्म की मधुर अनुभूति का श्रीगणेश। सन्त ज्ञानदास ने गाया है—

रूप लागि आँखि झूरे गने मन मोर
प्रति अंग लागि काँदे प्रति अंग मोर ।
हियार परश लागि हिया मोर काँदे,
परान पीरिति लागि स्थिर नाहिं रांधे ॥

*Love of God and the LIBIDO have the same mechanisms and religious and sex normality and abnormality are very closely connected. Love rules the camp, the court, the grove for, Love is God and God is love'

रूप-रस के लिये आँखें झुरा रही है; गुण श्रवण कर मन विभोर हुआ जा रहा है। मेरा प्रत्येक अंग तुम्हारे प्रत्येक अंग का सग प्राप्त करने के लिये व्याकुल है। तुम्हारे हृदय का स्पर्श पाने के लिये मेरा हृदय तड़प रहा है और तुम्हारी प्रीति के लिये प्राणों को एक क्षण भी शान्ति नहीं, चैन नहीं।

ससार के प्राय सभी धर्मों ने मनुष्य की कोमल स्नेह-वृत्तियों को भगवान् के पथ में मोड़कर भगवत्प्राप्ति के एक अचूक साधन रूप में स्वीकार किया है। शृंगार वृत्ति में सभी वृत्तियों का समाहार होता है और जब यह वृत्ति अध्यात्म-पथ में मुड़ती है तो मनुष्य आध्यात्मिक प्रणय एवं तज्जन्य आनन्द की दिव्य मगलमयी, मोदमयी रसानुभूति में अपनी समस्त चेतना को खो बैठता है। भगवान् के साथ उसका एक निराला सम्बन्ध हो जाता है— वह सर्वथा भगवान् का और भगवान् सर्वथा उसके हो जाते हैं। और इसी आनन्दातिरेक की अवस्था में वह गाता है—

लाख लाख युग हिय बिच राखल,

तबु हिया जूड़ न भेल।

लाख-लाख युगों से मैंने उसे अपने हृदय में छिपाया है फिर भी हृदय जुड़ाया नहीं।

कितनी विचित्र-सी बात है कि जो शृंगार-वृत्ति उच्छृङ्खल दशा में हमारे लिये घोर पतन एवं पापाचार का कारण थी वही जब सयत होकर पति-पत्नी के सम्बन्ध में मर्यादित हो जाती है तो समाज के महान कल्याण का कारण बन जाती है और फिर वही जब अध्यात्म के पथ में प्रवाहित होती है तो भगवत्साक्षात्कार का सुदृढ़ सेतु बन जाती है क्योंकि उस समय हमारी सारी इन्द्रियाँ प्रेमस्वरूप प्रभु के प्रेमास्वादन में छकी रहती हैं, उसके रूप-रस का पान करती रहती हैं। अध्यात्म का पथ हमारे लिये अत्यन्त सरल एवं सरस हो जाता है, परम स्वाभाविक, परम मनोहर।

‘इन नैनन मेरा साजन बसता

डरती पलक न लाउँ री।’

सूफियों ने तो इश्क मजाजी को इश्क हकीकी का एक प्रबल कारण माना है। जब हमारी सभी इन्द्रियाँ भगवान् के रूप-रस का पान करने लग जायँ, भगवान् का आस्वादन करने लगे तब समझना चाहिये कि हमारा प्रेम मजाजी से हकीकी की ओर मुड़ गया है। इस ससार में जो कुछ भी ‘सुन्दर’ है वह भगवान् की सुन्दरता की ही झलक है और इस सुन्दरता का आस्वादन करने

के लिये मनुष्य युग-युग से नाना नाम और नाना रूपों की चादर ओढ़े, नाना जन्मों के द्वार को लौघता चला आया है ।

पृथ्वी के एक-एक कण में, जर्-जर् में भगवान् की दिव्य रूप-सुधा छलक रही है । गुलाब में, शमा में, सूर्य में, लैला के जूल्फों में, सुरा में, साकी में, सुराही में — बस उसी प्यारे का सौन्दर्य-मधु छलक रहा है । सर्वत्र रूप का हाट लगा हुआ है, सौन्दर्य का सागर उमड़ा आ रहा है । उसी का आकर्षण पाकर शलभ दीपक की लौ में अपने आपको दे डालता है । उसी का इशारा पाकर बालारुण की कोमल किरणों के शीतल मधुर स्निग्ध स्पर्श में कमल अपना हृदय-कोष खोल देता है । आम की रसभरी मजरी की मदमाती बयार कोयल के हृदय में एक दर्द, एक मीठी व्यथा जगा देती है । लैला के अलकों में मजनू का हृदय बँधा हुआ बल खा रहा है । शीरी के अधरो पर फरहाद ने अपना जीवन-मधु उँडेल दिया । अरे, जहाँ भी 'पदाँ' है, उस पदों के भीतर वह 'पर्दानशी' है ही । हृदय जहाँ भी, जिस कारण भी प्रेम से आकृष्ट हुआ है, यह निश्चय है आकर्षण का जाल बिछानेवाला वही रसिको का सरदार है । उसके प्रेम का आस्वादन करके ही हम जीवित हैं, उसके प्रेम की भिक्षा के लिये हम दर दर ठोकरें खाते फिरते हैं, — जिसने भी जब कभी किसी 'सुन्दर' को प्यार किया, सच मानो उसने 'उसे' ही प्यार किया ।

या मोहन के मैं रूप लुभानी ।

सुन्दर बदन कमलदल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी ॥

जमना के नीरे तीरे धेनु चरावैं बसी में गावैं मीठी बानी ।

तनमन धन गिरवर पर वारूँ चरण कँवल मीरा लपटानी ॥

रूप का प्यासा मानव अनन्त जन्मों से उस रूप-मुधा का पान करता आया है और इस अमर अनन्त यौवन-वसन्त में वह सदा ही अपने प्राणप्यारे के प्रगाढ़ आलिङ्गन में आबद्ध है — कभी एक क्षण के लिये भी छुटकारा हुआ ही नहीं, अलग हुआ ही नहीं — प्रेमी प्रियतम की गोद में, प्रियतम प्रेमी की गोद में —

I am He whom I love,

He whom I love is I

We are two Spirits

Dwelling in one body.

सहजिया सम्प्रदाय जिसका विशेष विकास उत्तरकालीन बौद्ध बिहारो और सधों में हुआ था शृङ्गार को अध्यात्म का सर्वोत्तम साधन स्वीकार

करता है । वासना-रहित प्रेम के द्वारा स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की उपासना करे—इसीसे उसे आत्म-प्रकाश का दर्शन होगा । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों की ओर भी साधक का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया गया है और उसे सावचेत रहने का आदेश किया गया है । 'सहज' का अर्थ ही है स्वभाव-सिद्ध । इन्द्रियजन्य आकर्षण एवं वासना को सहजिया स्वभाव का विकार मानते हैं और इस पर विजय प्राप्त करके ही इस साधना-पथ में प्रवृत्त होने की स्वीकृति देते हैं । प्रणय की अत्यन्त प्रगाढ़ अवस्था में भी वासनारहित होकर जो इस प्रेम-साधना के मार्ग में शून्यवत् होकर प्रवृत्त होता है वही इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकता है । इस सहजिया सम्प्रदाय में पीछे कई वैष्णव तथा तान्त्रिक भी सम्मिलित हो गये । वैष्णवों ने इसके प्रेम अंश पर ही विशेष जोर दिया और तान्त्रिकों ने नारी-पूजन पर ।

सहजिया सम्प्रदाय के गुप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में इनकी पूजा-अर्चा का विधि-विधान बहुत विस्तार से मिलता है । आरम्भ में साधक को किसी परम सुन्दरी से परिचय बढाकर उसका प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा करनी पड़नी है; परन्तु इस बात की बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है कि वह एक क्षण के लिये भी स्खलित न हो जाय । फिर चार महीने तक उस प्रियतमा के चरणों में पड़ा रहना पड़ता है—परन्तु शर्त यह है कि उसका शरीर-स्पर्श न करे । इसके उपरान्त चार महीने तक उसकी शय्या में उसके पार्श्व में सोवे परन्तु अग सग न होने पावे और इसके अनन्तर उसके प्रगाढ़ आलिङ्गन में बँधकर भी एक क्षण के लिये भी अपनी स्थिति से विचलित न हो । सहज साधना में प्राणायाम आदि योग की कुछ क्रियाएँ भी चलती हैं और आत्मा का 'सनातन नारी' के रूप में ध्यान करने की विधि है और अपने शरीर के भीतर ही 'चार चाँद' पर ध्यान जमाया जाता है । पीछे जाकर चाहे जो भी विकृति इस सम्प्रदाय में आ गयी हो, आरम्भ में इसका उद्देश्य यह था कि पुरुष के भीतर नारी के प्रति और नारी के भीतर पुरुष के प्रति जो आकर्षण एवं चत्सुकता है उन्हें साधना के द्वारा जीत लिया जाय ।

बगाल के परम वैष्णव कवि चण्डिदास माता वाशुली के उपामक थे परन्तु उनका 'रामी' नाम की एक रजक-कन्या से अटूट प्रेम था । इस 'अशिष्ट' प्रेम के कारण समाज से वे बहिष्कृत भी हो गये थे परन्तु उनके आध्यात्मिक प्रेम की प्रेरणा 'रामी' ही थी और उसे जगज्जननी, महामाया,

महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी, गायत्री, सीता और राधा के रूप में देखते थे । उसी रामी को सम्बोधित कर चण्डीदास ने गाया है—

तुमि हउ पितृ, तुमि वेदमाता गायत्री ।

तुमि से मंत्र तुमि से तंत्र

तुमि से उपासना रस

चण्डीदास की उपासना-पद्धति एव अनुभूति में प्यार और उपासना में कोई अन्तर नहीं है और स्त्री-पुरुष का जो प्रेम है वही प्रेम भक्त-भगवान् के बीच भी है । यह अनुभूति केवल चण्डीदास की ही नहीं है । भक्ति जब एकान्तत प्रेमाश्रयी हो जाती है तो वहाँ समस्त प्रेम का केन्द्र-बिन्दु भगवान् ही बन जाते हैं और भगवान् से ही भक्त समस्त सुखों का उपभोग करता है । मैदम ब्रूयर (Me Bruyere) फ्रांस के एक बहुत सम्भ्रान्त कुल की ललना थी । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मुझे 'उस' के अपार प्रेम का आस्वाद मिला है—'Most intimate favours of the Bridegroom' उसके प्यार में मैंने अपना सतीत्व गँवा दिया । उसने अपने चुम्बनो से मेरे अन्तरतम के प्राण को पी लिया और मैं 'उस' में मिलकर डूब गयी ।*

मीरा ने गाया है—

आली रे मेरा नैनौं बाण पड़ी ।

चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अडी ॥

कबकी ठाढ़ी पंथ निहाळैं अपने भवन खड़ी ॥

कैसे प्राण पिया बिनु राखूं जीवन मूर जड़ी ।

मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगड़ी ॥

दुनिया ने ऐसी को 'बिगड़ी' कहा ही है, बराबर 'बिगड़ी' ही कहा है परन्तु इन 'बिगड़ी' को संसार की आलोचनाएँ सुनने का अवकाश ही कहाँ है ? वे क्या जाने कि इससे भी 'बनी' हुई कोई स्थिति होती है ।

हसीनाने जहाँ उजड़ी हुई महफिल में रहते हैं ।

जिन्हे बरबाद करते हैं उन्हीं के दिल में रहते हैं ॥

*" Love of the Bridegroom triumphed over my chaste humility. What a swoon of love when the lips of the Bridegroom drew the substance of life from me and through His caresses when I felt myself passed into Him"

रास और चीर-हरण का रहस्य

वैष्णव-संप्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों में 'परम भाव' के उपासकों को यमुनातट, वशीवट, करीर-कुञ्ज, वृंदावन की गलियाँ तथा उनमें होनेवाली रास की क्रीड़ा ने बहुत अधिक आकृष्ट किया है। परम भाव की सम्यक् उद्भावना में रास का बहुत हाथ है। मीरा की प्रेम-भावना भी रास और चीर-हरण की इन लीलाओं से मूलतः ओत-प्रोत है। मीरा ने इन लीलाओं का कही वर्णन तो नहीं किया है परन्तु इसके मधुर रस का आभास यत्र-तत्र उसके पदों की अन्तर्धारा में स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के रास-रसोत्सव का वर्णन मीरा के पदों में मिलता नहीं। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि स्वयं मीरा श्रीकृष्ण की प्रणयिनी है। उसको यह नित्य निरन्तर स्थिति है, किसी साधना के द्वारा नहीं अपितु स्वयं हृदय के भीतर उसने श्रीकृष्ण को पति रूप में पाया है। एक सती साध्वी पत्नी अपने प्राणाधार पति का अन्य स्त्रियों के साथ रासविलास का वर्णन करती तो कैसे? भारतीय ललना के हृदय में यह भाव आ ही कैसे सकता है कि उसका पति किसी अन्य रमणी पर आसक्त है?

शरद की शोभनीया यामिनी में यमुना के तट पर दूर तक फैली हुई, लहराती हुई, कुंज-कुटीर में चन्द्र-ज्योत्सना छिटकी-बिखरी है। यमुना के नीले-नीले जल-प्रवाह पर भगवान् चन्द्रदेव अमृतवर्षा कर रहे हैं। वृंदावन की समस्त वन-भूमि मधुमयी हो गई है। निर्मल ज्योत्सना में स्नान कर कुसुमों से लदी हुई तरुलताएँ, ज्योत्स्नाप्लावित यमुना का पुलिन आज किसी अपूर्व आनन्द में 'किसी' के साथ क्रीड़ा करने की तैयारी में है।

सैकड़ों कुञ्ज-कुटीर हैं। श्रीभगवान् की विहार-वासना ने आज इसे पागल बना दिया है। वशी बजती है और —

बशी धुनि सुनि गोप-कुमारी ।

अति आतुर ह्वै चली श्याम पै
तन मन की सब सुरति बिसारी ॥

गल को हार पहिर निज कटि महँ,
कटि की किंकिणि गल महँ डारी ।

पग पायलने धरण कर में,
कर की पहुँचिया पगन मँझारी ॥

कान बुलाक, कपोलन बँदी,
नाक में पहिरि कान की बारी ।

एक नैन अंजन बिनु सोहँ,
एक नैन में काजर सारी ॥

कोउ भोजन पति परसत दौरी,
कोउ भोजन तजि दीन्ही थारी ।

‘नारायण’ जो जँसी हुती घर,
सो तँसेहि उठि विपिन सिधारी ॥

भगवान् के अकस्मात् अन्तर्धान हो जाने पर उन्हें न देखकर गोपाङ्गनाएँ व्याकुल होकर विलाप करने लगीं । उन्मत्त के समान एक वन में जा-जा कर श्रीहरि का पता वृक्षों से पूछने लगीं । इधर, भगवान् श्रीकृष्ण और सब गोपियों को छोड़ कर जिस एक गोपी को लेकर एकान्त में आये थे उस प्रेमगविता गोपाङ्गना ने श्रीकृष्ण से कहा—‘प्यारे ! मुझसे अब अधिक नहीं चला जाता; तुम्हारी जहाँ चलने की इच्छा हो मुझे कधे पर चढ़ लो’ । ऐसा भगवान् ने उस प्रियतमा से कहा, ‘अच्छा तुम मेरे कधे पर चढ़ लो’ । ऐसा सुन ज्योंही वह कधे पर चढ़ने के लिए तैयार हुई, भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर कृष्णचन्द्र के आगमन के लिये अत्यन्त उत्सुक वे समस्त गोपियाँ फिर जमुना की रेती में लौट आयीं और परस्पर मिलजुल कर उन्हीं का गुणगान करने लगीं ।

‘गोपीगीत’ यही से आरम्भ होता है जिसमें गोपियों ने अधरामृत पिलाकर जीवनदान की प्रार्थना की है । ‘गोपी गीत’ रास पञ्चाध्यायी का प्राण है । गोपियाँ भाँति-भाँति से प्रलाप करती हुई कृष्णदर्शन की लालसा से फूट-फूट कर रोने लगीं और फिर—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमान मुखाम्बुजः ।

पीताम्बरधरः स्त्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

कामदेव के भी मन को मथनेवाले भगवान् कृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किये मधुर-मधुर मसकान की फुलझडियाँ छोड़ते हुए उनके आगे प्रकट हुए । प्रियतम को आया देख समस्त ब्रजवालाओं के नेत्र आनन्द से खिल गये और सब-की-सब इस प्रकार खड़ी हो गई जैसे प्राणों के आ जाने से शरीर उठ बैठता है । उनमें से किसी ने अति आनन्दित हो अपनी अञ्जलि से भगवान् का करकमल पकड़ लिया, किसी ने उनकी चन्दन-चर्चित भुजा अपने कंधे पर रख ली और किसी ने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथ में ले लिया । एक विरह-सतप्ता बाला ने अपना चित्त शान्त करने के लिये अपने वक्षस्थल पर उनका कोमल चरणकमल रख लिया । किसी ब्रजवाला ने भगवान् को नयनों के पथ से हृदय में ले जाकर आँखें मूँद ली, फिर भीतर ही भीतर आलिङ्गन करने से उसके शरीर में रोमांच हो आया और वह परमानन्द में लीन हो गयी । फिर गोपियों ने कृष्ण के बैठने के लिए अपने कुचकुकुम-मण्डित दुकूल बिछा दिये ।

यही महारास शुरू होता है । दो-दो गोपियों के बीच योगेश्वर श्रीकृष्ण उनके गले में हाथ डाल कर खड़े हुए । उस समय सब गोपियों ने उन्हें अपने ही निकट समझा । रासोत्सव देखने के लिये उत्सुक देवगण तथा देवाङ्गनाओं के सैकड़ों विमानों से सम्पूर्ण आकाश भर गया । इधर, रासमण्डल में अपने प्रियतम के साथ नृत्य करती हुई गोपाङ्गनाओं के कङ्कण, पायजेब और करधनी के घुँघरुओं का महान शब्द होने लगा ।

अङ्गनामङ्गनाग्रन्तरे माधवो, माधवोमाधवो चान्तरेऽनङ्गना ।

इत्थमाकल्पितं मंडलं सुन्दरं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥

बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है, चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण । सारी प्रकृति रसमय, रासमय, आनन्दमय, कृष्णमय, मधुमय हो रही है । गोपियों के प्राण कृष्ण रसामृत से ओत-प्रोत हैं । नाचते नाचते सारी सुव-बुध खो जाती है—

“लोचन इयामह, बचनहि इयामह

इयामह चार निचोल ।

इयामह हार हृदय मणि इयामह

इयामह सखि कर कोल ॥”

श्रीमद्भागवत का 'रास पञ्चाध्यायी' इसी लीला-माधुर्य से ओत-प्रोत है। भगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। 'रेमे रमेशो ब्रज-सुन्दरीभिर्यथाभक्तं स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।' जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के साथ खेलता है वैसे ही श्रीकृष्ण और ब्रज-सुन्दरियो ने रमण किया। निखिल ब्रह्मांड रास के फाँस में गँथा हुआ है। राधा और कृष्ण का केन्द्र में होना प्रकृति तथा पुरुष की कौतुक-प्रियता तथा सयोग का ही व्यजक है। चारों ओर गोपियाँ-रूपी आत्माएँ अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ नाच रही हैं। कृष्ण सर्वत्र ओत-प्रोत है। सभी को 'वे' अपना-अपना भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परन्तु सभी गोपियों के हृदय-प्रवाह में कृष्ण 'एक रस' समान भाव से विद्यमान है। हमारा हृदय ही वृन्दावन का विहारस्थल है—जिसमें हमारे प्रेम के प्रवाह के तट पर श्रद्धा के कुबो के नीचे हमारी राधा-रूपिणी आत्मा अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ अनंत रास में सलग्न है। भगवान् श्रीकृष्ण हमारी आत्मा हैं। आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाह रूप से निरन्तर आत्म रमण ही 'रास' है।

चीर-हरण की लीला भी श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णित है। एक बार गोपियों ने कात्यायनी देवी का व्रत किया और उसी व्रतकाल में वे सब वस्त्र उतार कर स्नान कर रही थी। इसी बीच में श्रीकृष्ण भी वहाँ पहुँचे। गोपियों के नग्न स्नान पर उन्हें कुतूहल हुआ। वे उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब के ऊपर चढ़ गये और गोपियाँ जब अपना वस्त्र माँगने लगीं तब वे कहने लगे—

भक्ष्ये यदि मे दास्यो
मयोवत वा करिष्यथ ।
अत्रागत्य स्व वासासि
प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥

हे सुहासिनिगो ! यदि तুম मेरी दासी हो मेरी आज्ञा मानने को तैयार हो तो यहाँ आकर अपने वस्त्र माँगो ।

परन्तु सकोच की मारी गोपियाँ आगे बढ़ नहीं पाती। अपना नग्न रूप वे अपने प्राणवल्लभ के भी सम्मुख खोलने में हिचकती हैं। इसके उपरान्त का श्लोक है—

मूयं विवरत्रा यदपो धृतव्रता

व्यगाहतेततदु देव-हेलनम् ।

वद्धाञ्जलिं मूर्ध्निपनुत्तयेऽङ्गुसः

कृत्वा नमोऽधो वसने प्रगृह्यताम् ॥

तुमने व्रतधारण करके भी वस्त्रहीन होकर जल में स्नान किया इससे तुम्हारे द्वारा वरुणदेव का अपराध हुआ है । अतः उस दोष की शान्ति के लिये तुम मस्तक पर हाथ जोड़ कर उन्हें क्षुभ कर प्रणाम करो । और फिर अपने वस्त्र ले जाओ । भगवान् के इस प्रकार कहने में उन ब्रजबालाओं ने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करने से हमारा व्रत खण्डित हो गया अतः उसकी निर्विघ्न पूर्ति के लिए उन्होंने समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया । कृष्ण ने गोपियों से छल की बातें की, उनकी लज्जा छुड़ाई, उनसे हँसी की, उन्हें कठपुतलियों के समान नचाया और उनके वस्त्र हर लिये तो भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुई बल्कि अपने प्रियतम के सग से परम प्रसन्न हुई । उन्होंने अपने वस्त्र पहन तो लिए किन्तु प्रियतम के समागम में आसक्त होकर उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे वहाँ से चल न सकी बरन् लजीली दृष्टि से उन्हीं की ओर निहारती रही ।

सामीप्य और साहचर्य के रहते हुए भी हम अपने प्राणनाथ और अपने बीच परदा बनाये रखना चाहते हैं । हम पूर्णतः अपना नग्न हृदय अपने हृदय-सर्वस्व के सम्मुख रखने में सकोच करते हैं । हमें अपना आवरण ही प्रिय है । जो हमारे हृदय का स्वामी है उससे लाज किस बात की ?

निरावरण हो जाना ही साधन है । मन की गति विचित्र है । भगवान् को पाए बिना भी नहीं रहा जाता, पर्दा भी हटाते नहीं बनता । भगवान् भी मिले और आवरण भी रहे, यही जीव की इच्छा है । दुनिया के हँसने और अनावृत हो जाने का भय ही हमें भगवान् से मिलने नहीं देता । परन्तु 'वह' तो हमारे अनावृत हृदय को ही देखना चाहता है । गोपियाँ नग्न होकर, प्रेम-विभोर होकर, सब कुछ छोड़कर, सर्व-शून्य होकर, लोकलाज को तिलांजलि देकर परम प्रियतम को प्राप्त करने के लिये 'उन' के चरणों में दौड़ी आई हैं । इसी को 'Lifting of the veil' कहते हैं ।

श्रीकृष्णोपनिषद् में वर्णन आया है कि रामावतार में भगवान् के सुन्दर रूप को देखकर दण्डकारण्य के मुनिजन मुग्ध हो गये । भगवान् के रूप-रस का पान तो उन्होंने किया ही पर वे भगवान् का अङ्ग-सङ्ग चाहते थे,

भगवान् का आलिंगन करना चाहते थे और उनके अवरामृत से अपने प्राणों को तृप्त करना चाहते थे। उनकी इस आन्तरिक लालसा को देख कर भगवान् राम ने उन्हें वर दिया और वे ही गोपियों के रूप में प्रकट हुए।* कुछ गोपियाँ चित् शक्ति की और कुछ साक्षात् श्रुतियों की अवतार हैं। उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, सकोच और व्यक्तित्व भगवान् के चरणों में सर्वथा समर्पण कर दिया था—वे यही जपती रहती थी कि—“नन्दगोपसुत देवि पति मे कुरु ते नमः”—हे महामाये, हे महायोगिनि, हे कार्यायिनि। आप नन्दगोप के पुत्र कृष्ण को हमारा पति बनाइये, हे देवि। हम आपको नमस्कार करती हैं। ‘नन्दनन्दन हमारे पति हो’—यही उनके हृदय की निगूढ़तम लालसा है। फिर भी निरावरण रूप से वे श्रीकृष्ण के पास नहीं हैं। थोड़ी सी शिक्षक थी। यही शिक्षक दूर कर देने के लिये, उनकी साधना, उनके समर्पण को पूर्ण कर देने के लिये भगवान् ने उनका आवरण भग कर दिया, उनका आवरण रूप चीर हर लिया।

प्रेमी और प्रियतम के बीच एक हार का व्यवधान भी खलता है। इसी लिये श्रीकृष्ण ने कहा—मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो। एक बार, बस एक बार अपने सर्वस्व को और अपने को भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। गोपियो ने कहा—श्रीकृष्ण! हम अपने को कैसे भूले? हमारे जन्म-जन्म की धारणाएँ भूलने दें तब न? हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।

परन्तु श्रीकृष्ण इस परदे को कैसे रहने देते? उन्होंने प्रणय का जादू डाल कर इस आवरण को हटा ही दिया। आत्मा के आत्मा श्रीकृष्ण का निरावरण मिलन का मधुर आमंत्रण पाकर गोपियाँ प्रेम में निमग्न होकर प्रियतम के चरणों में दौड़ आयी। फिर न उन्हें वस्त्रों की सुध रही न लोगों का ध्यान रहा—उन्होंने न जगत् की ओर देखा न अपनी ओर!

*श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो विस्मिता बभूवुः। तं होचूर्णोऽवयमवतारान्वै गण्यन्ते आलिंगामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूय गोपिका भूत्वा मामालिङ्ग्य ग्रन्थे येऽवतारास्ते हि गोपाः नः स्त्रीश्च नो कुरु। अन्योन्यविग्रहं धार्य तवागस्पर्शनादिह। शश्वत्स्पर्श-यितास्माकं गृह्णीयोऽवतारान्वयम्।

वैष्णव भक्तों में चीरहरण और रास की लीलाएँ बहुत ही व्याप्त हैं। उनकी प्रेम-साधना का सम्बल ही यही है। इसी भावना के मधुर रस में वे डूबे। मीरा का सरल, निश्छल भावुक रमणी-हृदय इसके लिए सर्वथा उपयुक्त था। वह गाती है—

आज अनारी ले गयी सारी, बँठी कदम की डारी,
 म्हारे गेल पड्यो गिरधारी ।
 में जल जमुना भरन गई थी आ गया कृष्ण मुरारी ।
 ले गयो सारी अनारी म्हाारी, जल में ऊभी उधारी;
 सखी साइनि मोरी हँसत है, हँसि हँसि दे मोहि तारी ॥
 सास बुरी अरु नणद हठीली, लार लार दे मोहि गारी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की बारी ॥

इस पद में मीरा बार-बार कृष्ण को 'अनारी' कह रही है। इस 'खीझ' की मिठास पर बरबस मन खिंच जाता है। मीरा के पदों में बस इस एक ही स्थान पर चीर हरण का संकेत आया है। लज्जामयी 'कुलललना' का हृदय उक्त 'रस' में डूबकर भी अभिव्यक्ति से बचता रहा, और, रस की गोपनीय साधना में अभिव्यक्ति होती भी कैसे। बाइबिल की भाषा में कहना चाहे तो भगवान् के लिए उसकी साध ही उसे खा गयी—“My zeal for the Lord has eaten me up”

इस ऐकान्तिक माधुर्य-भावपूर्ण भक्ति की साधना मीरा के लिये सहज स्वाभाविक थी। उसमें स्वाभाविक भोलापन और उस रस के ग्रहण के लिये हृदय की पूरी रसमग्नता थी। मीरा के लिये कुछ बनना नहीं था—वह तो नित्यसिद्ध गोपी थी, स्वयं श्री राधारानी की प्रिय सखी ललिता की अवतार थी।

वेदना का सौन्दर्य

पिउ हिरदय में भेंट न होई

को रे मिलाव कहौं केहि रोई ? —जायसी

मजनूँ को लैला के वियोग के कष्ट से सहसा एक शारीरिक बीमारी उत्पन्न हो गयी । शोक की तीव्र जलन से उसके खून में उबाल आ गया जिसके कारण मजनूँ के शरीर पर दाने पड़ गये । वैद्य इसका इलाज करने को आया और कहा कि रग से खून निकालने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई इलाज नहीं । खून को निकालने के लिये इसकी रग फाड़ देनी चाहिये । इसको सुनने के पश्चात् एक चतुर फस्द खोलनेवाला आया । फस्द खोलनेवाले ने मजनूँ के हाथ बाँध दिये और अपना नस्तर निकाला । मजनूँ ने उसको डाँट कर पूछा, यह क्या है ? तू अपना वेतन ले ले और मेरी फस्द न खोल । फस्द खोलनेवाले ने कहा—भला तुम इस फस्द से क्यों डरते हो ? तुम तो वन के शेर, भेड़िये, रीछ, चीते जैसे फाड़ खानेवाले जानवरो से नहीं डरते । मजनूँ ने कहा—मैं नस्तर से नहीं डरता । मैं तो पहाड़ से भी अधिक धैर्य में अटल हूँ । मैं तो वह तीर खानेवाला हूँ कि बिना तीर लगे मेरे शरीर को चैन नहीं मिलता । मैं तो प्रेमी हूँ और जरूम खा-खाकर अकड़ा करता हूँ । परन्तु मेरे सपूर्ण शरीर में तो लैला ही व्याप्त है और इस शरीर रूपी सीपी में उठी मोती की झलक भरी है । इसलिए ऐ उस्ताद ! मुझे डर है कि यदि तू मेरी फस्द खोलेगा तो यह नस्तर कहीं लैला के न लग जाय । मुझमें और लैला में कुछ अन्तर नहीं । मैं लैला हूँ और लैला मैं है । प्रत्यक्ष में दो शरीर दृष्टिगोचर हैं परन्तु वास्तव में दोनों में एक ही प्राण है ।

कहीं सुन्दर रूप देख कर, कहीं मधुर शब्द सुनकर सुखी प्राणी भी उत्सुक

हो उठता है। उसके हृदय में किसी बिछूड़े हुए 'अपने' से मिलने के लिये कातर लालसा जग उठती है, अपने इष्टजन के विरह में प्राण रो उठते हैं—कुछ समझ में नहीं आता कि 'वह' कौन है, पर इतना तो समझ में आता ही है कि 'कोई' है जो हमारे प्राण को प्रणय की डोर से खींच रहा है—

रम्याणि बीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्

पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्व'

भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि—शाकुन्तल

यह उत्सुकता, यह प्रणयोत्कण्ठा जीव-जीव की हृदय-कन्दरा के भीतर निर्मल मणि की तरह जगमग-जगमग कर रही है। कविता सदा इस हृदय-मणि को उद्घाटित करती आई है।

मध्य-ह्न का समय था। महर्षि वाल्मीकि माध्याह्निक सन्ध्या करने के लिये तमसा के तट पर आये। उन्होंने पार्श्व में ही व्याधा के बाणों से क्रींच के जोड़े में एक को आहत देखा और दूसरे को उसके विरह में छटपटाते। ऋषि इस कष्ट दृश्य को देख कर अपने को सँभाल नहीं सके। उनका हृदय रो उठा। ऋषि के हृदयमें कष्ट का जल हलचल मचाने लगा। हृदय उमड़ आया। आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। इसी हृदयावेग में अनायास, अन्त का शोक श्लोक बन गया—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।

यत्कौचमिथुनादेकमवधौः काममोहितम् ॥

ऋषि का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा। छन्द, लय, ताल तो स्वयं आ गये। पीछे जाकर इस छन्द का 'अनुष्टुप' नाम पड़ा। कष्ट का गहरी ठेस से ऋषि में सोया हुआ 'कवि' जाग गया। फिर तो छन्दों का वह अबाध प्रखर प्रवाह चला कि सारा ससार उसमें बह गया। आदि कवि की यह व्यथा उनके 'महाकाव्य' का कारण बन गयी और काव्य की दृष्टि से अब भी वह महाकाव्य ससार का शिरोमणि है। दाते ने वियेट्रिस को बस एक ही बार देखा था—नदी-तट पर, उस अनिष्ट सुन्दरी की रूप-श्री में कवि का विह्वल हृदय सदा के लिए डूब गया और उसका समस्त काव्य उस प्रणय-स्मृति से ओत-प्रोत है। प्रणय तथा तज्जन्य वेदना की बांसुरी समस्त हृदयों में एक-सा आघात करती है, क्योंकि हृदय हृदय एक है—सब हृदयों में एक ही सुर बजता रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अंश में दार्शनिक, सन्त एव कवि होता है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अंश में पुरुष एव नारी दोनों होता है, किसी में पुरुषत्व भी विशेषता रहती है किसी में स्त्रीत्व की। एक व्यक्ति में दार्शनिक का चिन्तन जिस अंश में है उतने अंश में वह पुरुष है और जितने अंश में कवि का संवेदन है उतने अंश में स्त्री है। लगता है कि कविता प्रधानतः नारी हृदय का धर्म है। परन्तु बिना पुरुष और नारी के 'एक' हुए जीवन का कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। इसी को प्रेमियों की भाषा में प्रिया और प्रियतम का मधुर आलिङ्गन में 'एक' हो जाना—'identification with the Almighty Lover in a passionate embrace' कहते हैं।

दार्शनिक के चिन्तन में कवि की संवेदनशील अनुभूति तथा कविके संवेदन में दार्शनिक का गूढ़ चिन्तन जब पूर्णतः अलक्ष्य रूप से ओत-प्रोत होकर मिल जाता है तभी दर्शन एवं कविता दोनों अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। अतएव दार्शनिक में अनुभूति एव कवि में चिन्तन का होना अपरिहार्य है। प्रेम और ज्ञान का जब सम्मिलन होता है तभी जीवन का अन्तःसौन्दर्य खिल उठता है। प्रेम ही ज्ञान का रस है—ज्ञान ही प्रेम का प्रकाश है। प्रेम गहरे में उतरकर ज्ञान बन जाता है और ज्ञान हृदय के रस में डूबने पर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इस सबध में मेटर्लिक की ये पक्तियाँ स्मरण हो जाती हैं—'Wisdom is the lamp of love and love is the oil of the lamp Love sinking deeper grows wiser; and wisdom that springs up aloft comes over the nearer to Love' हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण सामंजस्य ही तो जीवन की चरम अभिव्यक्ति है।

खिले हुए फूलों, गदराई हुई अमराइयों, फूलों से लदी हुई लतावल्लरियों, झरनों के चिर अभिनव संगीत, तारों की अलौकिक झिलमिल भेदभरी छटा, पीयूष-वर्षी चन्द्रमा को देख विशाल समुद्र के हृदय-देश में अपूर्व उद्वेलन, ऊषा-संध्या की मनोहारिता, रमणी के निखरे हुए सौंदर्य तथा शिशु की कोमल, मधुर मुसकान आदि में एक अपूर्व आकर्षण है जो हमें अपनी ओर केवल आकर्षित ही नहीं करता अपितु हमारे हृदय को गुदगुदा देता है। इनमें हम उस 'परम छवि' की विकीर्ण आभा पाते हैं। 'देखें परमहंस परिछाई। नैन जोति सो बिछुरत नाही।' हमारे अन्तस् में कोई शीतल अथवा मधुर सस्पर्श की अनुभूति होती है। कोई हमारा 'अपना' है जो

इस शोभा का जाल बिछा कर हमे अपनी ओर खींच रहा है, बुला रहा है । प्रेम की बसी लगा कर वह हमारे हृदय को आकर्षित कर रहा है । बसी की डोरी इतनी लम्बी है कि हम उस अलक्ष्य 'शिकारी' को देख नहीं पाते, फिर भी हमारा हृदय उस बसी की गाँस में बेतरह उलझ गया है । हम अनुभव करने लगते हैं कि उस महातेजस् के हम भी एक अंश हैं जिसके चारो ओर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अपने ग्रह-नक्षत्रों के साथ चक्कर काट रहे हैं । हम अनुभव करते हैं और हमारे हृदय में एक हूक उठती है—

ये सब स्फुलिङ्ग हैं मेरी—
 उस ज्वालामयी जलन के,
 कुछ शेष चिह्न हैं वेबल,
 मेरे उस महा मिलन के—ग्राँसू.

प्यार की चोट खायी हुई मीरा ने स्थान-स्थान पर 'पूरब जनम की ब्याही', 'जनम-जनम की कँवारी', 'मेरी उनकी प्रीत पुराणी', 'पूरब जनम की कौल', 'जनम-जनम की दासी' आदि पदों में अपना उनका अनन्त सम्बन्ध माना है और इस सबध के कारण ही उसे उस पर 'अधिकार'-सा प्रतीत होता है । मीरा के काव्य में जितना भी भाव-सौन्दर्य है उसके मूल में यह आत्मीयता की भावना ही है । मीरा का सारा काव्य परम प्रियतम के पथ में आत्मा के अभिसार तथा अभिसारपथ की अनुभूतियों से भरा पड़ा है । इसीलिए उसमें जीवमात्र की व्यथा प्रतिबिम्बित हो रही है । कवि का अपना अनुभव जब जीव-जीव के अनुभव के रूप में प्रकट होता है, जब उसके निजी अनुभव का 'साधारणीकरण' हो जाता है तभी उसका काव्य काव्य है । मीरा का 'दुख' सर्वथा अपना होते हुए भी मानवमात्र का है । हम सभी उस दुःख में घुलते रहते हैं, उसकी तीव्रता का गहरा अनुभव हम मीरा की तरह भले ही न करे । मीरा के काव्य की प्रभविष्णुता का सबसे प्रबल कारण है उसका सरल निश्छल भावाभिव्यजन । मीरा की वेदना जीवमात्र की वेदना है, भगवान से बिछुड़े हुए और उसके प्यार में तड़पते हुए जीवमात्र की अन्तर्व्यथा है ।

शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक सुखान्त नाटकों की अपेक्षा हमारे हृदय को क्यो अधिक प्रभावित करते हैं ? हैमलेट, मैकबेथ और आथेलो तथा लियर को पढ़ते समय हमें अनुभव होता है कि जीवन की यही सही तस्वीर है । उनकी समस्या हमारी अपनी समस्या हो जाती है, उनका दुःख हमारा

दुःख हो जाता है और इसीलिए इन नाटकों में 'मानस-प्रक्षालन' (katharsis) की अपूर्व क्षमता है। यही बात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के साथ भी है। यदि दुष्पुत्र चुपचाप शाकुन्तला को स्वीकार करके अपने अन्तःपुर में रख लेता तो फिर हम 'शाकुन्तल' को क्यों पढ़ते? 'शाकुन्तल' का सौंदर्य तो इसीमें है कि निर्दोष शाकुन्तला का प्रत्याख्यान हुआ, वह मरीचि के आश्रम में प्राणधन की प्रणय-प्राप्ति के लिये साधना में लीन हो गयी। शृङ्गार जब करुणा में डूबता है तभी उसका वास्तविक सौंदर्य निखर उठता है। हमारी वेदना को उभारनेवाले दृश्यो एव उपकरणों का हमारे हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है उसके आघात-प्रत्याघात से स्वयं हमारे 'भीतर' सगीत छिड़ता है और वही सगीत 'कविता' है।

कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में रूप-रस की मदिरा छलक रही है, परन्तु वह पाँचवें सर्ग में तपस्या की आँच में पवित्र हो जाने के बाद ही 'पेय' होती है। शाकुन्तल के तीसरे अंक में जिस सभोग शृङ्गार का वर्णन है वह इतना मादक है कि उसे स्थिर और स्थायी बनाने के लिए कवि ने उसे तपश्चर्या की आँच में तपाया है। उत्तर रामचरित का तीसरा अंक पढ़कर 'अपि ग्रावारोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—वज्र का हृदय भी फूट-फूट कर रो पड़ता है। छाया सीता का समावेश कराकर भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' को विश्व के करुणरस-काव्य में सर्वश्रेष्ठ बना दिया है।

कवि के हृदय की व्यथा जब पाठक के हृदय में ढलकर अपना नशा लाती है तभी काव्य का सच्चा और पूर्ण रसास्वादन हो पाता है। इसे सभी जानते हैं कि सगीत में वेदना और उल्लास के दो तार हैं; वेदना का गभीर एव प्रभावशाली तथा उल्लास का हलका और क्षणिक। वेदना के गीतों का स्थायी प्रभाव सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। करुणा हृदय का प्रधान आहार एव आधार है। महाकवि भवभूति ने 'एकोरस करुण एव', शेली ने "Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts" तथा पत ने 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' द्वारा इसी सार्वभौम सत्य को व्यक्त किया है। 'करुणा' ही हमारे जीवन के अन्तर्जगत की मूल एव सच्ची अभिव्यक्ति है। इसी में वह शक्ति है जो हमारे हृदय के तार-तार को पूर्णतः झकृत कर दे। उपेक्षिता की आहों के सामने सृष्टि का समस्त शृङ्गार बेकार है। मृत्यु की भीषणता के सम्मुख जीवन का सारा साज-शृंगार कितना सारहीन प्रतीत होता है। इसी आवोन्मेष में शेक्सपियर ने कहा था—

*"We are such stuff as dreams are made on,
Our little life is rounded with a sleep"*

हमारा यह लघु जीवन स्वप्न-तन्तुओं से निर्मित है—और वह चारों ओर निद्रा से घिरा हुआ है ।

पर संसार के प्रत्येक रूप में 'उसी' का सौन्दर्य छलक रहा है, मानो पर्दे की ओट में, जहाँ भी पर्दा है, आवरण है, उसके भीतर वही 'जल्वागर' वही 'पर्दानशी' छिपा हुआ है । हृदय जहाँ भी जिसके द्वारा भी मुग्ध होता है, यह निश्चय है वह मुग्ध करनेवाला और कोई नहीं है, वही 'छलिया' है । उसके प्यार में हृदय रम रहा है, उसकी खोज में हृदय का स्पन्दन है । इस संसार के जिस किसी भी सुंदर पदार्थ को हम प्यार करते हैं—हमारा प्यार उसी 'एक' को ही पहुँचता है, हम उसी 'एक' को ही वस्तुतः प्यार करते हैं ।

विरह और मिलन, वेदना और उल्लास, दुःख और सुख मानव-जीवन के दो तार हैं । अद्वैत रूप में तो निर्विकल ब्रह्माण्ड तेजोमय, प्रणवमय, प्रकाशमय परमात्म स्वरूप है । सब कुछ 'एक' है । यह विश्व उस 'एक' की छाया या कृति ही नहीं है अपितु वही वह है । जायसी ने 'रूख समाना बीज मँह' तथा 'दूध माँझ जस घीउ' है—द्वारा उस परम रस से ओत-प्रोत इस ब्रह्माण्ड की भावना प्रकट की है । मीरा ने कहा है, 'तुम बिच हम बिच अतर नाही, जैसे सूरज घामा' । मिथी में मिठास वाली उपमा भी दी जाती है । 'वह' भीतर बाहर ऊपर नीचे ओत-प्रोत हो रहा है स्वयं अपने को बिखेर कर अणु-अणु में रम रहा है । निमित्त भी वही है, उपादान भी वही है । विश्व ब्रह्ममय है, सच्चिदानन्द-स्वरूप है; जो परिवर्तन हम देख रहे हैं वह मायाकृत, अज्ञानजन्य है । सोने के अलंकार रूप में बदल जाने पर भी उसका स्वर्णत्व नहीं मिटता । कलाकार अपनी कला रूप में स्वयं विद्यमान है—उसके भीतर भी और बाहर भी । उस चरम सौन्दर्य को उपनिषद् के 'कवि' ने—

“न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः

तमेव भान्तमनुभाति, तस्यैव भासा सर्वमिव विभाति ।”

द्वारा उसी एक परम ज्योति की ओर लक्ष्य किया है जिसकी ज्योति से सूर्य चन्द्र एवं नक्षत्र भागमान हैं । पुनः साधना के सँकरीले पथ की फिसलन का ध्यान रखते हुए उन्होंने साधक को पैर टिकाने के लिये कहा—

“प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥”

अर्थात् जिस प्रकार वाण अपने लक्ष्य में एकाकार हो जाता है उसी प्रकार साधक सावधानी से प्रणव के धनुष पर आत्मा का वाण चढ़ाकर ब्रह्म में तन्मय हो जाय ।

वही सच्चिदानन्दधन ब्रह्म भक्तों का परम प्रियतम प्राणाधार प्राणसखा है जो भक्तों के प्रेम के लिए उनके पीछे-पीछे घूमा करता है, भक्तों की चरण धूलि से अपने को पवित्र करने के लिए—‘पूययेदघ्निर्रेणुभिः’ । वही परब्रह्म परमात्मा भक्त के प्रेम-परवश होकर भक्त का सखा, स्नेही, मित्र, पुत्र, पत्नी बन कर भक्त के प्रेम का रसास्वादन करता और अपनी प्रीति का आस्वादन कराता है । प्रेम-लीला की स्फूर्ति के लिए ही यह सारा द्वैत है जो अद्वैत का ही चिह्निलास है । श्रीमद्भागवत में इसी का संकेत है—

वदति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यद्ज्ञानमध्ययम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥ १ २. ११.

हमारी आत्मा ही उस परम प्रियतम की प्रणयिनी है और जब तक दोनों का मिलन नहीं होता, जब तक दोनों मिलकर ‘एक’ नहीं हो जाते तब तक हमारा एकमात्र यही कर्तव्य है कि असीम धैर्य के साथ उस प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करे, हृदय का द्वार खोल कर, अन्तर में प्रेम की बाती बाल कर । यह प्रतीक्षा ही जीवन की परम मधुर अनुभूति है—

“The bride of the soul must be patiently waiting before the divine bridegroom can visit her—but the light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts and to be united with His consoling and all absorbing embrace.”

मोह से आक्रांत अर्जुन को भगवान् ने जब अपना विराट विश्वरूप दिखाया तब अर्जुन के अन्तश्चक्षु खुले । आँखें खुली तो देखा कि सब कुछ कृष्णमय है । अणु-अणु में केवल वही ‘एक’ है । सर्वत्र उसी एक जलवे को देखकर अर्जुन काँप उठे और भगवान् के चरणों में गिरकर साष्टांग दण्डवत करतें हुए, भय से काँपते हुए स्वर में कहने लगे—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधय कार्यं

प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।

पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्यः

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

‘प्रभो ! तुम्हारे चरणों में आर्त्ता होकर गिरा हूँ । तुम विश्ववरेण्य हो । जिस प्रकार पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, पति पत्नी के अपराध को क्षमा कर देता है उसी प्रकार तुम भी मेरे अपराध को क्षमा कर दो ।’ ‘उसे’ हम सर्वत्र देखते हैं परन्तु पहचान नहीं पाते । पता नहीं ‘वह’ किन-किन रूपों में हमारे पास आता है और हम से तिरस्कृत होकर लौट जाता है । फिर भी उसका आना और हमारा भूलना चलता रहता है । हमारी खोज हमारे निजी जीवन के वास्तविक व्यापार से अलग होकर चलती रहती है परन्तु, वस्तु तो हमारे जीवन के अन्तस् में, सूक्ष्म रूप में, प्रतिपल, प्रति क्षण बोल रहा है, सम्मुख आ रहा है । हम इसे जीवन का साधारण व्यापार समझ आँखें फेर लेते हैं और ‘उसे’ पा नहीं पाते । ‘वह’ हमारे जीवन की चलती धारा में ही हमारी आसक्ति के पर्दों को हटाने आता है । पर ‘उस’ के चुबन का रस हमारे अधर अनुभव नहीं कर पाते, उसके आलिंगन का आनन्द हमारे हृदय को पूरी तरह नहीं मिल पाता, उसकी आँखों का नशा हमारी आँखों में नहीं उतर पाता । वस्तुतः हम कुछ ऐसे व्यस्त-से हैं कि हमें इस महामिलन की सुध तक भी नहीं आती इसके स्पर्श की सिहरन को अनुभव करना तो दूर रहा । परन्तु एक बार ठेस लगती है और हमारी आँखें खुलती हैं । हम देखते हैं जीवन की प्रत्येक धडकन में ‘वही’ बोल रहा है । लज्जा से हमारा सिर झुक जाता है । हम उसके चरणों में अपना सिर टेक कर कहते हैं— प्रभो ! क्षमा करो ! मेरी इस चिर विस्मृति को क्षमा कर दो ! तुम मेरे भाई हो, माता हो, पिता हो, मित्र हो, सखा हो* नही-नही पति हो, सर्वस्व हो, प्राणाधार हो । मेरी भूल क्षमा कर दो, प्यारे । उस समय जब हम उसके साथ अपने इस सबंध का अनुभव करने लगते हैं तब हमारा पहाड़ सा भी अपराध कितना नन्हा दीखता है । प्रणयी अपनी प्रियतमा के अपराध की ओर ध्यान नहीं देता । वह सर्वथा सब काल उसी की है अतः वह उसके अपराधों का ध्यान न कर उसे सदा हृदय में बसाये रहता है । उस समय अपराध स्वयं प्रणय का रूप धारण कर लेते हैं । इस प्रकार परमात्मा को परम प्रियतम के रूप में पाकर आत्मा की चिरन्तन भूख प्यास शान्त होती है क्योंकि उस अवस्था में हम अपने ‘प्यारे’ को शरीर-मन-प्राण से, सब प्रकार से, शरीर से शरीर को मनसे, मनको, प्राण से प्राण को पाकर अपने आपको पूर्णतः जुड़ा पाते हैं । मिलन के इसी आनन्दोल्लास में मीरा ने कहा—

म्हारी ओलगिया घर आया जी ॥

तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी ।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूँ आनंद आया जी ।
मगन भई मिली प्रभु अपणासूँ, भौ का दरद मिटाया जी ॥
चद को देखि कमोदणि फूलें, हरखि भया मेरी काया जी ।
रग रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिंघाया जी ॥
सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु मैं पाया जी ।
मीरा बिरहणि सीतल होई, दुख दुन्द दूर नसाया जी ॥

तथा

जोसीड़ा ने लाख बधाई रे, अब घर आयो स्याम ॥
आजि आनन्द उमँगि भयो है, जीव लहै सुखधाम
पाँच सखी मिली पीव परसि कै, आनँद ठाम ठाम ॥
बिसरि गई दुख निरखि पिया कै, सुफल मनोरथ काम ।'
मीरा के सुखसागर स्वामी, भवन गवन कियो राम ॥

यहाँ 'पाँच सखी' का अर्थ है—शरीर, मन, प्राण, हृदय और आत्मा ।
इन सभी के द्वारा उस परम प्रियतम के मिलन की आनन्दोपलब्धि हुई ।
ये धन्य हुए ।

'Mystical love then burns with a sacred flame which lights up and dedicates to God all that is noble and pure as well as the ignoble and sensual in the mind. In the cup of reciprocal tenderness and devotion, full to the brim and spilling on all sides repression or fulfilment, holiness or unholiness are swept away and in the new innocence and spontaneity of the senses a human passion stands unmasked and unabashed only for Unity with God'—*Theory & Art of Mysticism*

परमात्मा को पति के रूप में अनुभव करते हुए अपने को उसके चरणों में सम्पूर्ण भाव से आत्म-समर्पित करने की भावना को ही 'परम भाव' या मधुर भाव कहा गया है । उस समय जीवन और मृत्यु, सुख और दुख, मिलन और विरह का द्वैत नष्ट हो जाता है । अपना भला बुरा सब कुछ प्राणधन के चरणों में निछावर हो जाता है । बस एक ही राग, एक ही आलाप, एक ही ताल और एक ही स्वर रह जाता है—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।' हम अनुभव करने लगते हैं कि ससार की जो कुछ

छवि है 'उस' की है, जो कुछ रूप-माधुरी है—उसीकी है। यहाँ द्वैत रहते हुए भी अद्वैत है, अद्वैत होते हुए भी द्वैत है। स्पष्टतः कुछ द्वैत और अद्वैत की भाषा में इस रस को नापा नहीं जा सकता। इसीसे यह अचिन्त्य भेदाभेद की अनिर्वचनीय स्थिति है। लहर-समुद्र से उठती और समुद्र में ही लीन हो जाती है और वह जल ही जल है। फिर भी लहर और समुद्र का परस्पर विलास प्रेम का आधार लेकर ही तो है। बस यही स्थिति प्रेम की चरम स्थिति है।

सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर
दाह देखे एक को दूजा नाहीं और।
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई
बूंद समानी समंद में सो कत हेरया जाइ ॥
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई।
समंद समाना बूंद में सो कत हेरया जाइ ॥

उस विराट् मिलन में सारी प्रकृति सराबोर है। बूंद में सारा समुद्र डूब रहा है। नक्षत्र और ग्रह उसी मिलन की तैयारी में चक्कर काट रहे हैं। उसीसे मिलने के लिये समुद्र अपना हृदय-सिंहासन बिछाए हुए है। उसी के लिए पृथ्वी अनवरत गति से गतिशील है—रात दिन, प्रति पल, प्रति क्षण। व्यक्तिगत साधना की चरम अनुभूति में जब हम अपने उपास्य में एकाग्र हो जाते हैं, 'तन्मय' हो जाते हैं तब हमारे लिए दूसरा कुछ रह नहीं जाता—

लगी मोहि राम खुसारी हो
रम झम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो ॥
चहुँ दिस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो।
सत गुरु भेद बताइया खोलि भरम किवारी हो ॥
मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो ॥

मरुभूमि के एक रास्तागीर ने मजनूँ को एक मैदान में चुपचाप शान्त और अकेला बैठा हुआ देखा। रेत को कागज और अपनी अँगुलियों को लेखनी बना कर वह किसी के लिए पत्र लिख रहा है। उसने मजनूँ से पूछा, ऐ मजनूँ! यह क्या बात है। तू पत्र लिखता है। यह किसके नाम लिखता है। मजनूँ ने उत्तर दिया, मैं लैला के नाम की मशक कर रहा हूँ, अपने हृदय को इसी प्रकार से धैर्य देता हूँ।

ऐसा भान होता है कि एक क्षण के लिये मिल कर हम उससे बिछुड़ गये हैं, उससे जिसके बिना हमारा जीवन ही असंभव है, जो हमारे प्राणों का प्राण एव हृदय का सर्वस्व है। क्षणिक मिलन में पाए हुए उस अमर चुबन के दाग को हम अपने अधरो पर देखकर वेदना से विह्वल हो उठते हैं। हृदय की घड़कन में भी वही 'परदानशी' अपना राग आलाप रहा है, हमारी साँसों में भी उसी की तान छिड़ी हुई है फिर भी वह हमारी पकड़ में नहीं आता ! यह कैसी पहेली है ! हमारी 'स्मृति' को जगाकर 'वह' छिप जाता है। हम कराह उठते हैं—हाय ! यह क्या हुआ—हमारा तुम्हारा मिलन इन असंख्य नक्षत्रों ने देखा है, इस वसुन्धरा ने तुम्हें हमारे अधरों का चुबन लेते देखा है। इस चन्द्रमा ने हमारे तुम्हारे आलिंगन को देखा है। इस ससार के सभी प्राणी हमारे तुम्हारे इस मधुर गोपनीय सबंध को जानते हैं, और आज उस का यह उपहास, उस प्रेम की यह उपेक्षा ? अरे आज तुम्हें मुझे लज्जित क्यों कर रहे हो ? इन नक्षत्रों, चन्द्रमा, सूर्य, वसुन्धरा के विविध उपकरणों के सामने कौन-सा मुख लेकर आऊँ ? एक क्षण के लिए अपने भुजपाश में बाँध कर अनन्त काल के लिए तुमने विरह की आग में जलने के लिये छोड़ दिया है ! फरियाद भी किससे की जाय ? तुमसे परित्यक्त होने पर फिर किससे शिकावा-शिकायत की जाय ?

इस प्रकार प्रेम और सौन्दर्य के रूप में प्रभु को पाकर उसके मधुर मिलन और रसमय विरह में मनुष्य की सारी वासनाएँ और लालसाएँ अपने आपको लय कर देती हैं; आनन्द और विषाद, ज्ञान और अबोधता सब कुछ उसी 'एक' में लोप कर मनुष्य अमर जीवन के आनन्द का उपभोग करने लगता है। एक बार प्रेम के मधुर आकर्षण में मुग्धा राधा को बाँध कर आजीवन तड़पने के लिये छोड़ कर नटनागर चले गये। कण्व के आश्रम में अल्हड़ शकुन्तला को प्रेम-वाण से घायल कर दुष्यन्त ने उसे अपनी भुजाओं में बाँध लिया, परन्तु फिर उसी छद्म प्रणयिनी अनाथ, गर्भवती शकुन्तला का भरी सभामें प्रत्याख्यान किया। स्त्री-मुलभ कौतूहल-प्रियता में पार्वती ने शिव से राम के विषय में पूछा। जरा सा अपराध परन्तु युग-युग के लिये परित्याग ! आग में अपनी परीक्षा दे चुकने पर भी गर्भवती सीता का अवधिहीन निर्वासन ! इन्हीं अल्हड़ परित्यक्त गोपियों, राधा, पार्वती, सीता और शकुन्तला की मूर्तियाँ जो हमारे काव्य की चिर निधि हैं हमारे अन्तस्तल से बोल रही हैं और हमें हमारे उस 'महामिलन' की स्मृति दिला रही हैं।

“God as Love and Beauty fulfils all man's fundamental impulses and interests. Love becomes the eternal expression of infinite beauty. The human lover becomes timeless in his sense of joy and beauty and foretastes the life immortal”

उस रूप-सुषमा का कभी भी अन्त नहीं होता । वह नित्य नूतन और अनन्त यौवन है । इसलिये वहाँ सदा ही अनन्त उपभोग है—वहाँ इस उप-भोग में मन-प्राण को किसी प्रकार की क्लान्ति या थकान का बोध नहीं होता ।

जिस वस्तु को हम पा लेते हैं अथवा इच्छा करते ही पा सकते हैं उसके प्रति हमारा वैसा कुछ ‘अनुराग’ नहीं रहता । किन्तु ‘उस’ को पाकर भी हम पूरे तौर से नहीं पाते, ‘उसे’ लेकर भी पूरे तौर से लेना नहीं होता,—‘नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च’—उसकी रूप-श्री और लावण्य की कही इति नहीं है, उसके सौंदर्य-माधुर्य की सीमा नहीं बाँधी जा सकती । उस रूपवान् चिर सुकुमार को सदा पाकर भी सदा पाते रहने की इच्छा बनी रहती है और हृदय बार-बार कुहक उठता है—

भज सखे ! भवत्किङ्करीः स्म नो

जलरुहाननं चारु दर्शय।

मीरा के आविर्भाव-काल में भक्ति की धाराएँ

भगवान् शकराचार्य के शुष्क ज्ञानवाद में जनता की वृत्तियों का पूरा-पूरा रमना सम्भव न था। विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक स्वामी रामानुज ने जन-समुदाय के हृदय को आकृष्ट करने के लिए एक बहुत बड़ा सहारा ढूँढ़ निकाला। स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत में 'प्रपत्ति' या शरणागति की साधना मुख्य रही और महाविष्णु के साथ महालक्ष्मी की उपासना चली। महालक्ष्मी ही इस सम्प्रदाय की आचार्या हैं इसीलिए इसका नाम 'श्रीसम्प्रदाय' हुआ। क्रमशः भगवान् श्रीकृष्ण का लोकरक्षक, लोकरजक रूप जनता के सामने आया, परन्तु श्रीमद्भागवत् के पीछे श्रीकृष्ण का लोकसग्रही रूप क्रमशः हटता गया और वे कार्यक्षेत्र से हट कर प्रेम के मधुर आलम्बन मात्र रह गये। श्रीमद्भागवत में अनेक दुष्टों और राक्षसों को सुगति देने वाले, गोवर्धन धारण करने वाले श्रीकृष्ण के रूप पर हमारा ध्यान उतना नहीं गया जितना गोपियों के साथ उनकी मधुर-मधुर लीलाओं पर। महाभारत के वीराग्रगण्य श्रीकृष्ण का रूप हमारी आँखों के सामने उतना नहीं ठहर सका जितना भागवत के प्रेमी श्रीकृष्ण का। श्रीवल्लभाचार्यजी ने तो लोक और वेद दोनों का अतिक्रमण कर के भगवान् श्रीकृष्ण के लोकसग्रही रूप को स्पष्ट शब्दों में हटाया। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेम-साधना के रूप में आ गई और इसी से इस में रहस्य भावना की गुंजाइश हुई। स्वामी वल्लभाचार्य (सं० १५३६-१५८७ वि०) ने जनता के सामने सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण की एकान्त भक्ति का एक बहुत ही सुव्यवस्थित निखरा हुआ रूप उपस्थित किया। स्वामी श्रीनिम्बाकाचार्य ने इसी भक्तिधारा को और भी अधिक हृदय-प्राहिणी और आकर्षक बनाया।।

राधा का स्पष्ट उल्लेख जो श्रीमद्भागवत में खटक रहा था वह इन वैष्णव आचार्यों द्वारा पूरा हुआ। भावित प्रेम में लय हो जानेवाली कही गई और प्रेम के आलबन, आश्रय, उद्दीपन, सञ्चारी आदि की पूर्ण व्यवस्था द्वारा जनता के सपूर्ण हृदय को इन प्रेममार्गी आचार्यों ने प्रेम-भक्ति से अभिभूत कर दिया। हृदय में प्रेम की प्रेरणा द्वारा समस्त इच्छाएँ एवं कामनाएँ भी कृष्णार्पण हो गई। भक्तजन अपना और भगवान् का सबध लेकर चलने लगे।

व्यक्तिगत आत्मानुभूति के लिये 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति भले ही समव हो परन्तु जनता के हृदय में प्रवेश कर भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का भाव दृढ़ करनेवाले तो ये भावुक, भक्तिवादी, द्वैत-सम्प्रदाय के आचार्य ही हुए। अद्वैत को लेकर जीवन के सभी कर्म और व्यवहार में ब्रह्मात्मैक्य की अक्षुण्ण भावना बनाए रखना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। स्वामी शंकराचार्य ने भी इस कठिनाई का अनुमान पहले ही कर लिया था और इसी हेतु गीता-भाष्य के आरम्भ में श्रीकृष्ण को परमेश्वर, मया के अधीश्वर, नियता तथा साक्षात् नारायण माना है। उनके प्रसिद्ध अनुयायी 'अद्वैतसिद्धि' के रचयिता, अद्वैत में परम निष्णात और तत्त्वविद् ब्रह्मज्ञ श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती ने तो 'कृष्णात्पर किमपि तत्त्वमहं न जाने' ही कहा था। उनका प्रिय श्लोक आज भक्तों के गले का हार हो गया है:—

वशीविभूषितकराग्रनीरवाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णन्दु सुन्दर मुखादरबिन्द्वनेत्रात्
कृष्णात्पर किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

जिन के कोमल हाथ मुरली से सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अंगों की आभा नूतन जलधर के समान साँवली है, तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्ब कलके समान लाल लाल ओठ, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख और कमल जैसे खिले हुए बड़े बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्ण से बढ़कर मैं दूसरे किसी तत्त्व को नहीं जानता। इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर से कट्टर मायावादियों ने भी भक्ति का आश्रय लिया है और श्रीकृष्ण को सन्निधानन्द ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप माना है।

मीरा का जन्म लगभग सं० १५५५ विक्रम माना जाता है। इस समय देश में भक्ति और ज्ञान की अनेक धाराएँ चल रही थी। इनकी गति-विधि को जान लेना आवश्यक होगा।

सब से पहली धारा निर्गुण सन्तो की है। मीरा के ठीक सौ वर्ष पूर्व कबीर का जन्म हुआ था। उनका पथ अभी भी बड़े वेग से चल रहा था यद्यपि उसमें भी जप, माला, छापा, तिलक का प्रवेश हो चुका था। फिर भी मूर्तिपूजा, छूआछूत, तीर्थाटन, सस्कार, जाति-पाँति आदि का विरोध करनेवाली रमते फक्कड़ साधुओं की टोली देश में 'निर्गुन' के पद गा-गा कर तथा अपने मन से भी रचे हुए पदों को 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' का भोग लगाकर प्रचार-कार्य में व्यस्त थी। उनमें न कबीर की तरह आत्मानुभूति ही थी और न आत्म-विश्वास का प्रखर तेज ही। हाँ, 'निर्गुन'-चिन्तन का लगा लगा रहा।

इन्हीं 'निर्गुनियों' फकीरों की भाँति गोरखपंथी दल भी तत्र, रसायन और हठ-योग द्वारा 'योग' का प्रचार कर रहा था। 'त्रिकुटी महल' में 'प्रीतम की सेज' सजानेवाले इला, पिगला, और सुपुम्ना को साधकर ब्रह्मानन्द में लय हो जाते थे। मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थ के बीच में लगता है वही एक त्रिकोण चक्र में स्थित स्वयम्भू लिंग है जो साढ़े तीन बलय में लिपट कर सर्प की भाँति अवस्थित है। इसे ही 'कुडलिनी' कहते हैं। मेरुदण्ड की बाईं ओर इडा और दाहिनी ओर पिगला है। इन दोनों के बीच में सुपुम्ना है। उसी के भीतर 'ब्रह्मनाडी' है जो कुण्डलिनी के ऊपर चढ़ने का असली मार्ग है। इसे ही जगाकर सुरग सुपुम्ना नाडी द्वारा ब्रह्म-रघ्रतक पहुँचनेवाले इन तांत्रिक हठयोगियों का भी दौर-दौरा राजस्थान में विशेष रूप से था। उन दिनों, सच पूछा जाय तो राजस्थान में निर्गुणियों और इन गोरखपंथियों की अजीब खिचड़ी पक रही थी।

मीरा के जीवन काल में ही उत्तर की ओर पंजाब में गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९६ वि०) ने अपने मत का प्रचार किया जिसमें निर्गुण निराकार की साधना के साथ-साथ नाम-प्रेम का अटूट सबध था।

जायसी का 'पद्मावत' वि० सं० १५९७ में लिखा गया था। 'पद्मावत' के पूर्व 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि प्रेम-गाथा की पुस्तकें लिखी जा चुकी थी। इससे स्पष्ट है कि सूफी फकीरों का प्रभाव उस समय देश में कम न था। 'प्रेम की पीर' लेकर हिन्दू जीवन के भीतर अपनी प्रेमसाधना को जाग्रत करनेवाले 'इश्कहकीकी' के इन प्रेम-प्रवण भावुक कवियों ने देश में एक अपूर्व लहर चला दी थी। अवधी भाषा में, सीधे-सादे दोहे चौपाइयों में

अपूर्व सहृदयता से अपने 'हिय की पीर' को व्यक्त करनेवाले इन प्रेममार्गी सूफी कवियों के गीत का देश ने बड़े उत्साह, चाह और उल्लास के साथ स्वागत किया ।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव (स० १५४२-१५६०) श्री वल्लभाचार्य के सम-कालीन थे । इधर ब्रजमण्डल, गुजरात-काठियावाड में वल्लभाचार्य कृष्णभक्ति में लीला-विहार का प्रचार कर रहे थे उधर बंगाल में महाप्रभु श्री चैतन्यदेव नाम-प्रचार में लीन थे । श्री चैतन्य देव ने भाव-प्रवाह में रम कर कीर्तन की प्रथा चलाई और 'महाभाव' का मूर्तिमान् आविर्भाव हुआ । प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य ही भगवान् की प्रधान विभूति मानी गई जिसका गौरांग महा-प्रभु ने अपने प्रेम-परायण भावमग्न हृदय में पूर्णतः अनुभव कर व्यक्तिगत साधना का वह स्रोत बहाया जिसमें लोक-हृदय को रम जाने का पूर्ण अवकाश एव क्षेत्र मिला । पथभ्रान्त मानवता को नाम और लीला का आधार मिला ।

रूप एव लीला में विहार करनेवाले नवद्वीप के इस परम भावुक प्रेमी भक्त ने आनन्द का जो स्रोत बहाया वह जयदेव के 'धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली' में पूर्णतः व्याप्त था । शृंगार की, मिलन-माधुरी की जो पराकाष्ठा 'गीत-गोविन्द' में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है । इसी प्रकार मैथिल-कोकिल विद्यापति के 'जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरि पित भेल' में भी प्रेम की अनन्त अतृप्त आकाक्षा की बड़े ही भावपूर्ण, मधुर छन्दों में उद्भावना हुई है । जयदेव तथा विद्यापति सभोग शृंगार के अपूर्व कवि हैं । नवद्वीप की यही पुनीत प्रेमधारा जो गीतों में बह रही थी मिथिला की अमराइयों में विरमती हुई ब्रजभूमि में अपने प्राणवल्लभ की चरणरज को लेकर नवीन चेतना एव प्राण से अनुप्राणित होती हुई राजस्थान की प्रेम की उस पगली पुजारिन के आँगन में उतरी ।

रागानुगा भक्ति और गोपीभाव

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत् ।

तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते ॥

—भक्तिरसामृतसिधु

इष्ट विषय में गाढ़ तृष्णा—यह है रागानुगा भक्ति का स्वरूप लक्षण और इष्ट में आविष्टता—यह है तटस्थ लक्षण । श्री जीव गोस्वामी अपने ‘भक्ति-सदर्भ’ में इसकी यो व्याख्या करते हैं—

तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गोच्छामयः प्रेमरागः यथा चक्षु-
रादीनां सौन्दर्यादौ तादृशा एवात्र भक्तस्य श्री भगवत्यपि राग इत्युच्यते ।

अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों को स्वभावतः ही विषय-संसर्ग की इच्छा होती है—जैसे आँखों से सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, कानों से मधुर राग के प्रति खिंचाव, उसी प्रकार भक्त को जब श्री भगवान् में आकर्षण या तृष्णा उत्पन्न हो जाती है तो उसे ‘रागानुगा’ कहते हैं ।

श्री कृष्णदास कविराज ने ‘श्री चैतन्य चरितामृत’ में इसी विषय की व्याख्या की है जो श्री जीव गोस्वामी कृत ‘भक्ति रसामृतसिधु’ की व्याख्या से बहुत मिलती जूळती है—

इष्टे गाढ़ तृष्णा रागस्वरूप लक्षण ।

इष्टे आविष्टता तटस्थ लक्षण कथन ।

रागमयी भक्तिर ह्य रागात्मिका नाम ।

ताहा सुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान् ॥

ब्रज के भक्तों की प्रेमसेवा की चर्चा सुनकर किसी भाग्यवान् के चित्त में जो लोभ होता है वह लोभ ही इस रागानुगा का मूल कारण है । श्री जीव गोस्वामी कहते हैं—

अस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु राग विशेष एव स्वयं तस्य तादृश रागसुधाकरकराभास समुल्लसित हृदयस्फटिकमणैः शास्त्रादि-श्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्ते परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते ।

इसी रागानुगा भक्ति को पुष्टि मार्ग में 'अविहिता भक्ति' कहते हैं—

माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ भक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तत्वात् कामाद्यु-
पाधिजात्वविहिता

—अणुभाष्य ।

श्री जीव गोस्वामी अविहिता का निर्णय यों करते हैं—

‘अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्त्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्तत्वात्’

रुचिमात्र प्रवृत्ति के कारण ही इस प्रकार की भक्ति को ‘अविहिता’ कहते हैं । श्री गोविन्दभाष्य में श्री बलदेव विद्याभूषण इसी को ‘रुचि भक्ति’ कहते हैं—

रुचिभक्तिर्मार्घ्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्तिरैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता । रुचिरत्ररागः । तदनुगता भक्ति रुचिभक्ति रुचिरभक्ति । अथवा रुचिपूर्ण भक्तिः । इयमेव ‘रागानुगा’ इति गदिता । श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री हरिव्यासजी ने अपनी ‘सिद्धान्त रत्नाञ्जलि’ टीका में अविहिता भक्ति का उल्लेख किया है । ‘महा-बाणी’ में उन्होंने सखी भाव से नित्य वृन्दावन में श्री राधा गोविन्द की युगल सेवा-प्राप्ति की साधना बतलायी है । महाबाणी में दास, सखा या पिता माता का उल्लेख नहीं है । गौडीय वैष्णवों की रागानुगा भक्ति के साथ श्री हरि व्यासजी की साधना का भेद सुस्पष्ट है । महाप्रभु के संप्रदाय में किसी भी भाव का तिरस्कार नहीं है—‘कुत्रापि तद्रहिता न कल्पनीया’ । श्री हरि व्यासजी में श्री कृष्ण की देवलीला-परायणता है परन्तु गौडीय वैष्णव केवल नरलीला में माधुर्योपासक हैं ।

रागानुगा भक्ति में स्मरण की ही प्रधानता है । श्री सनातन गोस्वामी ने ‘बृहद्भागवतामृत’ में इसका विस्तार से वर्णन किया है । इस साधन में मानसिक सेवा और सकल्प ही मुख्य हैं । रघुनाथदास गोस्वामी के ‘विलाप कुसुमाञ्जलि’ और श्री जीव गोस्वामी के ‘सकल्प कल्पद्रुम’ में रागानुगा भक्ति के अनुकूल सकल्प और मानसी सेवा के क्रम का बहुत सुंदर वर्णन मिलता है—

सेवा साधकरूपेण सिद्धिरूपेण चात्र हि ।

तद्भावलिप्सुता कार्या ब्रजलोकानुसारतः ॥

यथावस्थित देह ही साधक देह है और अंदर में अपने इष्ट श्री राधा गोविन्द की साक्षात् सेवा करने के लिये जो उपयोगी देह है वह सिद्ध देह है ।

सिद्ध देह से ही ब्रजभाव प्राप्त होता है । सिद्ध देह की भावना के सबध में 'सनत्कुमारतंत्र' में कहा गया है—

आत्मान चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोहराम् ।

रूपयौवनसंपन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम् ॥

अर्थात् गोपीभाव या ब्रजभाव में अपने को रूपयौवन सम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में सिद्ध देह से भावना करनी चाहिये । रागानुगा साधन में जो 'अजात रति' साधक है—अर्थात् जिसे रति की प्राप्ति नहीं हुई है उनको अपने लिये गुरुदेव के उपदेशानुसार सखी की सगिनी के भाव से मनोहर वेशभूषण से युक्त किशोरी रमणी के रूप में भावना करनी चाहिये । सखी की आज्ञा के अनुसार सदा सेवा के लिये उत्सुक रहते हुए श्री राधाजी के निर्माल्य स्वरूप अलकारों से विभूषित साधनों के सिद्ध रूप इस मजरी देह की भावना निरन्तर करनी चाहिये । मजरी स्वरूप में तनिक भी सभोग की वासना नहीं है । इसमें केवल सेवा-वासना है । जो 'जात रति' है—अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गयी है उनमें इस सिद्ध स्वरूप की स्फूर्ति अपने आप हो जाती है । प्राचीन अलवार भक्त शठारिमुनि के साधक देह में ही सिद्ध देह का भाव उतर आया था । उन्होंने अनुभव किया कि श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम है और अखिल जगत स्त्री स्वभाव है । अन्त में शठारि में कामिनी भाव का आविर्भाव हो गया था—

पुस्त्व नियम्य पुरुषोत्तमाविशिष्टे

स्त्रीप्राय भावकथनोज्जगतोऽखिलस्य ।

पुसां च रञ्जकवपुर्गुणवत्तयापि

शौरेः शठारि यमिनोऽजनि कामिनीत्वम् ।

—वैष्णव धर्म

गौडीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्ण भावनामृत' आदि ग्रन्थों के क्रमानुसार गुरु गौराङ्गदेव के अनुगत भावों से श्री राधागोविन्द की अष्टकालीन लीला का स्मरण करते हैं । इस लीला के ध्यान में ही मानसोपचार से इच्छित सेवा होती रहती है । श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में भी अष्टयाम की लीलाओं का स्मरण तथा पदकीर्तन मुख्य साधना है । प्रातःकाल की मंगला आरती से लेकर रात के विश्राम काल तक भिन्न-भिन्न समयों की भिन्न-भिन्न लीलाओं के लिये भिन्न-भिन्न राग रागिनियों में अनेकानेक पद गाये जाते हैं जिस में सहज ही भगवान् की विविध

लीलाओ का स्मरण चिन्तन एव ध्यान होता है और भक्त शरीर से चाहे जहाँ हो भाव-देह से निरन्तर भगवान् की सन्निधि में रहते हुए उनके अग-सग का अमृतोपम सुख लूटता है। वल्लभकुल के मन्दिरों में पदगायन लीला-विहार का परम दिव्य साधन है।

बगाल के साधक श्री निवास आचार्य किसी समय मजरी देह से श्री राधाकृष्ण का ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्री गोपीजनो के साथ श्री कृष्ण जमुना जी में जल-क्रीडा कर रहे हैं। श्री राधा के कान का एक कुण्डल जल में गिर गया। सखियाँ खोजने लगी। अन्तर्देह से इस कुण्डल की खोज में श्री निवास का एक सप्ताह का पूरा समय हो गया। साधक देह निस्पन्द आसन पर विराजमान था। रामचन्द्र कविराज आये तो वे भी सिद्ध देह से श्री निवास की अनुगता दासी के रूप में उनके साथ हो लिये और चतुर रामचन्द्र को एक कमल पत्र के नीचे राधाजी का कुण्डल दिखावायी पड़ा। उसी क्षण उन्होंने श्री निवासजी के हाथ में दे दिया। सखी मजरियो में आनन्द की तरंगें उछलने लगी। श्री राधारानी ने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान इन्हे पुरस्कार रूप में दिया। रामचन्द्र और श्री निवास दोनों ही सोकर उठनवालों की तरह साधक देह में लौट आये। देखा गया कि सचमुच श्री राधाजी का दिया हुआ पान-पुरस्कार उनके मुख में था।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की तरह एक भाव शरीर या सिद्ध देह भी होता है और साधक इसी भावदेह से भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन करता है। मीरा तो नित्य इसी भावदेह में ही विचरती थी। उसे कुछ बनना तो था नहीं। वह तो महाप्रभु चैतन्यदेव की तरह जगत् को प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिए इस घराघाम पर आई थी और अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के द्वारा भाव-भक्ति का आचरणात्मक उपदेश देकर वह अपने प्राणधन प्रभु के श्री-विग्रह में सशरीर समा गई।

तेरो कोई नहिं राखणहार, मगन होई मीरा चली ।
लाज सरम कुल की मरजाडा सिर से दूर करी ।
मान अपमान दोउ धर पटके, निकसी हूँ जान गली ।
ऊँची अटरिया लाल किबड़िया, निरगुण सेज बिछी ।
पचरंगी झालर सुभ सोहे सिन्दुर माँग भरी ।

सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी ।

सेज सुखमणा मोरा सोहैं सुभ हैं आज घरी ।

मीरा के पदों में भक्ति का पूर्ण विकसित रूप मिलता है, उसके प्रत्येक स्तर के दर्शन होते हैं । यह नहीं कहा जा सकता कि मीरा ने इस रागानुगा भक्ति की दीक्षा पुष्टि-साधना से प्राप्त की या गौड़ीय-साधना से । जन्म से उसे वल्लभकुल का संस्कार प्राप्त था पर आगे चलकर प्रेम की परवशता में वह वृन्दावन भी आयी थी और यहाँ जीव गोस्वामी से उसका मिलना हुआ था । अतः यह स्पष्ट है कि उसे वल्लभीय तथा गौड़ीय दोनों ही साधनाओं का मधु प्राप्त था और उसने संप्रदायों की सीमाओं का अतिक्रमण कर परम प्रेममयी 'रसीली भक्ति' का अमृत पीया ।

भगवान् के 'अनुग्रह' को ही 'पुष्टि' कहते हैं—'पोषण तदनुग्रह' । उस अनुग्रह से जो भक्ति या भगवत्प्रेम होता है उसे पुष्टि भक्ति कहते हैं । यह भक्ति स्वरूप से रागमयी है । शाङ्क्य ने इसकी परिभाषा—'सा परानु-रक्तिरीश्वरे' की है । नारद इसी को 'सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा' कहते हैं तथा 'पाचरात्र' में उसकी परिभाषा इस प्रकार है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः ।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तस्या मुक्तिर्न चान्यथा ॥

यह स्नेहमयी रागात्मिका भक्ति भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है । भगवान् का अनुग्रह साधन साध्य नहीं, वह साधन से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है, वह किसी साधन के परतत्र नहीं है । भगवान् भक्त के अधीन हैं, भक्त के भक्त हैं । अतः यहाँ असाधना ही साधन है ।

जैसे स्वर्ग, विसर्ग आदि श्री पुरुषोत्तम की लीलाएँ हैं यह भक्ति-अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला ही है । वह 'लीला' क्या है, 'सुबोधिनी' भा० ३, स्कध १ में वर्णित है—'लीला नाम विलासेच्छा । कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम् । न तथा कृत्या वहि कार्यं जन्यते । जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम् । नापि कर्तरि प्रयास जनयति । किन्त्वन्त करणे पूर्णो आनन्दे तदुल्लासेन कार्य-जनन सदृशी क्रिया क्वाचिदुत्पद्यते ।'

भगवान् स्वतः परिपूर्ण हैं, तृप्त हैं अतएव बिना प्रयोजन के ही—'लीला एव प्रयोजनत्वात्' लीला करते रहते हैं । भगवान् स्वतः तृप्त होते हुए भी चिर अतृप्त हैं । निष्काम होते हुए भी विलासेच्छु हैं । अद्वितीय होते हुए भी भक्त के प्रेम-पराधीन हैं ।

गुरु भक्त के हृदय में भगवान् की प्रीति का दान देकर उसका भगवान् से सबध करा देता है जिसे पुष्टिमार्ग में 'ब्रह्म-सबध' कहते हैं और इसी ब्रह्म-सबध के बाद शिष्य के हृदय में मिलन की लालसा होती है जिसे 'ताप' कहते हैं। यह ताप ही पुष्टिमार्ग की साधना का प्राण है। मीरा के पदों में यह ताप व्याप्त है।

भवनपति तुम घर आज्यो हो ।

बिथा लगी तनमाँहिने (म्हारी) तपन बुझाज्यो हो ॥

रोवत रोवत डोलताँ सब रंण बिहावँ हो ।

भूख गयी निदरा गयी, पापी जीव न जावँ हो ॥

दुखिया को सुखिया करो मोहि दरसन दीजँ हो ।

मीरा व्याकुल विरहिणी अब विलम न कीजँ हो ॥

तथा

दरस बिन दूखण लागै नैन ।

जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन ॥

सबद सुणत मोरी छतिया काँपै मोठे-मोठे बैन ।

बिरह व्यथा कासे कहूँ सजनो बह गयी करवत ऐन ॥

कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन ।

मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख दैण ॥

यह 'ताप' या दुख की ज्वाला ही प्रेम-साधना का प्राण है क्योंकि इसी के सहारे सब के मूल आश्रय तत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के लिए जो अनुकूलता युक्त अनुशीलन होता है उसी का नाम भक्ति है। इस रागानुगा भक्ति में दो उपाधियाँ हैं—(१) अन्याभिलाषिता (२) कर्मज्ञानयोगादि का मिश्रण। अन्याभिलाषा में भोगकामना और मोक्षकामना दोनों ही सम्मिलित हैं। सच्चा भक्त भुक्ति और मुक्ति दोनों को हेय समझकर छोड़ देता है। कर्मज्ञानयोगादि भी उपाधि है परन्तु ज्ञान द्वारा यदि भगवान् के स्वरूप और भजन का रहस्य जाना जाय, योग से चित्त भगवान् के गुण, लीला आदि में लगे, कर्म द्वारा भगवान् की सेवा बने तो ये ज्ञान, योग, कर्म बाधक न होकर भक्ति के साधक बन जाते हैं।

सकाम भक्ति में भोग कामना होती है। यह कामना तीन प्रकार की होती है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। मोक्ष-कामना सात्विक सकाम भक्ति है, विषयोपभोग, यश, कीर्ति आदि की कामना से की गई भक्ति

राजसिक सकाम भक्ति है; और हिंसा, दम्भ, मत्सर आदि से की हुई तामसिक सकाम भक्ति है ।

उत्तमा भक्ति—अथवा निष्काम भक्ति के तीन भेद—साधन भक्ति, भावभक्ति, प्रेमभक्ति । उत्तमा भक्ति के दो गुण होते हैं—(१) क्लेशघ्नी, (२) शुभदायिनी । क्लेश तीन प्रकार के—पाप, वासना, प्रारब्ध । पाप का बीज है वासना, वासना का कारण है अविद्या । इन सब क्लेशों का मूल कारण है भगवद्विमुखता । भक्तों की सगति से भगवान् की समुखता प्राप्त होती है फिर क्लेशों के सारे कारण अपने आप नष्ट हो जाते हैं । इसी से साधन भक्ति में 'सर्व दुःख-नाशकत्व' गुण आ जाता है ।

'शुभ' शब्द का अर्थ है साधक के द्वारा समस्त जगत् के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत् का साधक के प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणों का विकास । सुख के तीन भेद—विषय-सुख, ब्राह्मसुख, पारमेश्वर सुख । ये सभी सुख साधन भक्ति से प्राप्त होते हैं ।

भावभक्ति में दो गुण—'मोक्ष लघुताकृत' और 'सुदुर्लभा' । इसमें साधन भक्ति के दो गुण क्लेशघ्नी और शुभदायिनी अपने आप आ जाते हैं । प्रेमा-भक्ति में 'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' एवं 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' ये दो गुण होते हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा ।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

—भक्तिरसामृतसिंधु

'मोक्षलघुताकृत'—यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्णिक और सायुज्य—इन पाँच प्रकार की मुक्ति) —इन सब में तुच्छ बुद्धि पैदा करके सब से चित्त हटा देती है ।

सुदुर्लभा—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि तो भगवान् सहज दे देते हैं पर अपनी भावभक्ति नहीं देते ।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा—करोड़ों ब्रह्मानन्द इस प्रेमामृतरूपी भक्ति सुख-सागर के एक कण की भी तुलना में नहीं आ सकते । यह अपार और अचिन्त्य प्रेम-सुख सागर में निमग्न कर देती है ।

श्रीकृष्णाकर्षिणी—यह प्रेमभक्ति श्रीकृष्ण को भक्त के वश में कर देती है ।

साधन भक्ति के दो भेद—वैधी और रागानुगा । शास्त्राज्ञा से भजन में प्रवृत्ति को वैधी कहते हैं । भगवान् में प्रेममयी तृष्णा का नाम है राग ।

ऐसी रागमयी भक्ति का नाम है रागात्मिका । रागात्मिका के दो भेद— (१) कामरूपा, (२) सबधरूपा । जिसमें सब चेष्टा श्रीकृष्ण सुख के लिए, अर्थात् जिसमें काम ही प्रेमरूप में परिणत हो गया है उसी को कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं । यह भक्ति श्री गोपीजनो में ही है ।

‘प्रेमैव गोपरामाणा काममित्यगमत् प्रथाम्’ । श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध अनुभव करते हुए प्रेम का नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है ।

रागानुगा भक्ति में स्मरण का ही अग प्रधान है । इसके भी दो भेद— कामानुगा और सम्बन्धानुगा । कामानुगा के दो भेद—भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी । केलि सम्बन्धी अभिलाषा से युक्त भक्ति का नाम सभोगेच्छामयी और यूथेइवरी ब्रजदेवी के भाव और माधुर्य प्राप्ति विषयक वासनामयी भक्ति का नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है ।

भावभक्ति—भगवत्-प्राप्ति की अभिलाषा, उनकी अनुकूलता की अभिलाषा और उनके सौहार्द की अभिलाषा के द्वारा चित्त को स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है उसी का नाम ‘भाव’ है । भाव का ही दूसरा नाम रति है । रस की अवस्था में इसीका वर्णन स्थायी भाव और सचारी भाव—दो प्रकार से किया जाता है । इसमें स्थायी भाव भी दो प्रकार का होता है—प्रेमाकुर या भाव और प्रेम । स्नेह, प्रणय, अनुराग आदि प्रेम के ही अतर्गत प्रीति के नौ अकुर बतलाये गए हैं—

(१) क्षान्ति—धन, पुत्र, मान आदि के नाश, असफलता, निन्दा, व्याधि आदि क्षोभ के कारण उपस्थित होने पर भी चित्त का जरा भी चंचल न होना ।

(२) अव्यर्थकालत्व—क्षणमात्र का भी समय सासारिक कार्यों में वृथा न बिता कर मन, वाणी, शरीर से निरन्तर भगवत्सेवा सम्बन्धी कार्यों में लगे रहना ।

(३) विरक्ति—इस लोक और परलोक के समस्त भोगों से स्वाभाविक अरुचि ।

(४) मानशून्यता—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थिति से सपन्न होने पर भी मान, सम्मान सर्वथा त्याग करके अधम का भी सम्मान करना ।

(५) आशाबन्ध—भगवान् के और भगवत्प्रेम के प्राप्त होने की चित्त में दृढ़ और बद्धमूल आशा ।

(६) समुत्कठा—अपने अभीष्ट भगवान् की प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा ।

(७) नामगान में सदा रुचि—भगवान् के मधुर और पवित्र नाम का गान करने की ऐसी स्वाभाविक कामना कि जिसके कारण नामगान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाम में अपार आनन्द का बोध होता है ।

(८) भगवान् के गुणकथन में आसक्ति—दिन रात भगवान् के गुणगान, भगवान् की प्रेममयी लीलाओं का कथन करते रहना, और ऐसा न होने पर बेचैन हो जाना ।

(९) भगवान् के निवास-स्थान में प्रीति—भगवान् ने जहाँ-जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान् के चरणस्पर्श से पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानों में रहने की इच्छा ।

भाव की परिपक्वता का नाम 'प्रेम' है । चित्त में पपूर्ण रूप से निर्मल और अपने अभीष्ट श्री भगवान् में अतिशय ममता होने पर ही प्रेम का उदय होता है । किसी भी विघ्न के द्वारा जरा भी न घटना या बदलना प्रेम का चिह्न है । यह प्रेम दो प्रकार का होता है—महिमा ज्ञानयुक्त और केवल । विधि मार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम महिमा ज्ञानयुक्त है और रागमार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है । ममता की उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है प्रेम की अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसे ही बदलती जाती है । प्रेम की एक ऊँची स्थिति का नाम है स्नेह । स्नेह का चिह्न है चित्त का द्रवित हो जाना । प्रेम जब चित्त को द्रवित कर इष्टमय हो जाता है तो वह स्नेह कहलाता है । उससे भी ऊँची अवस्था का नाम है राग । राग का चिह्न है गाढ स्नेह । उससे ऊँची अवस्था का नाम प्रणय । प्रणय का चिह्न है गाढ विश्वास या विश्रम्भ । भक्त और भगवान् का प्राण, मन, बुद्धि शरीर और शृंगार में भेदाभेद—भेदमय अभेद या अभेदमय भेद होता है । इसके बाद की अवस्था का नाम है मान । प्रणय में जहाँ प्रेमास्पद के प्रति अनन्यता आ जाने पर उसके समग्र मनचित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने की लालसा का उदय होता है और उसमें कभी कभी कोई अन्तराय देखकर मन में सात्त्विक ईर्ष्या या द्वेष हो आता है उसे प्रणय-मान कहते हैं । इसके बाद की स्थिति का नाम है अनुराग । अपने इष्ट के प्रति राग जब गाढ हो जाता है तो अपने प्रेमास्पद में उस नित्य नवनवायमान सौंदर्य, लावण्य, सौकुमार्य और 'लौल्य' का अनुभव होने लगता है उसे ही अनुराग कहते हैं । इसके अनन्तर महाभाव की स्थिति आती है । जब अनुराग-में भगवान् और भक्त

दोनों उत्क्षिप्त हो जाते हैं और परस्पर मिलन की वासना अत्यन्त प्रगाढ़ होती जाती है तो अनुराग की सज्ञा महाभाव की हो जाती है । भगवान् भक्त से और भक्त भगवान् से मिलने के लिए आतुर हो जाते हैं और मिलन की अत्यन्त प्रगाढ़ावस्था में भी भावी विरह की आशका सताती रहती है । कवि बलराम दास के एक पद में इसका बहुत भावपूर्ण वर्णन हुआ है जब श्रीकृष्ण राधारानी की गोद में सिर रखे हुए हैं तो भी वे विरह की आशका में व्याकुल हैं और रो रहे हैं । महाभाव की परम परिणत स्थिति है दिव्योन्माद । महाप्रभु की गंभीरा लीला जिसमें लगातार महाप्रभु ने जगन्नाथपुरी के एक कमरे में व्याकुल रोते-तड़पते श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेमोन्माद में लगातार चौदह वर्ष बिता दिये । श्रीमद्भगवत का गोपी-गीत भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है ।

श्रीकृष्ण-रति स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव सात्विक भाव, और व्यभिचारी भाव के साथ मिल कर आस्वादन युक्त पाँच प्रकार की होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर । जिसमें जिसके द्वारा रति का आस्वादन किया जाता है उसको विभाव कहते हैं । इनमें, जिसमें रति विभावित होती है उसका नाम है आलबन विभाव, जिसके द्वारा रति विभावित होती है उसका नाम है उद्दीपन विभाव । आलबन विभाव भी दो प्रकार का होता है—विषयालबन, आश्रयालबन । इस श्रीकृष्ण-रति के विषयालबन है श्रीकृष्ण और आश्रयालबन है उनके भक्तगण । जिनके द्वारा रति का उद्दीपन होता है वे श्रीकृष्ण का स्मरण करानेवाली वस्त्रालकारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन विभाव ।

नाचना, भूमि पर लोटना, गाना, जोर से पुकारना, अंग मोड़ना, हुंकार करना, जँभाई लेना, लबे स्वास छोड़ना आदि अनुभाव के लक्षण हैं । अनुभाव भी दो प्रकार के होते हैं—शीत और क्षेपण । गाना, जँभाई लेना लेना आदि को शीत और नृत्यादि को क्षेपण कहते हैं ।

सात्विक भाव आठ है—स्तभ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा) । ये सात्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रुक्ष भेद से तीन प्रकार के होते हैं । इनमें स्निग्ध सात्विक के दो भेद होते हैं—मुख्य और गौण । साक्षात् श्री कृष्ण के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव मुख्य है और परम्परा से अर्थात् किंचित व्यवधान से श्रीकृष्ण के संबंध में उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव गौण है । स्निग्ध सात्विकभाव नित्य सिद्ध भक्त में ही होता है ।

जातरति—अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है उन भक्तों के सात्विक भाव को दिग्ध भाव कहते हैं और आजात रति—अर्थात् जिनमें प्रेम नहीं उदय हुआ है ऐसे मनुष्य में कहीं आनन्द विस्मयादि के द्वारा उत्पन्न होने वाले भाव को रुक्ष भाव कहते हैं ।

ये सब भाव भी पाँच प्रकार के होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त, सूद्दीप्त । बहुत ही प्रकट परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्विक भावों का नाम 'धूमायित' है । एक ही साथ दो तीन भावों का नाम 'ज्वलित' है । ज्वलित भाव को भी बड़े कष्ट से गुप्त रखा जा सकता है । बड़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन, चार या पाँच सात्विक भावों को 'दीप्त' कहते हैं । यह दीप्त भाव छिपा कर नहीं रखा जा सकता । अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छ, सात या आठ भावों का नाम 'उद्दीप्त' है । यह उद्दीप्त भाव ही महाभाव में सूद्दीप्त हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त रत्याभास जनित सात्विक भाव भी होते हैं । उनके चार प्रकार हैं । मुमुक्षु पुरुष में उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'रत्याभासज' है । कर्मियों और विषयी जनो में उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'सत्वाभासज' है । अभ्यासियों के फिसले हुए चित्त में उत्पन्न सात्विक भाव को 'नि सत्त्व' कहते हैं । भगवान् से विद्वेष रखनेवाले मनुष्यों में उत्पन्न सात्विक भाव को 'प्रतीप' कहते हैं ।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्त और बोध । इन तैंतीस व्यभिचारी भावों को 'संचारी' भी कहते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा अन्य सारे भावों की गति का संचालन होता है । स्थायीभाव—सामान्य, स्वच्छ, शान्तादि भेद से तीन प्रकार का होता है । किसी रसनिष्ठ भक्त का सग हुए बिना ही सामान्य भजन की परिपक्वता के कारण जिनमें एक प्रकार की सामान्य रति उत्पन्न हो गई है उसे सामान्य स्थायीभाव कहते हैं । शान्तादि भावों के सग से, सग के समय, जिनके स्वच्छ चित्त में सग के अनुसार ही रति उत्पन्न होती है उस रति को स्वच्छ स्थायीभाव कहते हैं और पृथक् पृथक् रसनिष्ठ भक्तों की शान्तादि पृथक्-पृथक् रति का नाम ही शान्त स्थायीभाव है । भाव पाँच प्रकार के होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर । इनमें किसी भी भाव से भगवान् के साथ सबन्ध हो जाना चाहिये ।

प्रेम की चिनगारी

श्री नाभादासजी ने 'भक्त-माल' में मीरा का परिचय यों लिखा है—

सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट, कलियुगहिं दिखायो ।

निर अकुस अति निडर, रसिक जस रसना गायो ॥

दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्यम कीयो !

बार न बाको भयो, गरल अमृत ज्यो पीयो ॥

भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नांही लजी ।

लोक लाज, कुल-भृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ॥

इसके कुछ ही काल अनन्तर मीरा के सबध में श्री ध्रुवदास जी ने अपनी 'भक्त-नामावली' में लिखा है—

लाज छाँडि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल कानि

सोई मीरा जगविदित प्रगट भक्ति की खानि ॥

ललिता हू लइ बोलिकै तासो अति हेत

आनन्द सो निरखत फिरं वृन्दावन रस-खेत ॥

नृत्यत नूपुर बाँधि कै, नाचत लं करतार ।

विमल हियो भक्तनि मिली, तून सम गन्यो ससार ॥

बधुनि विष ताको दियो, करि विचार चित आन ॥

सो विष फिरि अमृत भयौ तब लागे पछितान ॥

श्री प्रियादासजी ने पूरे दस पदों में मीरा के जीवन की प्रायः प्रत्येक उल्लेखनीय मामिक घटना का बड़े ही सजीले शब्दों में विवरण दिया है ।

मीरा के हृदय में कृष्ण-प्रेम की चिनगारी बहुत बचपन से विद्यमान थी और यही चिनगारी आगे चलकर विराट् प्रेमज्वाला बन गई और इसने मीरा को आत्मसात् कर लिया । कुल-संस्कार एवं परिस्थितियाँ तो निमित्त-मात्र थी । गुरु की महिमा सभी सतों और भक्तों ने गायी है । 'गुरु साक्षात्परब्रह्म' तक भी कहा गया है । इस निविड अधकार-पूर्ण जगत् में स्वयं पथ ढूँढ लेना असंभव ही है । इसमें तो अपना हाथ तक नहीं सूझता ।

इसी हेतु गुरु की सहायता भगवत्पथ में अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य है। यही कारण है कि नवधा भक्ति में 'श्रवण' प्रथम सोपान है, अध्ययन नहीं। 'वाक्य-ज्ञान' में निपुणता प्राप्त कर लेने से ही यदि भक्ति का पथ सुगम हो जाता तो केवल तर्क की ही पूजा होती रहती। कबीर तथा सहजो ने तो गोविन्द से भी बढ कर गुरु को माना है। घूँघट का पट खोलकर गुरुदेव ही हमें 'राम' से मिला सकते हैं। हृदय पर पड़े हुए मोह और अज्ञान के पर्दे को वे ही हटा सकते हैं। हृदय की आँखें गुरु की कृपा से ही खुल सकती हैं। मीरा रैदासजी की शिष्या थी। रैदासजी स्वामी रामानन्द के शिष्य, 'रामनाम' के उपासक कबीर के गुरु-भाई, निर्गुणपथी सत थे। कबीर रैदास और पीपा प्रायः समकालीन थे और 'वाणी' द्वारा अपने उपदेश से जनता में शुद्ध ज्ञान का प्रचार कर रहे थे। रैदासजी कबीर की अपेक्षा अधिक, भाव प्रवण साधु थे। परमात्मा के साथ अपने मधुर प्रेम-भाव को उन्होंने बड़े ही सुन्दर, भाव-पूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है—

प्रभु जी ! तुम चदन हम पानी

जाकी अंग-अंग बास समानी।

प्रभु जी ! तुम दीपक हम बाती

जाकी ज्योति बरे दिन राती ॥

रैदास की सहृदयता, भावुकता एवं परमात्मा के साथ हृदय के मधुर सबध की अनुभूति अन्य सतों से अधिक गहरी थी। कहा जाता है कि जूते बनाते समय रैदासजी चमड़े पर टाँकियाँ देते जाते थे और कोने में, पास ही रखी हुई ठाकुरजी की मूर्ति का स्मरण कर प्रेम-विह्वल, गद्गद हृदय से भजन गाते जाते थे, आँखों से प्रेमाश्रु की धारा बहती जाती थी। यह तो सर्वविदित ही है कि कबीर, रैदास, आदि निर्गुणिये सत मूलतः सिद्धान्त-रूप में मूर्ति-पूजा आदि न मानते हुए भी वैष्णव मत के थे और राम, गोपाल तथा हरि को सबोधित कर अपने हृदय की भूख-प्यास शान्त किया करते थे। कबीर ने तो कई स्थलों पर अपने को 'वैष्णो' कहा है तथा 'साकत' को 'कृतिया और सूअर' से भी बुरा माना है। कबीर की यह घृणा शाक्तों के प्रति न समझकर शाक्तों की हिंसा-वृत्ति के प्रति समझ जानी चाहिए। रैदास जी कबीर की भाँति अक्खड न थे। उनके जो थोड़े से पद मिले हैं उनमें आत्मानुभूति-पूर्ण हृदय की कोमल भावनाओं की ही व्यञ्जना है। रैदास जी मूर्ति-पूजा के कटु विरोधी थे—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विष्णु भगवान् की मूर्ति उनके घर में थी जिसकी वे अर्हति पूजा

क्रिया करते थे। रैदासजी कृष्ण, गोपाल, हरि, राम आदि को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानकर साधना की मधुर अनुभूति में लीन होनेवाले आत्मदर्शी सत थे। उन्होंने शाक्तों को गालियाँ नहीं दी हैं—ऐसा करने के लिए न उन्हें रुचि ही थी और न अवकाश ही था।

निर्गुणिये सत्ता के समान रैदास में जगत् के प्रति तीव्र वैराग्य था, सदाचार के प्रति अटूट आस्था थी और नाम-स्मरण की अन्तर्मुखी साधना का चिरन्तन विलास था। वे सदा मधुर भाव में मग्न रहनेवाले, लोकपक्ष से उदासीन, जगत् के प्रपञ्चों से तटस्थ और आत्मानुभूति में डूबे रहनेवाले हृदय-प्रधान सत थे। कोरी कथनी में उनका रच मात्र भी विश्वास नहीं था—वे 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' पर अधिक जोर देते थे। प्रीतिपूर्वक अपने हृदय के भीतर भगवान् का स्मरण ही उनकी साधना का प्राण है। भगवान् की मधुर स्मृति जगाये रखना तथा उसी ने निमग्न रहना—यही थी उनकी साधना-प्रणाली। बाहरी आचार-विचार पर उतना ही ध्यान था जिससे समाज के नियमों का तिरस्कार न हो जाय परन्तु समाज के विविध नियमों और विधानों में अपने को जकड़े रखना भी उनके सत से अनुचित था। सत प्रायः सामाजिक प्राणी नहीं होते—उनका समाज, उनकी जाति अपनी एक अलग ही होती है।

रैदास का 'निर्गुण' कबीर का निर्गुण नहीं है। रैदास का अद्वैत कबीर का अद्वैत नहीं है। रैदास हृदय की मधुर माँग को स्वीकार करनेवाले सत थे। प्रेम से ओत-प्रोत, ज्ञानोत्तर भक्ति के विकसित रूप में हरि को ही सर्वत्र देखनेवाला, आत्मानुभूति के गहरे रंग में रंगा हुआ, 'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' को माननेवाला, सर्वभूतमयहरि तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' के रस में पगा रैदास का कोमल हृदय प्रतिपल अपने 'प्रभुजी' के लिए बेचैन था, तड़प रहा था, तड़फड़ा रहा था।

मीरा इसी भावुक भक्त एवं प्रेमी-संत की शिष्या थी। रैदास के चमार होने से मीरा के गुरु होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। महाप्रभु श्री चैतन्यदेव ने कहा है—

किंवा न्यासी, किंवा विप्र शूद्र केन नय ।

जे कृष्ण-तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय ॥'

मीरा के दो-तीन पदों में, 'मेरे गुरु रैदासजी' का उल्लेख है, साथ ही साथ एक 'जोगी' का भी वर्णन मिलता है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बोई है। यह योगी स्वप्न में आए हुए श्री गिरिधारी लालजी का

अवधूत रूप हो सकता है अथवा रैदासजी या अन्य सन्त योगी हो सकते हैं, जिससे मीरा को प्रेम साधना में सहायता प्राप्त हुई हो। इन पदों में से कुछ की बानगी लीजिए—

तेरो मरम नहि पायो रे जोगी ।

आसण मारि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायो ।

मीरा को प्रभु हरि अविनासी, भाग लिखो सोई पायो ॥

तथा

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाईं पखें चेरी तेरी हों ।

प्रेम भगति के पंड़ी ही न्यारो, हम कूं गेल बता जा ।

अगर चंदणरी चिता बनाऊं अपने हाथ जला जा ॥

×

×

×

×

जाबा दे, जाबा दे, जोगी किसका मीत ।

सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीति !

मे जाणूं या पार निभेंगी छाँड़ि चलै अथबीच ॥

×

×

×

×

योगियारो प्रीतडी है दुखडारी मूल ।

हिलमिल बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल ॥

×

×

×

×

जोगिया कहाँ गया नेहड़ी लगाय ।

छोड गया बिसबास संघाती प्रेम की बाती बराय ।

मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाई ॥

×

×

×

×

जोगिया जो निसदिन जोऊँ बाट । इत्यादि ।

उपर्युक्त पदों में 'आसण माणि मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो' में स्पष्ट ही योगी गुरु का संकेत है, कृष्ण का नहीं। क्या यह उस साधु के सम्बन्ध में तो नहीं है जिसकी पूजा में मीरा को श्री गिरधारीलालजी की मोहिनी मूर्ति प्राप्त हुई थी ? जो कुछ भी हो, इन पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी साधु ने मीरा को प्रेम-साधना का मंत्र दिया और वता नहीं फिर वह कहाँ अन्तर्हित हो गया। उससे मीरा फिर न मिल सकी। वह मीरा से न मिल सका। प्रेमसाधना की वही चिनगारी जिसे उस योगी अवधूत ने लगाई थी काल और परिस्थिति की अनुकूलता से इतने बिराट् रूप में बढ़ी कि मीरा को उसने आत्मसात् कर लिया—

न पा सकते जिसे पावद रहकर कँदे हस्ती में ।

सो हमने बेनिशा होकर तुझे ओ बे निशां पाया ॥

लौ

If thy soul is to go to higher spiritual blessedness, it must become a woman, however manly thou mayest be among men.

—Newman

ज्यों तिरिया पोहर बसै, सुरति रहै पिय माँह ।

ऐसे जन जग में रहै, हरि को भूलत नाहि ॥

विवाहिता स्त्री मायके में रहते हुए जिस प्रकार मन, चित्त और प्राण से अपने पति का ही स्मरण करती रहती है उसी प्रकार इस ससार में रहते हुए भी हम अपने प्राणाराम जीवन-धन हरि का ही स्मरण करते रहें—यही सभी सन्तो और समस्त धर्मग्रंथों के उपदेश का सारतत्त्व है। जीव की यही साधना है। मन को हरि में डालकर मस्त हो जाना ही आनन्द की चरम अवस्था है। जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत, सेवा, दान, सत्संग, सदाचार सभी प्रकार के सत्कर्मों का फल है श्री वासुदेव का अखण्ड स्मरण। यह स्मरण ही भगवान् के चरणों में सच्ची प्रणति है, यह स्मरण ही सर्वात्मसमर्पण की सच्ची अभिव्यक्ति है। घनीभूत अखण्ड स्मरण की हँसती हुई ज्योति का नाम है 'लौ'। साधना का प्राण है स्मरण, और 'लौ' है स्मरण की आत्मा।

'लौ' का साधारण अर्थ है दीपक का जलता हुआ प्रकाश। दीये में तेल भर दिया जाता है, बत्ती डाल दी जाती है और सलाई से उसे एक बार बला देते हैं। फिर जब तक तेल दीये में है, बत्ती बनी हुई है और बाहर के आँधी-तूफान से वह सुरक्षित है तब तक वहाँ प्रकाश बना रहेगा, लौ जलती रहेगी। ध्यान इस बात का रखना होगा कि तेल समाप्त न होने पावे, बत्ती बुझने न पावे। और जहाँ अखण्ड दीप की बात है वहाँ तो सतव

सावधान रहना ही पड़ेगा। एक क्षण की विस्मृति में दीपक के बुझ जाने और घोर अन्धकार के घिर आने की आशंका है।

ठीक यही बात अतर की 'लौ' के सम्बन्ध में है। वहाँ भी सतत सावधान रहना पड़ता है। एक पल के लिए भी वृत्ति बहिर्मुख हुई नहीं कि सब कुछ मिटा। मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, आत्मा सभी श्रीहरि के चरणों से झरते हुए मकरन्द का पान करते रहें। वही उस परम दिव्य स्पर्श की पावन अनुभूति में बेसुध बने रहें। बाहर आने का ध्यान भी न रहे, बाहर के किसी भी पदार्थ के अस्तित्व का भान भी न हो। कोई रूप आँखों को लुभा न सके। कोई शब्द कानों को मोह न सके। स्मृति सदा हरि के चरणों को छूती रहे। प्राण सदा प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणिपात करते रहें। यही अखण्ड जागरण है।
हसा पाये मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोले ?

वहाँ के आनन्द और शोभा का वर्णन कैसे किया जाय ? वहाँ की तो चर्चा भी नहीं हो सकती। बात चलते ही जी थहराने लगता है। जिसने एक बार भी उस रस का आस्वादन किया है उसके लिये फिर वहाँ से हटना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है।

बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै क्षरीई।

किस बिध चरण कमल में गहिहौँ, सर्बहि भग्न थरीई ॥

सच्चे प्रेमी को प्रियतम का स्मरण करना नहीं पड़ता। जब तक स्मरण करना पड़ता है, जब तक स्मरण और विस्मरण का युद्ध जारी है; तब तक तो 'उस' से प्रेम क्या, परिचय भी नहीं हुआ ऐसा ही मानना चाहिये। पत्नी पति के नाम की माला नहीं जपती। वह एकान्त में आँखें मूँद कर, आसन मारकर प्राणायाम आदि करके पति के ध्यान में डूबने का स्वांग नहीं भरती। वह सब कामों से छुट्टी लेकर सत्संग का सेवन, तीर्थों में घूमना, दान-पुण्य करना आदि में अपने जीवन को इसलिये नहीं लगाती कि इनके फलस्वरूप उसे अपने पति का स्मरण-ध्यान होगा। वैसा करना उसके लिए अस्वाभाविक होगा। ऐसा करके वह स्वयं अपनी दृष्टि में तथा लोगों की दृष्टि में उपहासास्पद बनेगी। वह ऐसा करने ही क्यों जायगी ? अपने प्राणप्यारे प्रीतम के स्मरण के लिए भला योग, जप, तप, ध्यान और एकान्त की आवश्यकता ही क्या है ? वह स्मरण स्मरण नहीं जो करने से हो। वह ध्यान ध्यान नहीं जिसमें डूबने के लिए घोर परिश्रम और कठिन प्रयत्न करना पड़े। वह प्रेम प्रेम तही जिसमें प्रेमास्पद की सहज स्मृति न हो। वह प्यार प्यार नहीं जो बिना बुलाये, अपने आप ही उमड़-धुमड़ कर हमारे हृदय के आँगन में न बरसे।

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।
 गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ।
 रेंग पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ ।
 रेंग दिना वाके संग डोलूँ ज्यूँ ज्यूँ वाहि रिझाऊँ ।
 जो पहिरावे सोई पहिछूँ, जो दे सोई खाऊँ ।
 मेरी उनकी प्रीति पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ ।
 जित बंठावे तितही बंठूँ बेचें तो बिक जाऊँ ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ ।

X

X

X

बिरह जगावै वरद कौ, वरद जगावै जीव ।

जीव जगावै सुरत कौ, पंच पुकारै पीव

रोम-रोम में प्रियतम की पुकार है । रोम-रोम उसकी प्यार भरी स्मृति में पगे हुए हैं । और कोई वस्तु है ही नहीं जो चित को एक क्षण के लिए भी अपनी ओर आकृष्ट कर सके । प्रति पल प्यारे की स्मृति एक अजीब अदा ओ अदाज के साथ आ-आकर प्राणों को नहला जाती है, सराबोर कर जाती है । ध्यान जमाने के लिए त्राटक आदि मुद्राओं का सहारा नहीं लेना पड़ता और न आँखें ही बन्द करनी पड़ती हैं । उनके नूपुरों की ध्वनि सुनने के लिए कान मूँदने नहीं पड़ते और न पहाड़ की खोह में जाकर एकान्त-वास की ही आवश्यकता है; यहाँ तो—

भाँख न मूँदों कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहीं धारों ।

खुले नैन पहिचानों हँसि, हँसि सुन्वर रूप निहारों ॥

खुली आँखों अपने प्राणेश्वर को देखूँ तभी तो देखना है । खुले कान उनकी बशी और नूपुर की ध्वनि सुन सकूँ तभी तो सुनना है । सारे रूप, विश्व के विविध रूप उस एक अपरूप रूप में पलट जायें; जगत् का सारा कोलाहल, हाहाकार और चीत्कार मुरली की मधुर ध्वनि होकर हमारे कानों में समा जाय, जो कुछ सुनूँ, देखूँ, स्पर्श करूँ सभी में प्राण-वल्लभ का 'मौन निमन्त्रण' स्पष्ट देख-सुन पड़े तब तो समझना चाहिए कि उनके प्रेम का आस्वादन हमारे प्राणों ने किया है । नहीं तो, सब कुछ कोरा हठ-योग ही है । एक क्षण के लिए भी जिसे हरि का स्पर्श मिल गया वह उस रस को पूरे पिये बिना रह कैसे सकता है ? वहाँ तो पग-पग पर एक अद्भुत आकर्षण बलात् प्राणों को किसी 'अपने' की ओर खींचे लिये जा रहा है । और इस मार्ग में चलते हुए एक विचित्र उत्लास संगी बना रहता है । वहाँ मिलन

एव विरह का अद्भुत सम्मिश्रण है। यह अखण्ड मिलन एव आमरण विरह की अवस्था है। यहाँ मिलन और विरह दोनों घुले-मिले हैं। इस स्थिति में काम क्रोध, लोभ, आदि का प्रवेश है ही नहीं। यहाँ माया की मोहिनी नहीं चलती। यहाँ तो सतत जागरण है। यहाँ की बेहोशी ससार की सारी बुद्धि से परे की है और इसीलिये ससार की किसी भी वस्तु का आकर्षण वहाँ है ही नहीं। वहाँ तो परम रस, 'रमो वै स.' को पाकर ससार के विविध रसों की ओर से सहज ही विरति हो जाती है। यह तो 'आत्मरति' की सहज स्थिति है। यही सहज समाधि है।

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो कछँरी ।

तेरी ही उमरण तेरी ही सुमरण तेरी ही ध्यान धरँ री ।

जहाँ जहाँ पाँव धरँ धरणी पर तहाँ तहाँ निरत कछँ री ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणों लिपट पछँरी ॥

माता पिता के प्यार में पली हुई कन्या पति की परिणीता होकर, पाणिग्रहण, ग्रन्थि-बन्धन और सिन्दूर-दान के अनन्तर सदा के लिये, जन्म जन्मान्तर के लिये अपने पति की हो जाती है। आश्चर्य होता है कि जिस घर में वह इतनी सयानी हुई वही घर उसके लिये पराया हो जाता है, और एक 'पुरुष' जिससे पहले वह सर्वथा अपरिचित थी उसी की वह एकान्त हो जाती है। वह अपना कुल, गोत्र, नाम सब कुछ पति के कुल, गोत्र, और नाम में लय कर देती है। यह प्रायः हम सभी का देखा हुआ, अनुभव किया हुआ रहस्य है।

ठीक वही बात यहाँ भी है। जगत् के प्रपञ्चों में पला हुआ प्राणी, जगत् के विषयों में रचा-पचा पुरुष एक क्षण के इस विद्युत् स्पर्श में आकर अपना लोक-परलोक, पाप-पुण्य, सुख-दुःख—अपना सब कुछ हरि के चरणों में निवेदित कर सदा के लिये 'उसका' बिना मोल का चैरा हो जाता है। खेल-खिलवाड़ में ही वह पहले इस ओर आने को ललकता है परन्तु एक बार जहाँ इधर पैर रक्खा कि फिर अपना सर्वस्व अर्पित कर देने की ही सनक सवार हो जाती है। यह विवशता भी कितनी मधुर, कितनी दिव्य है !

मैं गिरधर-रँग राती ।

पञ्चरँग चोला पाहर सखी में क्षिरमिट खेलन जाती ।

ओह क्षिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती ॥

'पिय-परिचय' की वह दिव्य बेल साधक के लिये परम महोत्सव की बेल है। 'परिचय' हो जाने पर समर्पण करना नहीं पड़ता। वह आप-ही-

आप हो जाता है। वहाँ चारों ओर से संयम नहीं करना पड़ता। पिय के प्राण में प्राण घुल-से जाते हैं अतएव वहाँ सहज एकाग्रता होती है। वहाँ सब धर्मों के बन्धन को छोड़ने नहीं जाना पड़ता, 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' सुनना नहीं पड़ता। सभी धर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं, सभी धर्म अपना फल देकर, अपने को उसके प्रिय-मिलन में बाधक समझ कर चुपचाप छिप जाते हैं; और वहाँ साधक अपने प्रियतम का प्रेमास्पद बन कर उसके परम प्रेम में अहर्निश छका रहता है।

कोई कछू कहे, मन लागा।

ऐसी प्रीति लगी मनमोहन ज्यू सोना में सोहागा ॥

जनम जनम का सोया मनुष्य सतगुरु सब्ब सुन जागा।

मात पिता सुत कुटुम्ब कबीला टूट गयो ज्यों घागा।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा।

जिसे मैं चाहता हूँ वह एक बार मेरी ओर निहारे—यह मानव-हृदय की मधुर दुर्बलता है। अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त करना प्रेम-साधना की एक छिपी हुई साध है। और वहाँ तो प्रियतम की ओर से प्रेम की अखण्ड वर्षा होती रहती है जिसमें प्रेमी के प्राण सदा नहाते हैं। यही बेखुदी की हालत है।

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?

रहे आजाव या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?

जो बिछुड़े है पियारे से, भटकते दरबंदर फिरते।

हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या ?

हृदय देश में छिपा हुआ वह हमारा 'यार' अब तक सर्वथा-अपरिचित-सा था। अन्तर का पट हटा और 'वह' सामने आया। और सामने आने पर तो हम सभी वही गायेंगे जो मीरा ने गाया—

ऐसे पिये जान न बीजें हो।

चलो री सखी ! मिलि राखिये नैननि रस पीजें हो ॥

युग-युग से, जन्म-जन्मान्तर से जिस प्राणाराध्य की खोज में आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक रूप से दूसरे रूप में, एक नाम से दूसरे नाम में ढलती आयी है उस परम प्रियतम को पाकर अब क्यों छोड़ना ? आओ, उसे सदा के लिये प्राणों में छिपा लें और आँखों की कोठरी में पुतली का पलंग बिछा कर और बाहर से पलकों की चिक डालकर उसके रस को पीते रहें। इसके आगे अब करना ही क्या रहा ?

रूपराग

रति या सङ्गमात्पूर्वं दर्शन-श्रवणादिजा ।

तयोक्तमीलति प्राप्त्यं: पूर्वराग स उच्यते ॥

—उज्ज्वल नीलमणि. (भृङ्गार-भेद प्रकरण)

कृष्ण के रूप में जो लावण्य है, जो मोहकता एवं आकर्षण है वह अन्य अवतारों में नहीं मिलता । यही कारण है कि कृष्णभक्ति शाखा में श्रीकृष्ण के रूप का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है । राम में माधुर्य है परंतु कृष्ण में लावण्य है । राम के हाथ में धनुष-बाण उनकी कर्तव्य-शीलता तथा दुष्टदलनता का ही परिचायक है पर कृष्ण के हाथ में मुरली उनकी अगाध मोहकता, आनन्द विधायिनी प्रेमोर्जस्विता की परिचायिका है ।

सूरदास ने — सोभित कर नवनीत लिए ।

घुट्टरन चलत रेनु तन मडित मुख दधिलेप किए, द्वारा बाल चापल्य एवं सहज नटखटी का जो सश्लिष्ट रूप हमारे सामने रखा है वह गोस्वामीजी में मिलना कठिन है । गोस्वामी जी का दास्य भाव सदा ईश्वर के ऐश्वर्य की ही भावना लिये हुए था । शिशु राम में भी 'स्वामित्व' की भावना ईश्वरत्व लिये हुए बनी हुई है । इस रूप-चित्रण में माधुर्य एवं मोहकता का गहरा पुट होते हुए भी रूप के नाना विलास, शिशु राम के विविध क्रीडा-कौतुक का कोई सश्लिष्ट रूप हमारी आँखों के सम्मुख नहीं आता । हम गोद के 'राम' को पैरों में पंजनी और हाथों में पहुँची तथा 'पीत झंगा' में ही देख कर तृप्त नहीं हो पाते । कौशल्या के आँगन में दौड़ते हुए 'अरबराय करि

पानि गहावत डगमगाय धरै पैयाँ' का रूप-विलास, क्रीडा-कौतुक देखने के लिए उत्सुक-लालायित रह जाते हैं ।

गोसाईं जी इस बालक राम के सम्मुख भी सिर नवाना ही पसंद करेंगे, उस निश्छल सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसे प्यार से चुम्बन लेना नहीं । उनका दास्यभाव सर्वत्र एव सर्वदा अखण्ड रूप में बना रहा । इसी हेतु वात्सल्य शृङ्गार में उनकी वृत्ति बहुत ही कम रम सकी । यही कारण है कि बालक राम के इस 'सोच विमोचन' रूप को देख कर मोहित न होने वाले को 'खर सूकर, स्वान' की उपाधि मिली ।

मीरा का प्रेम माधुर्य-भाव का था । इसलिए कृष्ण की बाल लीलाओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया । पत्नी अपने पति के बाल रूप में लीन नहीं हुआ करती, उसे उसका प्रौढ युवा रूप ही अच्छा लगता है । पत्नी पति के शिशु या बाल-रूप को कौतूहल की दृष्टि से देखती है । दाम्पत्य रति बालक-बालिका की रति नहीं है, युवा-युवती की रति है । मीरा कृष्ण को जगा रही है—परन्तु यह जगाना यशोदा का कृष्ण को अथवा कौशल्या का राम को जगाने के समान नहीं है । यहाँ पत्नी सोये हुए पति को जगा रही है—

जागो बंसी वारे ललना जागो मेरे प्यारे ।

रजनी बीती, भोर भयो है, घर-घर खुले किंवारे ॥

गोपी दही-मथत सुनियत है कँगना के झनकारे ॥

सगीत की मृदुल झकार पर ध्यान दीजिए । प्रभात हो चला है, गोपियाँ दही मढ़ रही हैं—उनके कँगनो की झनकार सुनाई पड़ रही है । घर घर के द्वार खुल गये हैं । इस समय भी मीरा की सेज पर श्रीकृष्ण सो रहे हैं और द्वार बंद है । यह देख मीरा कुछ सकोच, कुछ ब्रीडा के साथ जल्दी-जल्दी अपने प्राणनाथ को जगा रही है, कि कहीं सखियाँ देखकर उसे चिढ़ावें न । बहुधा ऐसा होता भी है कि देर तक सोते हुए पति को पत्नी जल्दी-जल्दी इसलिए जगा देती है कि कहीं उनका देर तक सोना देखकर दूसरे तग न करें, चिढ़ाने न लगे ।

मीरा के कृष्ण एक सुंदर तथा परम मोहक प्रौढ युवा कृष्ण हैं । उनकी भावना मीरा ने यो की है—

लंपट बकट छवि अटके । मेरे नैना निपट निपट ॥

देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूखन मटके ।

बारिज भवौ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके ।

टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके ।

मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ।

यही मूर्ति मीरा के हृदय में घर कर चुकी है। यह छवि उसके रोम-रोम में उलझी हुई है, यही प्रेमाभूत उसके रेशे-रेशे में ओत-प्रोत है। हृदय में उलझा हुई उस बाँकी छवि की झाँकी लीजिये—

जब से मोहि नदनंदन दृष्टि पड़यो माई ।
तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई ॥
मोरन की चंद-कला सीस मुकुट सोहे ।
केसर की तिलक भाल तीन लोक मोहे ॥
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टौना ।
खजन अरु मधुप मीन भूले मृग-छौना ॥
सुंदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेस धरे रूप अति बिसेखा ॥
अधर बिब अरुन नैन मधुर मद हाँसी ।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला-सी ॥
छुद्र-घटि किंकिनी अनूप धुनि सोहाई ।
गिरिधर के अंग अंग मीरा बलि जाई ॥

कृष्ण के इसा नटवर प्रौढ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढाया है। 'अलंकार' वालों से यहाँ इतना निवेदन है कि यह 'रूप-राग' का विषय है, मीरा की 'भाव-कला' का नहीं। अतएव 'रूपकातिशयोक्ति' एवं उत्प्रेक्षा दिखाकर मीरा की कविता पर धन्य-धन्य अथवा वाह वाह कहने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। यहाँ अलंकार स्वतः गौण है, रूप-विधान ही मुख्य है। भावना को तीव्र एवं कल्पना को सजीव बनाने के लिये ही ये अलंकार आए हैं। ऊपर के पद में कितनी सुन्दर रूप-व्यंजना की उद्भावन हुई है। कुटिल भृकुटि, भाल पर केसर का चंदन और चितवन में टोना देख किसे लोक-परलोक की सुधि रहेगी? किसका हृदय बरबस इस रूप-सागर में डुबकी लेने के लिये व्याकुल न हो उठेगा? मीरा का भाव-प्रवण साधक हृदय इस 'परम भाव' के लिये सर्वथा उपयुक्त था। उसे कुछ बनना तो था नहीं। 'माधुर्य भाव' उधार लेने की उसे कोई आवश्यकता तो थी नहीं। मीरा को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई पुरुष कहीं से और कैसे देख पड़ता? यह सारा ससार ही सखी-भाव से स्त्री-स्त्री हो रहा था, यदि कोई पुरुष था तो श्रीगिरिधारीलाल जी।

प्रेम का प्रारम्भ, जिसे कवियों ने 'अनुराग' की सजा दी है, विशेषतः प्रिय के सगम के पूर्व प्रिय के सौन्दर्य का वर्णन सुन कर या उसके दर्शन से, रूप के ही आकर्षण से होता है। अनजाने हृदय बरबस अरुक्ष जाता है। आँखों की खिड़की से प्रवेश कर हृदय में रूप का टोना एक विचित्र हलचल मचाने लगता है। लगालगी आँखें करती हैं और बँधता है विचारा मन। जो चाहता है कि वश चलता तो असह्य नक्षत्र, मधुर ऊषा, समस्त ससार के अखिल सौंदर्य को अपने 'प्रेम' के चरणों में चढ़ा देता। कविवर Yeats, (ईट्स) में भी यह भावना मिलती है। कवि का विवशता-पूर्ण कथन है—
ऐ मेरे प्रियतम ! यदि मेरे पास ये असह्य नक्षत्र, अनन्त आकाश और उस पर बिछी हुई सतरंगी चादर होती तो तुम्हारे चरणों में बिछा देता, जिस पर तुम्हारे कोमल चरण पड़ते परन्तु—

But, Alas ! I am poor and have my dreams only,
I have spread my dreams under Thy feet;
Tread softly, for Thou treadst on my dreams.

परन्तु खेद है कि मुझ गरीबिनी के पास सपनों के सिवा कुछ है नहीं। ऐ मेरे प्रियतम मैंने तुम्हारे चरणों के नीचे अपने सपने बिछा दिये हैं। इन सपनों पर धीरे-धीरे चलना, मेरे साजन, क्योंकि तुम मेरे सुकुमार सपनों पर चल रहे हो।

महादेवी में भी एक स्थान पर ऐसी ही मधुर भावना मिलती है—

मैं पलकों में पाल रही हूँ
यह सपना सुकुमार किसी का।
जाने क्यों कहता है कोई
मैं तम की उलझन में खोई।
धूममयी बीथी बीथी में
लुक छिपकर विद्युत सी रोई।
मैं कण कण में ढाल रही हूँ
आँसू के मिस प्यार किसी का।

प्रेम की आँखों से देखने पर वही रूप कुछ और हो जाता है। इसी से तो कहा है कि 'अल्लाह भी मजनूँ को लँला नजर आता है।' रूप को चोट सबसे करारी होती है। प्रीति का घाव बड़ा ही गहरा होता है। उसे वही समझ सकता है जो स्वयं घायल हो, भुवतभोगी हो—

‘जाके लगे सोई पै जाने प्रेम बान अनियारो’

‘घायल की गति घायल जानै

कि जिन पीर लगाई होय ।’

प्रेम-जन्य, आकर्षण-मूलक यह ‘दर्द’ ही तो प्रेमियों का एकमात्र सहारा है। प्रेम के इस दुख को दुख भी तो नहीं कह सकते। जहाँ ‘कुछ और’ की कामना बनी रहती है वहाँ दुख कैसा ? किसी अंगरेज कवि ने ढीक ही कहा है; ‘Love is a pleasant woe’ अर्थात् प्रेम सुखद वेदना है। प्रेम की विकलता में पड़े हुए प्राणी इससे बाहर आना पसंद नहीं करेंगे—

Love ! in what a prison is thy dart

Dipped when it makes a bleeding heart ?

None know but they who feel the smart.

— Druham

प्रेम की दारुण दशा भी प्रेमियों को सहारा ही देती है। किसी के रूप पर मुग्ध हुआ मन ससार में अपने प्रेम-पात्र के समान ढूँढ़ आता है, चन्द्र, उषा, कमल, आदि सभी उसको उस परम रूप-शोभा के सम्मुख तुच्छ लगते हैं। उसकी यह आसक्ति ही, यह एकोन्मुखी वृत्ति ही आगे चलकर ‘प्रेम’ हो जाती है। रूप पर आसक्त हृदय रूप का पुजारी हो जाता है। अपने प्रेम-पात्र की आँखें, कान, भौ, भुजाएँ, नासिका, कपोल, आदि पर से बिछलती हुई उसकी दृष्टि, प्रिय का मिलना, हँसना, बातें करना, बैठना, सोना यहाँ तक कि रुठने में भी एक अपूर्व माधुरी का आस्वादन करता है। अनुराग अपने को प्रिय के सभी क्रिया-कलाप पर छिड़क देता है। इसी हेतु प्रिय की सभी ‘हरकतो’ में उसे एक अपूर्व मादकता मिलती है। मीरा का यह ‘पूर्वानुराग’ इसी प्रकार का है।

विषाद की श्रमावस्था

भगवान के प्रेमपथ में चलनेवाले साधक को अनुभूति की अनेकानेक घाटियों से गुजरना पड़ता है। पहली घाटी अन्वेषण की है। यह बहुत ही कष्टकर और साधक को थका देनेवाली होती है। यहाँ साधक को अपने समस्त भार को पटक कर हलका हो लेना पड़ता है; अकिञ्चन, निरीह, सर्वथा अकेला, इसमें वह आगे बढ़ता है। प्लॉटिनस ने इसे ही stage of purification कहा है। आत्मदान का यह श्रीगणेश है।

सर्वथा एकाकी, परित्यक्त, नग्न, निरीह होकर जब साधक आगे बढ़ता है तो प्रेम की कठिन घाटी में प्रवेश करता है। यहाँ उसके अन्तःस्थल में प्रकाश की झिलमिल कोमल किरणें क्रीड़ा करने लगती हैं। यहाँ अधिकार से प्रकाश में अचानक अपने को पाकर वह चकित-विस्मित हो जाता है।

इसके बाद ज्ञान की घाटी आती है जहाँ उसे सत्य से साक्षात्कार होता है और 'रहस्य' धीरे-धीरे उसके सम्मुख खुलने लगता है। वह प्रकृति के नाना रूप और विलास में भगवान् का हास-विलास देखता है और प्रकाशमय जीवन में प्रवेश करता है।

ज्ञान की घाटी के अन्तर वैराग्य की घाटी आती है जहाँ दिव्य भागवत प्रेम ने साधक की समस्त सत्ता डूब जाती है, और यहाँ प्रेम ही कर्तव्य-रूप में शेष रह जाता है; बाकी सारी बातें अपने आप छूट जाती हैं।

इसके बाद विस्मय की घाटी आती है जहाँ भगवत्प्रकाश से साधक की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और उसे इस प्रखर प्रकाश के कारण कुछ भी सूझता नहीं, कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता।

और अन्त में आत्म-विसर्जन की घाटी आती है जिसमें साधक भगवान् के प्रेम में अपने आपको भुला देता है—जैसे मछली अगाध सागर में।

हमारा यह एक अभिमान भरा प्रमाद है कि हम भगवान् को ढूँढते हैं और उसके पथ में चल रहे हैं। वस्तुतः खोजने वाला तो स्वयं भगवान् ही है और वही इस पथ में चलने की प्रेरणा भी प्रदान करता रहता है। सेंट एखार्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मिलन की चाह इधर भी है और उधर भी, इधर की अपेक्षा उधर ही अधिक है। प्रेम प्रेम का आवाहन कर रहा है क्योंकि परमात्मा जीव का प्रेमी है। हृदय के द्वार पर 'वह' खड़ा-खड़ा हमारे द्वार खोलने की बाट देखा करता है। हमारा खोलना और उसका प्रवेश करना एक साथ होता है।* जलालुद्दीन रूमी ने इसी को दूसरे ढंग से कहा है—

When in this heart the lightning spark of love arises

Be sure this love is reciprocated in that heart.

भगवान् के प्रेम की चोट खाये हुए साधक की स्थिति ठीक वैसी ही होती है जैसी वाण लगे हुए हिरण की। 'दरद की मारी बन-बन डोलूँ दरद न जानें कोय।' प्रेम की तीर छोड़ कर 'शिकारी' छिप जाता है। हृदय में उस घाव को लिये हुए प्रेमी साधक बेचैनी में गाता है— 'घायल सी घूमूँ फिर्लूँ मेरी बिथा न बूझे कोय'।

रे मेरे पार निकस गया साजन मार्या तीर

द्विरह भाललागी उर अंतरि व्याकुल भया शरीर ॥

इत उत चित्त चलै नहि कबहुँ डारी प्रेम जजोर ।

के जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाने पीर ॥

कहा कलूँ मेरो बस नहि सजनी नैन भरत दोउ नीर ।

मीरा कहै प्रभु तुम मिलियाँ बिनि प्राण धरत नहि धोर ॥

मैदम ग्यो (Madame Guyon) ने भी मीरा की ही तरह अपने घायल हृदय की व्यथा में अपनी बड़ी मीठी अनुभूति को व्यक्त किया है—

'After thou hadst wounded me so deeply, thou didst begin, oh my God, to withdraw thyself from me, and the pain of thy

* He is no farther off than the door of the heart. There He stands and waits and waits until He finds thee ready to open and let Him in. Thou needst not call Him from a distance, to wait until thou openest is harder for Him than for thee He needs thee a thousand times more than thou canst need Him. Thy opening and His entering are but one moment.

—Meister Eckhart

absence was the more bitter to me because thy presence had been so sweet to me, thy love so strong in me.'

प्रेमी के आवाहन एव सकेत-भरे आमत्रण पर प्रेमिका 'अभिसार' करती है और इस कृष्णभिसार में ही प्रियतम के मधुर चुम्बन, आलिंगन एव परिस्मृति का रसास्वादन उसके शरीर, मन, प्राण को जूड़ा देता है। परन्तु मिलन का यह अवहनीय सुख कुछ ही देर ठहरता है, और फिर प्रियतम न जाने कहाँ छिप जाता है। रास के प्रसङ्ग में यह रहस्य बड़े मीठे ढंग से साकेतिक शैली में खुला है। गोपियों की जो स्थिति हुई—'वृटिर्युगायते त्वामपश्यताम्'—तुम्हें देखे बिना एक क्षण युग के समान बीत रहा है—ठीक यही स्थिति प्रेम पथ के प्रायः प्रत्येक साधक की होती है। मन निराधार होकर मारा-मारा फिरता है। कहीं किसी का सग-साथ सुहाता ही नहीं। मानो वह व्यक्ति अधर में लटका दिया गया हो जो न पृथ्वी पर पैर ही टिका सकता है और न आकाश को ही पकड़ पाता है। प्यास से उसके प्राण जल रहे हैं परन्तु पानी तक पहुँचने की उसे शक्ति नहीं। यह ऐसी प्यास है जो एक क्षण के लिए भी सही नहीं जानी परन्तु ससार की कोई चीज इसे बुझा भी नहीं सकती क्योंकि वह तो प्यारे के प्रेम का प्यासा है। उसकी तो एकमात्र यही पुकार है कि ऐ मेरे प्राणसखा, मुझे अपने अधरो का अमृत पिलाओ।^४

प्यारे दरसन बीज्यो आय
तुम बिन रह्यौ न जाय ।
जल बिन कमल चंद बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्यौ बिन सजनी,
आकुल व्याकुल फिहँ रैन दिन,
बिरह कलेजो खाय ॥
दिवस न भूख नोद नहि रैन
मुख से कहत न आबं बैना,

*सुरतवर्धन शोकनाशन स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।

इतररागविस्मरण नृणा वितर बीर नस्तेऽधरामृतम् ॥

भा० १० ३१. १४.

गोपियाँ कहती हैं—हे बीर ! जो कामसुख को बढ़ाने वाला, शोक को दूर करनेवाला, बजती हुई बाँसुरी से चुम्बित और मनुष्यों की अन्य आसक्तियों को भुला देनेवाला है वह अपना मधुर अधरामृत हमें पिलाइये ।

कहा कहूँ कछु कहत न आवै
मिल कर तपत बुझ य ॥
व्यूँ तरसावो अतरजामी,
आय मिलो किरपा कर स्वामी ।
सोरा दासी जनम-जनम की
पडी तुम्हारे पाय ॥

यह स्मरण रखने की बात है कि यह 'राग' 'इतरराग विस्मारण' है—अर्थात् भगवदासक्ति से सधार की अन्य सारी आसक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, सारी ममताओं का केन्द्रविन्दु हो जाता है परम प्रियतम भगवान्—जो वस्तुतः सब का 'प्रियतम' है, प्राणाधार है ।

एक बार मिलन का आनन्द पा चुकने के बाद प्रेमास्पद की आँखों से ओझल हो जाने के कारण साधक का हृदय विरह को आग में झुलसने लगता है और विरह की 'छमासी रैन' का आदि अंत नहीं मिलता । एक गभीर विषाद में वह डूब जाता है । पथ नहीं सूझता कि बाहर निकले । परम प्रियतम की प्रेमप्राप्ति के लिये फिर वह क्या-क्या नहीं करता ? जीवन में मृत्यु का अनुभव करता है और एक ऐसे अधिकार से घिरा रहता है जिसमें प्रकाश के लिये कोई मार्ग ही नहीं है । साधक अपने आप पूछता है—“इस अधिकार में तुम कहाँ जा छिपे हो ऐ मेरे स्वामी” । अन्तर से आवाज आती है, “तुम्हारे हृदय की गुफा में” ।

एकाएक प्रकाश का दिव्य पुञ्ज देख कर जिस प्रकार हमारी आँखें झँप जाती हैं, जिस प्रकार प्रखर रश्मियों को हम खुली आँखों नहीं देख पाते उसी प्रकार साधक की आंतरिक आँखें भी भगवान् के दिव्य तेज पुञ्ज से चौंधिया जाती हैं और इस विरह की स्थिति में साधक सर्वथा अपने को परित्यक्त, आश्रयहीन, निराधार, निरवलम्ब समझ लेता है । उसकी चेतना इतनी जड़ हो जाती है कि वह भगवान् के स्पर्श का अनुभव नहीं कर पाता । एक विचित्र उदासी, एक अकथनीय गभीरता, एक घना निविड विषाद का कुहरा छा जाता है जब वह साधक स्पष्ट देखता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है, मुझे कुछ भी नहीं चाहिये ।*

* Desolation and loneliness abandonment by God and by man, a tendency of everything to go wrong, a profusion of unsought trials and grief—all are here. Underhill.

इस गभीर विषाद में, इस अथाह मौन में ही भगवान् के दिव्य आश्वासन के शब्द सुन पड़ते हैं। बाहर का सारा ससार जब घोर तमिस्रा से भर जाता है तभी हृदय के आकाश में प्राणनाथ की मधुर शीतल कोमल अंग से छिटकती हुई किरणों के दर्शन और स्पर्श प्राप्त होता है। अन्तस्तल में प्रकाश सदा सदैव प्रकाशित है परन्तु उसकी अनुभूति चारों ओर से अधकार से घिर जाने पर ही होती है। जब जगत का सारा कोलाहल, सारी इच्छाएँ वासनाएँ मिट जाती हैं तभी प्राणप्यारे की वशी की मधुर ध्वनि सुन पड़ती है। प्रत्येक साधक के पथ में वह विषाद आता ही है जिसे 'Dark Night of the Soul', कहते हैं और जिसके गर्भ में आनन्द का उत्सव है। ईसाई साधक 'सूसो' का जीवन इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। साधक विषाद की इस घोर निविड़ अमावस्या में, जगत के विलास की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेता है और इस गहरी उदासी की अवस्था में उसे यह अनुभव होता है कि मैं और जो कुछ भी मेरा है तुच्छ है, अकारण है। और इसी क्षण उसकी हृदयगुफा में से कोई बोल उठता है—“खोलो, द्वार खोलो, मैं मिलने के लिये युग-युग से खड़ा हूँ”। उसी 'आवाज' को सुनकर मीरा ने गाया है—

सुनी री मने हरि आवन की आवाज ।

महल चढ़े चढ़ि जोउ मेरी सजनी कब आवे महाराज ॥

दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज ।

उभंग्यो ईहु चहुँ दिसि बरसै दामिणि छोडी लाज ॥

धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज ।

मीरा के प्रभु हरि अविनासी वेग मिलो महाराज ॥

आँख-मिचौनी

“विषाद की अमावस्या” (The Dark Night of the Soul) को पार कर प्रेमी भक्त एक ऐसी स्थिति में आता है जिसे ‘आँख-मिचौनी’ कह सकते हैं। इसे आत्म-प्रकाश (Illumination) तथा आनन्द-संयोग (Ecstatic Union) की स्थिति भी कह सकते हैं जिसमें भक्त और भगवान का मधुर प्रेमालाप होता है—भक्त अपनी सुनाता है, भगवान अपनी। यह परम आत्मीयता की स्थिति है जिसमें भक्त भगवान में और भगवान भक्त में अपना रूप निहार-निहार कर मग्न होते हैं और हृदय की भाषा में एक दूसरे से मौन प्रेमालाप करते हैं। यह अस्फुट प्रेमालाप उन्हीं के शब्दों में सुनने लायक है। अस्तु।

इस लुका-छिपी में, इस धूप-छाँह में ओ मायावी ! ओ चतुर खिलाडी ! मेरे प्राणों के साथ कैसे-कैसे खेल खेला करते हो ! यह तुम्हारी ललित लीला, यह तुम्हारी मोहिनी माया मुझे एक क्षण भी विराम नहीं लेने देती ! आते हो, अचानक, चुपचाप, नीरव निशीथ में पैरों की चाप छिपाये, पैंजनी की रुनझुन दबाये, मुरली का स्वर और किकणी का कवणन समेटे, आते हो; धीरे से, चुपके से मेरे प्राणों को छू देते हो। उस स्पर्श में मेरे रोम-रोम जग जाते हैं, अन्तर में सोई हुई चिरन्तन लालसा, अमर-प्यास जग पडती है, हृदय का रेशा-रेशा उस कोमल मधुर आर्द्र शीतल अमृत स्पर्श में सिहर उठता है—अतल प्राणों में तुम्हारे स्पर्श की लहर से उद्भूत एक विचित्र सुखानूभूति होने लगती है—ऐसा मानो मैं तुम्हें अपने अलिङ्गन में बाँधे हुई हूँ—तुम मुझे अपने अलिङ्गन में बाँधे हुए हो ! ! आहा ! वह सुख, वह स्पर्श, वह आनन्द !

आँखें खुलती हैं, रोम-रोम खुलते हैं, प्राण-प्राण खुलते हैं, हृदय का कपाट खुलता है, श्वास-श्वास के द्वार खुल पड़ते हैं अपने इस अनोखे अतिथि, प्राणेश्वर, प्राण-वल्लभ के स्वागत के लिये ! चिर अभिवाञ्छित साध के कण-कण में हरि ! हरि ! का आवाहन सुनायी पड़ने लगता है । अब क्या ! मेरे जन्म जन्म की लालसा पूरी हुई; प्रभु ने स्वयं दया कर अपने दर्शन और स्पर्श से मुझे निहाल कर दिया ! कितने अकारण दयालु है वे ! स्वयं इस अँधेरी अर्धरात्रि में घने बीहड़ वन और काँटों का पथ तय कर, इस सुनसान रजनी में मुझ दासी को अपनाने के लिये आये और आज पहले की भाँति आकर, एक क्षणमात्र के लिए झलक दिखाकर चले नहीं गये अपितु मुझे अपने मधुर स्पर्श का सुख भी दिया ।

ऐसे पियै जान न दीजै हो ।

चलो री सखी ! मिल राखिये, नैननि रस पीजै हो ।

स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो ॥

जोइ जोइ भेषसो हरि मिलें सोइ सोइ कीजै हो ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बड़भागन रीजै हो ॥

हृदय हिल्लोरें ले रहा है, प्राण बेसुध-से है । मन माता-माता फिरता है । रोम-रोम नहा रहे हैं इस अमृतवर्षा में । इस जगती में तुम्हारे सिवा कुछ रहा ही नहीं । कण-कण में तुम्हारी छवि छलकती हुई इठला रही है । धरती धन्य हुई तुम्हारे कमल कोमल चारु चरणों के परम पावन स्पर्श से । आकाश धन्य हुआ अपने हृदय में तुम्हारी परछाही की श्यामल आभा पाकर । वायु धन्य हुआ तुम्हारी आरती उतार कर । समुद्र धन्य हुआ तुम्हारे चरणों को पखार कर । आज वसुंधरा में एक अद्भुत उल्लास छा रहा है, सभी मानो तुम्हारे आगमन और दिव्य स्पर्श के सुख से बेसँभार होकर, मतवाले-से नाच रहे हैं । आनन्द हृदय में समा नहीं रहा है, इसे बाँटने की इच्छा होती है, पर वाणी स्वयं उस अमृत में छकी हुई है, कुछ कहना नहीं चाहती । समस्त चराचर अपने प्राणेश्वर को पाकर उसके मधु आलिङ्गन में डूबा हुआ है ! किसी से कोई क्या कहे, क्या सुने ?

चरचा करी कैसे जाय ।

बात जानत कछुक हमसो, कहत जिय थहराय ॥

रे मन ! रे प्राण ! हृदय ! नयन ! पीओ, पीओ, इस अमृत-सिन्धु में डूबो, डूब जाओ ऐ हृदय ! ऐ आँखें अपने स्वामी को देखो ! देखते-देखते ऐसा

देख लो कि फिर कुछ देखने को रहे ही नहीं । जन्म-जन्म की साध । आज अपना भाग्य सराहो, आज प्रभु के चरणतल में लोटो । आज तुम धन्य हो गयी, ओ मेरे प्राणों की चिरविकल प्यास । तुम्हीं तो ढूँढ लायी हो इस अप-रूप रूप को, इस मधुर मनोहर श्यामसुंदर को । अहा । प्रभु के चरणनख की विद्युत् बुत्ति ने मेरे अन्तस् को आलोकित कर दिया है, जगमग कर दिया है । यह प्रकाश ! यह शोभा ! ! यह आनन्द ! !

प्रभो ! मैं यह क्या देख रही हूँ ? क्या मैं यह स्वप्न देख रही हूँ ? क्या यह कल्पना का लोक है ? प्यारे, मेरे जीवनधन । आज तो तुम ससार से भी अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहे हो । संसार तो मानो तुम्हारे आलोक में विस्मित, तुम्हारे रूप पर विमुग्ध तुम्हारे चरणों के नीचे लोट रहा है । ससार के मस्तक पर चरण रखकर तुम आये हो देव । और मुझे भी अपनी गोद में ऊपर उठा रहे हो । मुझे भी उठा लो मेरे प्राण ! अरे इस ससार की क्या हस्ती कि मुझे छू भी सके । मैं तो हरि की गोद में हूँ, हरि ने मुझे अपने हृदय में छिपा रखा है । ससार की याद ही इस समय क्यों आवे ? श्री हरि शरण मम ।

अरे ! एक क्षण भी तो नहीं हुआ और ओ छलिया ! ओ कपट ! फिर वही लुका-छिपी ! वही धूप छाँह ! अभी भर आँख देख ही कहाँ पायी थी, हरे ! पूरा एक क्षण भी नहीं बीतने पाया और तुम्हारी छवि झिलमिल-झिलमिल-सी होकर पता नहीं कहाँ किस अदृश्य में छिप गयी । प्रभो ! इतनी दया कर जब आये ही तो एक क्षण और ठहर जाने में क्या लगता ! मैं तो तुम्हारी ही बन्दिनी हूँ, अपनी इस चरणों की चेरी को इतना क्यों भरमा रहे हो ? अधिक नहीं, बस एक बार भर आँख देख लेती, एक क्षण तुम्हारे रूप को निरख पाती, एक बार तुम्हारे परम पावन चरणों को अपने भूखे प्यासे प्राणों से सस्पर्श कर पाती । इन कमल कोमल, परम शीतल, त्रिविध ज्वाला-हरण चरणों को अपने वक्षस्थल से लगा कर जी की ज्वाला शान्त कर पाती अपने हृदय की इस अल्हड़ लालसा को पूरी कर पाती । यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है, ओ मेरे जन्म-जन्म के प्यारे साथी !

और, तुम तो मेरे जन्म-मरण के साथी हो देव ! ससार में जब कोई भी 'अपना' नहीं होता तब भी तुम मेरा अपना, एकमात्र 'अपना' बनकर सदा-सदैव साथ बने रहते हो । सब कोई मुझे छोड़ दे पर तुम मुझे कैसे छोड़ोगे ? कितने इस हृदय के आँगन में आये और चले गये; आज उनकी धूमिल छाया भी नहीं है । भूल से, मोह और आसक्ति से उन्हे ही अपने 'प्राणों का देवता'

मानकर उनके चरणों में आत्मार्पण करना चाहा परन्तु हरि ! हरि ! तुम कितने उदार, कितने दयालु हो ! उसी समय, ठीक उस पागल बेल में—मेरे प्राणों में अपना प्रकाश फेककर, मेरे हृदय में अपनी ज्योति डालकर, मेरे अन्तस्थल में अपनी प्रीति बरसाकर और मेरी आँखों में अपनी छवि की माधुरी बिखेर कर मुझे जगा लिया—‘ओ भोले प्राणी ! ससार में किस-किस के चरणों में अपने को निछावर करोगी ? किस-किस रूप पर अपने को लुटाओगी ? रूप की धूप में यो न जलो ! लावण्य की धार में यो न बहो ! अपने को सम्हालो और मेरी ओर देखो ! तुम्हारे प्राणों के भीतर जो हाशकार है, जो आतुर उत्कठा है, अमर लालसा है, अतृप्त वासना है, तुम्हारे रोम-रोम में रूप के प्रति जो रुझान है, सौन्दर्य के प्रति जो आकर्षण है वही तुम्हारी निधि है ! तुम्हारे भीतर जो प्यास है, मुझे देखने, छूने, पाने और मुझमें समा जाने की जो सलोनी साध है वहीं तुम्हारे अन्तःपुर का रुचिर मणि-प्रकाश है । तुम्हारी स्थूल आँखों से ओझल तो मैं हो गया हूँ परन्तु अपना वरदान, अपना प्रीति-प्रतीक तुम्हारी हृदय-गुफा में छोड़कर आया हूँ इसलिए कि तुम मुझ छिपे हुए को खोजो, खोजते रहो और खोजते-खोजते स्वयं खोज में ही खो जाओ । यह ‘खो जाना’ ही साधना का चूड़ा-मणि है । इसे प्राप्त कर लेने पर मेरी प्रीति प्राप्त करोगे और उस प्रीति के द्वारा ही तुम्हें मेरा दर्शन और स्पर्श—कभी न हटनेवाला दर्शन, कभी न मिटनेवाला स्पर्श प्राप्त होगा । उस स्पर्श के कारण ही तुम दिव्य हो जाओगे और फिर तो मैं तुम्हें अपने हृदय में छिपा लूँगा; मेरे हृदय में तुम होगी और तुम्हारे हृदय में मैं । मेरे चित्त में तुम्हारा चित्त प्रवेश कर जायगा और मेरे प्राणों में तुम्हारा प्राण ! मेरे मन में तुम्हारा मन मिल जायगा और मेरी इच्छा में तुम्हारी इच्छा । फिर शेष कुछ रह ही नहीं जायगा जिसके द्वारा तुम मेरे सिवा अन्य किसी वस्तु को देखोगी ! मेरी दृष्टि में अपनी दृष्टि मिलाकर फिर ससार को देखो—फिर यह ससार ही मेरी गोद के रूप में तुम्हें प्राप्त होगा ! मैं तुम्हें देखता रहूँगा, तुम मुझे ! बीच में कुछ आवरण जैसी कोई वस्तु रहेगी ही नहीं ! वह सुख, वह शान्ति, वह प्रेम और वह आनन्द तुम्हें प्राप्त हो इसीलिए तो मैंने तुम्हारे भीतर यह अतृप्त पिपासा की चहाम भीषण ज्वाला भर रखी है । यह तडप ही, यह ज्वाला ही, यह विकलता ही मेरी ‘प्रसादी’ है । इसे बड़े जतन से प्राणों में जगोये रखो, और, सावधान ! ससार में किसी पर भी हमारे तुम्हारे मधुर सम्बन्ध की गोपनीय बात प्रकट न हो ।’

भीतर यह क्या सुन रही हूँ प्रभो ! यह क्या तुम्हारी वाणी है ! क्या मैं अपने प्रियतम के ये मधुर आश्वासन के प्रीति भरे वचन सुन रही हूँ ! क्या वह मेरी इतनी सुध रखता है ! क्या पग-पग पर वह मेरी सभाल रखता है ! क्या उसके हृदय में मुझ नाचीज के लिए इतना स्नेह, इतनी प्रीति है ! क्या वस्तुतः वह मुझे मदा अपनी छाती में छिपाये हुए है ? क्या हर समय मैं अपने प्राणेश्वर हरि की गोद में न खेल ही हूँ ? उसी की सिरजी हुई, उसी की भेजी हुई, उसी की विश्वगोद में मैं स्वच्छन्द, निश्चिन्त, निर्भय, निर्द्वन्द्व, अलमस्त विचर रही हूँ । फिर भी मन में इतनी बेचैनी क्यों है ? क्यों उससे रो-रोकर कातर प्राण बार-बार यही भीख माँग रहे हैं ? —

तनिक हरि चितवो हमरी ओर !

हम चितवत तुम चितवत नांही दिल के बड़े कठोर !!

भक्त और भगवान् के बीच इस प्रेमालाप के अनन्तर धीरे-धीरे भक्त की भाव देह अपनी परम पवित्र स्थिति में पलटने लगती है और इस पवित्रता (purification) की स्थिति को पार करता हुआ वह धीरे-धीरे भगवान की एक-एक लीला में प्रवेश करने लगता है और भगवान् के साथ उसका नित्य लीला विहार हुआ करता है । भक्त का भगवान में और भगवान का भक्त में यही 'रमण' है । भक्त और भगवान्—दूसरे शब्दों में प्रेमी और प्रियतम के बीच 'आँखमिचौनी' की यह प्रणय लीला, यह कुतूहल कितना मधुर, कितना मादक कितना आनन्दोल्लास पूर्ण है !

लीला-विहार

श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन-विहार का जो प्रवाह चलाया उसमें भगवान के रूप एवं लीलाओं का मधुर विन्यास होने के कारण, भक्तों का हृदय पूर्णतः रम गया। इसमें प्रेम एवं आनन्द की जो खोतखोती उमड़ी वह जयदेव और विद्यापति के काव्य कण्ठ से और भी प्रखर हो चली। सभोग श्रृंगार का जो सूक्ष्म निदर्शन जयदेव और विद्यापति में हुआ वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी 'चन्दनचर्चित नील कलेवर पीत वसन बनमाली' तथा 'रतिमुख सारे गतमभिसारे मदन मनोहर वेश' को ही गा-गाकर वैष्णव सम्प्रदाय के महाभाववाले भावुक भक्त भावना में लीन हुआ करते हैं तथा अपने 'हृदयेश' का अनुसरण किया करते हैं। इस रूप से आँखें अघाती ही नहीं, न हृदय जुड़ाता ही है। विद्यापति ने कहा है—

जनम जनम हम रूप निहारनु,
नयन न तिरपित भेल ।
लाख लाख जुग हिया बिच राखनु,
तबू हिया जूड ना भेल ।
वचन अमिय अनुक्षण शूनलूँ,
श्रुतिपथ परस न भेल ।
कत मधुयामिनि रभसे गँवावल,
ना बुझल कैसेन केलि ।

जन्म-जन्म से हम उसे देखते आ रहे हैं फिर भी आँखें तृप्त न हुईं ।
लाख-लाख युग से हमने उसे अपने हृदय के हृदय में रक्खा, तो भी हृदय जुड़ाया
नहीं । रात-दिन उसकी बातें सुनी फिर भी कानों ने अघाना न जाना ।

कितनी मधुर राते उसके परिरभन में बितायी परन्तु पता न चला कि कभी भी उसके साथ केलि की है। हृदय की यह प्यास कभी बुझना नहीं जानती।

भगवान् की यह माधुरी चार प्रकार की होती है—ऐश्वर्यमाधुरी, लीला माधुरी, वेणुमाधुरी और विग्रहमाधुरी। ऐश्वर्य-माधुरी में भगवान् का ऐश्वर्य मुख्य रूप रहता है; इसमें भगवान् के चमत्कारी महत्कार्य तथा लोकसृजन और लोक-संरक्षण की महिमा, जन साधारण में भयमिश्रित श्रद्धा—जिसे अंग्रेजी में 'awe' कहते हैं, उत्पन्न करती है। क्रीडामाधुरी में गोपबालको के साथ खेलना, माँ से रार मचाना, सखाओं के साथ छेड़-छाड़ तथा मान मनोबल और सखियों के साथ 'दानलीला' सम्मिलित है। वेणु-माधुरी में भगवान् की वेणु की विमोहिनी शक्ति का वह जादू है—जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव सनकादि मोहित हो जाते हैं, जड़ चेतन और चेतन जड़ हो जाता है। विग्रहमाधुरी में भगवान् के त्रिभुवनमोहन परम मधुर, परम मनोहर रूप का रसपान है।

निपट बंकट छवि अटके,

मेरे नैना निपट बंकट छवि अटके ॥

देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके।

बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके ॥

टेढ़ी कटि, टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।

'मीरा' प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ॥

इस प्रकार, टेढ़ी भौंहे, टेढ़ी कटि, टेढ़ी मुरली तथा टेढ़ी पाग वाले त्रिभंगी श्यामसुन्दर की ललित छवि टेढ़ी होकर मीरा के हृदय में अटकती है। सूरदास ने भी एक स्थान पर इसी प्रकार त्रिभंगी रूप का हृदय में अटकना देख कर कहा था कि यह टेढ़ी-सी चीज हृदय से भला निकले तो कैसे ?

गोपियो ने भी यही कहा था—हे कात ! जब आप गौ चराते हुए ब्रज से बाहर जाते हैं तब आप के कमल सदृश सुन्दर चरण ककड पत्थर के छोटे छोटे टुकड़े, तृण और अकुरी से दुख पाते हैं ऐसा सोचकर हमारा हृदय व्यथित हो उठता है हे वीर ! सायकाल के समय काले घुघराले केश से आवृत और गोधूली से व्याप्त अतएव भ्रमरपक्षि और पराग से आवृत कमल के समान अपने मुखारविन्द को हमें बार बार दिखाते हुए आप हमारे मनमें अपने सस्पर्श की इच्छा प्रदीप्त करते हैं। मीरा गाती है—

या मोहन के रूप लुभानी !

सुंदर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी ।

जमना के नीरे तीरे धेनु चरावें बंसी में गावें मीठी बाणी ।

तन मन-धन गिरधर पर बाहूँ चरण कमल मीरा लपटानी ॥

रूप की धूप में पड़ा हुआ मन कभी तो श्रीकृष्ण के धेनुचरावन में उलझता है और कभी वशी की तान में । मीरा में लीला-विहार के हेतु वशी तथा गोचारण ही मुख्यतः उद्दीपन रूप में आए हैं, गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ाएँ नहीं । इसका मुख्य कारण यह है कि मीरा की भक्ति परम भाव की थी और कोई भी पत्नी अपने पति का दूसरी किसी भी स्त्री के साथ रमण करने की अप्रिय भावना को अपने भीतर स्थान नहीं दे सकती । मीरा का भाव एक सती साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी या परकीया का नहीं । हाँ विरह-वेदना में झुलसे हुए हृदय ने दो एक स्थलों पर 'खीझ'-भरे उपालभ के वचन सुनाए हैं—

दयाम म्हासू ऐंडो डोले हो ।

औरन सूं खेलें धमार, म्हासूँ मुखहूँ ना बोलें हो ॥

म्हारी गलियाँ ना फिरें, वाके आंगन डोलें हो ।

म्हारी अँगुली ना छुवें, वाका बँहियाँ मोरें हो ॥

म्हारो अँचरा ना छुवें, वाको धूँघट खोलें हो ।

मीरा के प्रभु साँवरो, रग रसिया डोलें हो ॥

मीरा ने एक और स्थान पर इसी मीठे उपालभ में कहा है कि तुमने गोपियों के साथ क्या-क्या न किया और मेरे लिए 'ब्रह्मचारी' बनते हो—

म्हारो सगपण तोसूँ साँबलिया, जगसूँ नहीं विचारी ।

मीरा कहे गोपिन को बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी ॥

यहाँ इस 'ब्रह्मचारी' शब्द में कितना गूढ़ व्यंग्य है । इसमें खीझ भी है और मनुहार भी । ऊपर के पद 'सगपण' का अर्थ है सगापन, परम आत्मीयता ।

अपने प्रेम-पात्र का प्रेमी की ओर निठुराई और दूसरों के प्रति रुझान देखकर हृदय में गहरी टीस एवं कलक किलक उठती है जिसका भाव-पूर्ण चित्र उपर के पद में है । परन्तु सती-साध्वी स्त्री तो पति के इस 'अनाचार' को भी सहती ही है और धैर्य धारण कर अपने को सान्त्वना देती है—

मीरा के प्रभु गहर गभीरा हृदय धरो जो धीरा ।

आधि रात प्रभु दरसन देंहें प्रेम नदी के तीरा ।

लीला-विहार में मीरा ने ब्रजभूमि, भगवान् की बाललीला, वशीवादन लीला, नागलीला, चोरहरण लीला, मिलन लीला, पनघटलीला, फागलीला, दधिवेचन लीला, मथुरा गमन, तथा ऊधव-सवाद को मुख्य रूप में स्मरण किया है। उसके पदों में शवरी, सुदामा, गणिका, गज और अजामिल का भी उल्लेख है, पर बहुत ही चलता हुआ और बस उल्लेखमात्र। इन प्रसंगों में स्पष्ट ही मीरा का हृदय रमा नहीं है केवल परपरा का प्रवाह निबहता गया है ऐसा समझना चाहिए। ब्रजभूमि का बहुत भावग्राही वर्णन मिलता है—

आली म्हांने लागे वृंदावन नीको ।

घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसन गोविंद जी को ।

निरमल नीर बहुत जमना को, भोजन दूध वही को ।

रतन सिंघासन ग्राप विराजै मुगट धर्यो तुलसी को ।

कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुगात मुरली को ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको ।

इसमें सबसे मनोहर है वशीध्वनि सुनकर कुञ्ज-कुञ्ज में राधा का ढूँढते फिरना। बाललीला के पदों में भी मीरा का हृदय पूरा-पूरा रमा है ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऊपर कारण बतला आया है कि दाम्पत्य रति बालक बालिका की रति नहीं है, युवक-युवती की रति है। पत्नी अपने पति के बाल रूप में नहीं रमा करती। इस सबध का मीरा का वह पद अमर है। वृंदावन की गलियों में नाचते हुए नन्दकिशोर के कुण्डलों की झकझोर सामने आ जाती है—

सखी, म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर ।

मोर मुगट पीताम्बर सोहै, कुडल की झकझोर ।

विद्रावन की कुंजगलिन में नाचत नंदकिशोर ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणकवल चितचोर ।।

वशी की मोहिनी मीरा के हृदय को नचा रही थी, उसके प्राणों में मिलन की उत्कट वासना उद्बुद्ध कर रही थी पर मीरा का हृदय श्रीकृष्ण की विग्रहमाधुरी पर अत्यन्त आसक्त था इसी लिए उसमें रूपमाधुरी के ही पद विशेष मिलते हैं। जिस वशी को लेकर गोपियों ने अनेक प्रकार की व्यंग्योक्तियाँ की हैं जिस मुरली के अधर रसपान पर गोपियों को ईर्ष्या और 'सौतिया डाह' हो आया है उस वशी पर मीरा का बस एक ही गीत है।

इसका कारण, जैसा ऊपर कह आया हूँ, मीरा की 'रूपासवित' ही है। वशी वादन का वह पद यो है—

भई हौं बाबरी सुन के बाँसुरी
हरि बिनु कछु न सुहावै ।
खवन सुनत मेरी सुध भुध बिसरी
लगी रहत तामें मन की गाँसुरी ।
नेम धरम कोन कोनो मुरलिया
कौन तिहारै पासु री ॥
मीरा के प्रभु बस कर लीने
सप्त सुरन ताननि की फाँसु री ॥

वशी-वादन की तरह चीर हरण का भी बस एक ही षद मिलता है—'आज अनारी ले गयो सारी, बैठि कदम की डारी' इत्यादि। पर इस पद में मीरा भागती हुई नजर आती है। जम कर उसने चीरहरण-लीला का वर्णन नहीं किया है। स्त्री सुलभ सुकुमारता और लज्जा उसे सकोच में डाल देती है।

श्रीकृष्ण के साथ एकान्त मिलन या 'छेडछाड' के पद भी मीरा में नाममात्र के ही हैं। उसमें भी श्रीकृष्ण के रूप-रस का ही सकेत विशेष है, उनका 'शरारत' का बहुत कम। इस लीला में भी मीरा का हृदय पूरी तरह रम न पाया। रमा हो भी तो उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई—

आबत मोरि गलियन में गिरधारी,
मैं तो छुप गई लाज की मारी
कुसुमल पाग केसरिया जामा,
ऊपर फूल हजारी
मकुट ऊपर छत्र विराजे,
कुडल की छवि न्यारी ॥
केसरी चीर दरयाई को लँहगो
ऊपर अंगिया भारी ।
आबत देखी किसन मुरारी,
छुप गई राधा प्यारी ॥
मोर मुकुट मनोहर सोहैं,
नथनी की छवि न्यारी ।

गल मोतिन की माल बिराज,
चरण कमल बलिहारी ।

ऊभी राधा प्यारी अरज करत है
सुण जे किसन मुरारी ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर
चरण कमल पर वारी ।

तथा

छाँडो लंगर मोरी बँहिया गहो ना ।

मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ॥

जो तुम बँहियाँ मोर गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना ।

बन्दावन की कुञ्ज गलिन में रीत छोड़ अनरीत करो ना ॥

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना ।

इस पद में 'नयनजोर मोरे प्राण हरो ना' की बेवसी भरी मनुहार और आत्मदान के आन्तरिक माधुर्य पर सहृदय पाठको का ध्यान सहज ही जायगा । 'पनघट लीला' का एक बड़ा ही भावपूर्ण मधुर गीत 'काफी' राग में है जिसमें प्रेम का दिव्य उल्लास छलक पड़ा है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे ।

मन लागी कटारी प्रेमनी रे ॥

जल जमुना साँ भरवा गयाँ ता हती गागर माथे हेमनी रे ।

काचे ते तातणे हरी जीए बाँधी जेम खीचे तेम तेमनी रे ॥

मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर सामली सुरत सुभ एमनी रे ॥

मीरा के लीला-विहार में भगवान् श्री कृष्ण की विविध लीलाओं का विस्तार कम मिलता है, उसमें या तो मिलन का आनन्दजन्य उल्लास है या विरह जन्य वेदना । श्रीकृष्ण का रूप ऐसा लुभावना और छवि ऐसी मोहक है कि उसने प्रेम के कच्चे धागे में हमारे हृदय को बाँध रखा है कि जैसा चाहता वैसा ही नाच नचाया करता है ।

कहीं-कहीं प्रेम की 'खीझ' के बड़े ही सुंदर भाव मीरा में मिलते हैं जहाँ वह अपने प्राणनाथ को औरों के साथ तो स्वच्छन्द लीला-विलास करते देखती है और अपनी ओर उसकी उदासीनता देखती है । उर्दू और फारसी काव्य-साहित्य में बेवफाई के, शिकवा के भावों का अच्छा विन्यास हुआ है जो उनकी अपनी विशेषता लिये हुए है । मीरा एक स्थान पर कहती है—

स्याम म्हांसूं ऐंडो डोले हो ।

औरन सूं खेलै धमार म्हांसूं मुखहू न बोलै हो ।

म्हारी गलिया ना फिर बाँके आँगण डोलें हो ।

म्हारी अंगुली ना छुवें बाँकी बहिया मोरे हो ।

म्हारी अचरा न छुवे, बाको घूँघट खोले हो ।

मीरा के प्रभु साँवरो, रंगरसिया डोले हो ॥

सात्विक ईर्ष्या की रसानुभूति में तडपती हुई मीरा ने कहा कि 'बाहर घाव कछू नहि दीसै रोम रोम में पीर' । वह चारो ओर से देखती है कि प्रिय का पथ उसके लिये बद है वह उससे मिले तो कैसे ?

गली तो चारो बन्द हुई मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ।

और

पिया दूर पंथ म्हारो झीणो सुरत झकोला खाय ।

परन्तु 'पिय के पलग पर पौढने' की उत्कट कामना तीव्र होती जाती है और मीरा निश्चय कर लेती है—

श्री गिरधिर आगे नाचूंगी ।

नाचि नाचि पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमी जन को जाचूंगी ॥

लोक-लाज कुल की मरजादा या मैं एक न राखूंगी ॥

पिय के पलगा जा पौढूंगी मीरा हरि रंग राचूंगी ॥

लोक-लाज और प्रेम 'एक म्यान में दो खड्ग' के समान साथ नहीं रह सकते, इसका प्रेमी साधको को पूरा अनुभव है ।

अपने प्राणनाथ के प्रति सच्ची रहनेवाली सती-साध्वी को ससार का क्या भय, लोक-लाज का क्या बधन ?

मैं अपने सँयाँ संग साँची ।

अब काहे की लाज सजनी परगट हूँ नाची ।

दासी मीरा लाल गिरधर मिटी जग हाँसी ।

जिस जीवनधन के बिना ससार सूना है, जिस एक रस के बिना विश्व के विविध रस नीरस है भला उसके साथ मिलने के लिये विलंब क्यों ? ऐंचातानी क्यों ?

मैं तो साँवरे के रंग राची

साजि सिगार बाँधि पग घुँघरू लोक लाज तजि नाची ।

उण विण सब जग खारो लागत और बात सब काची ॥

मीरा श्री गिरधन लाल सँ भगति रसीली जाची ॥

जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियों में सभोग शृंगार का जो विशद वर्णन मिलता है वह मीरा में खोजे भी न मिलेगा । मीरा ने

कुल की कानि तथा लोक की लाज छोड़ी थी, तो केवल अपने श्री गिरिधारी लाल के चरणों में सर्वात्म-समर्पण के लिये ही; स्त्री-मुलभ आत्म-गोपन का भाव तो बना ही रहेगा। शृंगार के सुखद सभोग का वर्णन कौन कहे मिलन के स्वाभाविक सुख का जहाँ-कहीं सकेत है भी, उसमें आलिंगन, चुबन, परिरम्भन आदि का नाम तक नहीं है। मिलन के आनन्द को हृदय की प्रफुल्लता द्वारा ही मीरा ने प्रकट किया है। सात्विक लक्षणों का भी कम उल्लेख है। रोमांच, वैवर्ण्य, प्रकप, प्रस्वेद आदि के बहुत ही हल्के चित्र मिलते हैं, उनका विशद चित्रण करना मीरा के लजीले हृदय को स्वीकार न था। वैष्णव कवियों में गोपियों के विरहानल का वर्णन विशेष रूप में मिलता है और वे गोपियों की विरह-वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते हैं। गोपियों की स्थिति में, रखकर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव एवं व्यक्त करने में उन्हें कुछ सुगमता हो जाती है। परन्तु मीरा का प्रेम मन-बहलाव का एक साधन मात्र नहीं रहा। उसमें किसी प्रकार के अधिरोप के लिए गुञ्जाइश ही नहीं थी। वह तो स्वयं उसीमें धुल गई जैसे दूध में मिश्री, जल में रंग। वह हमारे सम्मुख एक प्रेयसी के रूप में, मुग्धा नायिका के रूप में नहीं आती, प्रत्यूत् श्रीकृष्ण की एक सती साध्वी भक्तिवित्तला प्रेम-परायणा सखी के रूप में ही आती है, जिसने अपनी सारी आकांक्षा, सारी अभिलाषा श्रीकृष्णार्पण कर दिया है। इसी हेतु उसे गोपियों को अपने और हरि के बीच मध्यस्थ बनाने की आवश्यकता न पड़ी। *

मीरा का मिलन राधा और कृष्ण का मिलन नहीं है, स्वतः मीरा और कृष्ण का मिलन है। ऐसे मिलन में मध्यस्थ की न कोई आवश्यकता ही है और न गुञ्जाइश ही। मीरा को तो अपने को राधा या गोपी के व्याज से तदात्म्य-भावना करनी थी नहीं, इसी हेतु 'गोपी-मोहन' 'राधा-वल्लभ' आदि, आदि भाव में स्मरण न करके मीरा ने श्यामसुन्दर तथा गिरधर गोपाल के रूप में ही कृष्ण को स्मरण किया है। इसी हेतु अपनी भावना को तीव्र करने के लिये वह अपनी निजी वेदना को ही उडेलती है न कि कृष्ण के विरह में गोपियों की वेदना को। कोई भी साध्वी पत्नी इस विचार को अपने मन में आने न देगी कि उसका पति किसी अन्य स्त्री से भी प्रेम करता है। इसी हेतु ऊपर कहा जा चुका है कि मीरा का प्रेम एवं प्रेमजन्य वेदना उधार ली

* Mystic love is a total dedication of the will, the deep-seated desire and tendency of the soul towards its source.

हुई या बखाडी हुई नहीं है । वह तो भक्ति-वित्तल आतुर हृदय की परम पावन पुकार है जिसमें ससार की ओर से आँख मूँद कर अपने प्राणाधार की सजीव मूर्ति में केलि कर रही है । मीरा का प्रेमोत्सर्गपूर्ण जीवन स्वतः समर्पण का एक अविच्छिन्न सगीत है, अविरल पीयूष-प्रवाह है । मीरा का प्रेम भक्ति और प्रीति का निखरा हुआ सुव्यवस्थित, सुविकसित स्वरूप है । मीरा की भक्ति हृदय की मूक वेदना है जो अपने 'पूरब जनम के साथी' के लिये उसके हृदय के रेशे-रेशे को तर कर देती है ।

ढूँढ़ने को तुझे ओ मेरे न मिलनेवाले
वह चली है जिसे अपना भी पता याद नहीं ।

उत्फुल्ल प्रेम

श्री रूप गोस्वामी ने 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में प्रेम के क्रमिक विकास का वर्णन यों किया है—

श्राद्धौ श्रद्धा, ततः संगस्ततोऽथ भजन-क्रिया ।

ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।

साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥

श्रद्धा, सग, भजन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्ति का क्रम विकास होते होते 'भाव' का उदय होता है। यह 'भाव' ही, प्रेम-पात्र के प्रति हृदय की यह रुझान ही प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था है—'प्रेम्णस्त प्रथमा-वस्था भाव'। चारों ओर से हृदय सिमट कर प्रेम-पात्र में ढल जाता है। मीरा के उस परम प्रियतम की एक झाँकी तो लीजिए—

उस परम प्रियतम के सिर पर चद्रकला युक्त मोर मुकुट शोभा दे रहा है। अटपटी पाग टेढ़ी रखी है जिसमें मोतियों की लड़ियाँ लटक रही हैं। माथे पर केसर का तिलक है जिसकी दोनों ओर काली काली टेढ़ी, बल खायी हुई पेचदार अलके झूम खा रही हैं। कानों में कुडल झलक रहे हैं जिसकी झलमल ज्योति कपोलों पर पड़ रही है, नासिका अत्यन्त सुन्दर हैं और दाँतों की द्युति दाडिम के समान है। नेत्र रतनारे मदभरे लाल-लाल और विशाल हैं। उन पर टेढ़ी भौंवे विचित्र शोभा दे रही हैं। सुन्दर ग्रीवा पर तीन रेखाएँ पड़ी हैं। गले में बैजयन्ती माला है। कटितट पर करधनी सुशोभित है और उसमें छोटी-छोटी घुँघरें लगी हैं। पैरों में नूपुर का रसीला शब्द मन को सहज ही मोह लेता है। पीताम्बर धारण किए हुई

वह मोहिनी मूरत कालिन्दी के तट पर कदम्ब के नीचे अपने मधुर अधरो पर रख कर मद मद मादक स्वर से मुरली बजा रही हैं। टेढी वितवन और मंद मुस्कान प्राणो को हर लेनेवाली हैं। और उसके रोम-रोम से छलकते हुए सौंदर्य-मधु को पान करने के लिए मन-प्राण में अजीब बेबसी भर जाती है। प्रेम ही भगवान की सत्ता है, प्रेम ही भगवान का स्वरूप है, प्रेम ही उनका रंग है, प्रेम ही उनका रूप। प्रेम से ही वे पकड़े जाते हैं और उन्हे पकड़ कर प्रेमी को एक मात्र प्रेम की ही जलन वरदान में प्राप्त होती है। वही भक्त और भगवान का मन प्रेम में एकाकार हो जाता है। प्रेमी सारा ससार ढूँढ़ आता है उसे अपने परम प्रेमास्पद हरि के सिवा 'अपना' और कोई दीख ही नहीं पड़ता। इसी से वह कह सकता है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।

दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ॥

भगत देखि राजी भई जगत देखि रोई ।

असुवन-जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि वोई ॥

अब-तौ बात फैलि पड़ी जाणै सब कोई ।

मीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई ॥

प्रेम पात्र पर उत्सर्ग होकर ससार की ओर देखने के लिए क्या धरा है और फिर 'होनी हो सो होई' की क्या चिंता ? जो कुछ होगा, हो रहा है अथवा हुआ है सभी श्रीकृष्णार्पण हो चुका। सूरदासजी कहते हैं—

अब हमरे जिय बैद्यो यह पद 'होनी होउ सो होऊ' ।

मिट गयो मान परेखो ऊधो हृदय हतो सो होऊ ॥

'होनी होय-सो होई' कहकर ससार को ललकारनेवाली अपने उपास्य देव में अनन्य निष्ठा धन्य है !

और प्रेम-साधक की इच्छा क्या है ?

म्हाने चाकर राखो जी ।

गिरधारीलाल चाकर राखो जी ॥

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दरसण पासूँ ।

वृन्दावन की कुंज गलिन में गोविन्दलीला गासूँ ॥

×

×

×

×

अँचे अँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ वारी ।
साँवरिया के दरसन पाऊँ पहिर कुसुंभी सारी ॥*

वस्तुतः 'साहचर्य' का सुख सबसे बड़ा सुख है और जिस किसी प्रकार सेवा करने और उस परम रूप की शोभा निरखते रहने का आनन्द ही सर्वोच्च परम आनन्द है । यह भाव प्रायः सभी सत-भक्त-प्रेमी कवियों ने प्रकट किया है । एक ग्रामीण नायिका के 'साहचर्य'-सुख का उल्लास-पूर्ण वर्णन देखिये—

‘आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन्ह ।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन्ह ॥’

तथा

टूट खाट घर टपकत खटियो टूट ।
पिय के हाथ उसिसवा सुख की लूट ॥

‘महाने चाकर राखो जी’ में ‘चाकर’ शब्द से पाठक यह न समझ बैठें कि मीरा की उपासना आरम्भ में दास्य भाव की ही है । दास्य में सभ्रम और गौरव का भाव मुख्य होता है । दास्य रति में भगवान का अनन्त ऐश्वर्य सामने होता है, मुक्ति सिद्धि उसकी दासी है, अनन्त कोटि ब्रह्मांड उसके एक इशारे पर बनते और मिटते हैं, परन्तु मधुर रस की साधना में छोटे बड़े का सवाल नहीं उठता, वहाँ मधुर भाव की इतनी तीव्र अनुभूति होती है कि ऐश्वर्य की ओर दृष्टि ही नहीं जाती । मीरा का यहाँ ‘चाकरी में दरसन पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची’ से यह स्पष्ट है कि वह दर्शन और स्मरण की भूखी प्यासी है, वह इसी बहाने ‘साहचर्य’ की सुखाभिलाषिणी है । जैसे मधुकोष में अमृत रूपी मधु संचित रहता है उसी प्रकार प्रेम के हृदय में विरह का निवास है । विरह ही प्रेम का प्राण है । मीरा के प्रेम में प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में विरह ही विरह है । हृदय के भीतर बसनेवाली

*रवीन्द्र के ‘Gardener’ की भी कुछ ऐसी ही इच्छा है—

Servant—Make me the gardener of your flower garden.

Queen—What folly is this ?

Servant—I will give up my other work × × × ×

Do not send me to distant courts, do not bid me undertake new conquests, but make me the gardener of your flower-garden.

Queen—What will your duties be ?

इस प्रेम के फदे से निकलना असम्भव है। वह सुन्दर मूर्ति रोम-रोम में उलझ गई है, निकाले नहीं निकलती। प्रेम के कच्चे धागे में बाँध कर 'वह' अपनी मनमानी कर रहा है।

उधर भक्त प्रभु से मिलने की व्याकुलता में मग्न रहता है इधर हृदय के सभी कलमष धुलते जाते हैं। अपनी ओर जब कभी ध्यान जाता है, अपनी त्रुटियों का जब कभी स्मरण हो आता है तो हृदय ग्लानि से भर जाता। यह 'आत्म-ग्लानि' ही भक्तों का भूषण है। 'मैं मैली पिंड उजरा, मिलणा कैसे होय' का भाव प्रायः सभी निर्गुण सन्तो एवं सगुण भक्तों में रहा है। कबीर, दादू, जायसी, सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त और निर्गुण सन्तों ने इस शुद्ध सात्विक आत्मग्लानि में हृदय को डुबाकर पवित्र किया है।

आत्म-निरीक्षण का यह पथ परम पावन है। मीराबाई में ऐसे वचन के बस दो एक ही पद हैं। मीरा को अपनी ओर, अपनी त्रुटियों, अपराधों की ओर, सर्वात्म-श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, देखने का न अवकाश ही है और और न आवश्यकता ही। प्रेमोन्माद के प्रखर प्रवाह में अपनी ओर देखने का समय ही कहाँ ? फिर भी—

यहि बिधि भक्ति कैसे होय,

मन की मँल हिये ते न छूटी, दिया तिलक सिर धोय ॥

काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चाडाल।

क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ॥

इस प्रकार, इस पद में 'मेरो मन हरिजू हठ न तजै' 'कौन जतन बिनती करिये' तथा 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' का भाव पूर्ण रूप से सन्निहित है।

मीरा ने अपने प्रभु को विरद का एक वार स्मरण दिलाया है—

हरि ! तुम हरो जन की भीर।

द्रौपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥

भक्त कारन रूप नरहरि धरयो आप शरीर।

हरिनकस्यप मार लीन्हो धरयो नाहिन धोर ॥

बूड़ते गजराज को कियो बाहर नीर।

दासि मीरा लाल गिरधर दुख जहाँ तहँ पीर ॥

इसी प्रकार शरण की याद एक बार दिलायी गयी है—

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज।

समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज ॥

भवसागर संसार अपरबल, जामें तुम हो जहाज ।

निरधाराँ आधार जगत-गुरु, तुम बिनु होय अकाज ॥

जुग जुग भीर हरि भगतन की, दीनी मोक्ष समाज ।

मीरा सरण गही चरणन की, लाज राखो महाराज ॥

भवत को अपनी दीनता और प्रभु की दीनवत्सलता को बार बार स्मरण करने से सान्त्वना मिलती है । परन्तु प्रेमी को अपनी दीनता का ध्यान भी नहीं होता । क्यों हो ? प्रेम में तो दोनों को ही गर्ज है और, सच तो यह यह है कि प्रेम में भला कौन है प्रेमी और कौन है प्रेमास्पद इसका निर्णय भी कैसे हो ? इसमें तो स्वयं भगवान ही प्रेमी भी हैं और वही हैं प्रेमास्पद । एक सीमा के बाद यह प्रेमी और प्रेमास्पद का द्वंद्व विलीन हो जाता है और आनन्दोत्सास मात्र के लिए दो का एक में अथवा एक का दो में क्रीडाविलास हुआ करता है । और वह प्रेमिका जब प्राणाधिका मीरा के समान 'अङ्गीकृत' हो चुकी हो तो फिर अपनी ओर क्यों देखे ? पति पत्नी के प्रेम भरे मधुर सम्बन्ध में दैन्य के लिये स्थान ही कहाँ है ? हिन्दू नारी अपना सर्वस्व पति के चरणों में निवेदित कर पति के 'सर्वस्व' की अधिकारिणी हो जाती है; अब उसे दैन्य क्यों हो ? पति के चरणों की दासी वह है यह सच है परन्तु पति के अधरामृत की भी तो अधिकारिणी है । और वह पति अपने प्रेम की प्यास, अपने हृदय की तपन को बुझाने के लिये अपनी सहर्षामिणी के सामने एक दीन भिक्षुक की तरह जब खड़ा हो, 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' की याचना कर रहा हो तब उस पत्नी के हृदय में अपने प्रति दैन्य का भाव क्यों और कैसे आवे ? प्रेम की रस-पूति में दोनों ही समानतः साक्षी हैं, एक दूसरे पर अवलंबित हैं । इसी मनोविश्लेषण के आधार पर देखने से पता चल जाता है कि मीरा में दैन्य के पद कम क्यों हैं । कम क्या हैं ही नहीं । मीरा और कृष्ण का मिलन प्रति पल, प्रति क्षण हो रहा है । ससार की प्रत्येक वस्तु में, जगत् के सभी व्यापारों में दोनों का महामिलन हो रहा है । एक दूसरे के बिना व्याकुल है । जिस प्रकार पति का प्रेम, उसका सौंदर्य तथा उसका आनन्द पत्नी को ही पाकर निखरता है उसी प्रकार पत्नी का रूप-लावण्य भी पति को ही पाकर खिल उठता है । पति पत्नी के बिना और पत्नी पति के बिना अपूर्ण है । इधर से 'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' है तो उधर से 'प्रियेसु सौभाग्य-फला हि चारुता' है । मिलन की, मिलकर मिल जाने की व्याकुलता दोनों के ही हृदयों में समान है ।

कसमसाहट, छटपटी दोनों ही ओर है । परस्पर की इस मधुर

व्याकुलता को रामकृष्ण परमहंस ने तीन प्रकार से व्यक्त किया है (१) गाय और बछड़े का सम्बन्ध (२) बन्दरी और उसके बच्चे का सम्बन्ध (३) बिल्ली और उसके बच्चे का सम्बन्ध ।

(१) स्तन-पान करने की जितनी तीव्र लालसा बछड़े के हृदय में होती है उतनी ही गाय के हृदय में पिलाने की भी, । बछड़ा पिये बिना नहीं रह सकता, गाय पिलाये बिना । कहा तो यो जाता है कि अपने प्यारे बत्स को अपने स्तन से सटाते ही माता का हृदय दूध बनकर तरलित हो जाता है ।

(२) बन्दरी चाहती है कि उसका बच्चा कष्टों में न पड़े इस हेतु वह बच्चे को अपने पेट में सटाकर ढोने के लिये भी तैयार है यदि बच्चा उसके पेट में सट जाय, अपनी ओर से तनिक भी शरणोन्मुख हो जाय ।

(३) बिल्ली अपने बच्चे को कष्ट की संभावना-मात्र से ही अपने दाँतों को उसकी गर्दन में चुभाकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आती है । बच्चा अपनी ओर से प्रयास करे या न करे इसकी ओर वह नहीं देखती ।

इसमें पहले में ब्रह्म और आत्मा की पारस्परिक-उत्कण्ठा, दूसरे में आत्मा की प्रथम चेष्टा तथा तीसरे में ब्रह्म की एक मात्र चेष्टा व्यंग्य है ।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्गुण संतो ने पहली भावना तथा सगुण भक्तों ने दूसरी तथा तीसरी भावना को अपने भीतर प्रतिष्ठापित किया है । मीरा की भावना तीसरे प्रकार की थी—अर्थात् उसका दृढ़ विश्वास था कि उसकी सारी सार-सँभार 'भगत बल्ल गोपाल' पर है और उसे 'वह' 'भीर' में रहने नहीं दे सकता ।

हरि तुम हँरो जन की भीर !

द्रौपदी की की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर !

इसी को भक्त वर सूरदासजी यो व्यक्त करते हैं—

लज्जा मेरी राखो दयाम हरी ।

कोनो कठिन दुःशासन सोसे गहि केशो पकरी ॥

आगे सभा दुष्ट दुर्योधन चाहत नगन करी ।

पाँचों पाण्डव सब बल हारे तिन सो कुछ ना सरी ॥

भीष्म द्रोण विदुर भये विस्मय, तिन सब मौन धरी ।

अब नहि मात पिता सुत बाँधब, एक टेक तुम्हरी ॥

यह दृढ़ विश्वास ही भक्तों का सहारा है । इसी विश्वास पर वे अपनी 'पाथर बोझी नाव' तूफान होते हुए भी 'मँझधार' में डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं । जब पतवार प्रभु के हाथों है तो तूफान एव लहरों का क्या भय ?

और आसिरो नाही तुम बिन तीनूं लोक मँझार
 आप बिना मोहि कुछ न सोहावै निरख्यो सब संसार ॥
 प्रेम मे डूबा हुआ हृदय ससार मे चारो ओर दृष्टि दौडा आता है परन्तु
 अपने प्रेम-पात्र के ऐसा उसे कही कुछ भी दीखता ही नहीं ।
 प्रेमी भगवान् के हाथ बिक जाता है और वह सर्वथा उसी का होकर
 जीता है—

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।

गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ॥
 रंण पडै तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ ।
 रंण दिना बाके सग खेलूँ ज्युं त्यूं वाहि रिझाऊँ ॥
 जो पहिरावै सोई पहिळूँ जो दे सोई खाऊँ ।
 मेरी उण की प्रीत पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ ॥
 जित बैठावे तितही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बलि जाऊँ ॥

उसी परम प्रियतम के रग मे रची हुई निरन्तर उन्ही के गुण गा-गा कर
 मस्त हो रही है और उनकी 'रसीली भगति' का रस पीकर छकी हुई है—

मैं तो साँवरे के रग राची ।

साजि सिगार बाँधि पग घुँघरू लोक लाज तजि नाची ।
 उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची ।
 मीरा श्री गिरधर न लालसूँ भगति रसीली जाँची ॥
 इस 'रसीली भगति' का मुख्य लक्षण है अखण्ड स्मरण—

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो कहँरी ।

तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरँरी ॥
 जह जह पाँव धरँ धरती पर, तह तह निरत करँरी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरणों लिपट पहरँरी ॥

'अनहद', 'सुखमहल', 'साहब', 'सुरत', का प्रभाव भी मीरा पर पडे बिना
 न रहा । 'नाथ पथ' का प्रभाव सयुक्त प्रात से एक प्रकार से लोप हो चला
 था परन्तु राजस्थान मे वह खूब फैला । उधर उत्तर-पश्चिम से सिंधु प्रान्त
 से जो सूफी हवा आ रही थी उसमें हठयोग के ये स्थूल रूप भी प्रचुर परि-
 माण मे विद्यमान थे । कबीर पथ में तो आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानुस-
 धान, कुण्डलिनी-जागरण, षट्कर्म आदि हठयोग की क्रियाएँ पीछे एक प्रकार
 से आधारभूत होकर चली । सगुण भक्तों को उस ओर देखने की आवश्यकता

न पड़ी। उनका 'सुन्य महल' सदैव प्रीतम की प्रेम-मूर्ति से भरा था। सूफियो ने भी इसे गौण रूप में ही अपनाया। पर उसमें रसायन का अजीब ओ गरीब सम्मिश्रण देखकर विस्मय होता है। मीरा में 'नाथ पथ' की, जो राजस्थान में खूब फैला था, एक हलकी लहर मिलती है—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ ।

इन नैनन मोरा साहव बसता डरती पलक न लाउँ री ।

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ॥

सुन्न महल में सुरत जमाऊ सुख की सेज बिछाऊँ री ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ री ॥

एक और स्थान पर मीरा के ऐसे ही भाव मिलते हैं—

बिन करताल पखावज बाजँ अनहद की झनकार रे ।

बिनु सुर राग छतीसूँ गावँ रोम रोम रग सार रे ॥

उड़त गुलाल लाल भये बादल बरसत रग अपार रे ।

उपर्युक्त दोनों पद निर्गुण राग में हैं और 'मीरा की शब्दावली' में संगृहीत हैं। पता नहीं कहाँ तक ये मीरा के स्वरचित हैं। यदि इन्हें मीरा का मान भी लिया जाय तो यह स्मरण रखना चाहिये कि इनमें मीरा का प्रेम-प्रवण हृदय प्रतिध्वनित नहीं होता, इसमें युग-प्रवाह की एक हलकी लहर है जो सिध से राजस्थान में सीधे प्रवाहित हो रही थी। मीरा के यहाँ सब प्रकार के साधुओं और फकीरों का सीधा प्रवेश था। कहीं किसी के लिये कुछ भी रोक टोक थी ही नहीं। मीरा सब की सुनती थी पर उनका हृदय, उसका रोम-रोम प्राणाधार श्रीकृष्ण के रूपरग में डूबा हुआ था। निर्गुणियों में 'नाम' की साधना थी ही और योगियों के 'करिश्मे' जनसाधारण को चक्कर में डालने के लिए काफी थे। इन पदों से यही पता चलता है कि मीरा ने अनहद आदि की बातें सुन ली थी और उसके 'त्रिकुटी महल' में जो 'झरोखा' था वहाँ से भी वह श्यामसुन्दर की ही झाँकी लगा रही थी; उसी रूपरस का पान कर रही थी और इसीसे वह कहती है—

'इन नैनन मेरा साजन बसता डरती पलक न लाऊँ री' ।

विरह-वेदना

रवीन्द्र ने एक स्थान पर कहा है—‘केवल अतीत या वर्तमान मे ही नहीं, प्रत्येक मनुष्य के बीच मे अतल-स्पर्श विरह है। हमलोग जिससे मिलना चाहते है वह अपने मानस-सरोवर के अगम्य तीर पर निवास कर रहा है। वहाँ केवल कल्पना पहुँच सकती है। सशरीर वहाँ उपस्थित होनेका कोई मार्ग ही नहीं है। तुम कहाँ और हम कहाँ ? बीच मे जो अनन्त वर्तमान है उसे कौन पार कर सकता है ? अनन्त के केन्द्र मे वर्तमान उस प्रियतम अविनश्वर मनुष्य का कौन साक्षात्कार कर सकता है ? आज केवल भाषा-भाव में, आभास-इङ्गित मे, भूल-भ्रान्ति में, आलोक-अधकार में, देह-मन मे और जन्म-मृत्यु के द्रुतगामी धारावेग में उसकी कुछ-कुछ वायु स्पंदित होती है। यदि तुम्हारे निकट से दक्षिण पवन मेरे पास पहुँचे तो वही मेरे लिए बड़ा भारी सौभाग्य है। इससे अधिक इस विरह लोक में और क्या आशा की जा सकती है ?’

मिलन और विरह के बीच प्रेम का पहाड़ी सोता स्वच्छन्द गति से बहता चला जाता है। मिलन का रस हल्का और विरह का गाढा होता है। मिलन में प्रेम का प्रवाह कुछ मद पड जाता है परन्तु विरह मे वही तीव्र हो जाता है। मिलन का सुख क्षणिक एव अस्थिर है, विरह का दुख (इसे ‘दुख’ ही कहा जाय ?) स्थायी एव स्थिर होता है। मिलन हमारे जीवन की सतह को छूता है, परन्तु विरह हमारे अन्तस् के सभी तारो को झकृत कर देता है।

मिलन अंत है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।

विरह प्रेम की जागृति गति है और सुषुप्ति मिलन है ॥

वस्तुतः सुख की अपेक्षा दुःख का प्रभाव हमारे हृदय पर अधिक काल तक रहता है। सुख में हम उतराते और दुःख में डूब जाते हैं; सुख में हम अपने से बाहर परन्तु दुःख में अपने भीतर चले जाते हैं। सुख हमें हलका और दुःख गंभीर बना देता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी किसी कविता में कहा है कि मेरे भीतर कोई विरहिणी नारी है जो अपने दुःख का, विरह-वेदना का, गीत सुनाया करती है। प्रत्येक सच्चे कलाकार के भीतर एक तड़पता हुआ विरह-विह्वल नारी-हृदय होता है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है। अचरो पर की क्षणिक मुसकान के भीतर से वेदना झाँक रही है, एक क्षण के लिए मिलकर जो हम अनन्त काल के लिए विरहाग्नि में झुलसने के लिए छोड़ दिये गए हैं, सुख की इस अस्थिर छाया के भीतर दुःख का जो बडबानल अगडाइयाँ ले रहा है वही जीवन का सच्चा रूप-रस है, कला का मूल प्राण है। इसी विरह-विदग्ध जीवन का रेखा-चित्र काव्य की परमोत्कृष्ट व्यञ्जना है। यही शोक 'श्लोक' बन जाता है।

चण्डीदास की राधा का यह क्रन्दन जीव-जीव के हृदय का क्रन्दन है—

सुखेर लागियाए धर बाँधिनु

अनले पुड़िया गेल

अमिय सागरे सिनान करिते

सकलि गरल भेल

हिन्दी-साहित्य में विरह के दो सबोत्कृष्ट कवि हुए—जायसी और धनानंद। जायसी समस्त चराचर को उस परम प्रेम में व्याकुल देखते हैं—

‘उन बान्ह अस को जे न मरा

बेधि रहा सगरो ससारा’

और उनका सब से बड़ा रोना भी यही है—

पिउ हिरदय महँ भेट न होई ।

को रे मिलाव कहों केहि रोई ॥’

राम के विरह में सीता का कल्पना तथा कृष्ण के लिए गोपियों का तड़पना अवश्य ही मर्म-स्पर्शी और हृदय के तन्तुओं को आदोलित कर देने वाला है। सीता के विरह में वेदना का जो उभार है वह गोपियों के विरह से अधिक सयत एवं लोकमर्यादा के अंदर है। ‘कोमल चित्त कृपालु रघुराई सो केहि हेतु धरी निठुराई’ में कितनी मर्म-स्पर्शिनी भाव-व्यञ्जना है। यहाँ, इस चौपाई में, एक ओर तो ‘कोमल चित्त’ दूसरी ओर ‘निठुराई’ अतएव कवि ने एक गंभीर व्यंग्य द्वारा सीता के मर्माहत प्राणों की विकलता का

सकेत मात्र कर दिया है। सूर की गोपियाँ तो प्रकृति के हास-विलास में अपने विरह का ही चित्र देखती हैं। हरे-भरे मधुवन पर सात्विक 'खीझ' की उनकी कैसी सुन्दर उचित है—

मधुवन तुम कत रहत हरे ?

विरह वियोग स्यामसुन्दर के ठोढ़े क्यों न जरे ?

सूर का-विरह-वर्णन गोस्वामीजी के विरह-वर्णन से अधिक व्यापक है परन्तु इन दोनों से बढ़कर है जायसी का विरह-वर्णन। इन विरह-वर्णनों में इन कवियों ने अपने हृदय में अनुभव किये हुए दिव्य विरह का थोड़ा-बहुत सकेत किया है। 'कथाच्छलेन' अपनी विरह-कहानी कही है। परन्तु विरह के ऊपर कहानी की चादर पड़ी हुई है। जायसी की चादर औरो की अपेक्षा बहुत ही झीनी है जिस के भीतर से विरह में तडपते हुए प्रेमोन्माद-पूर्ण भावुक कवि के विरह-विधुर हृदय की घड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है।

मीरा का विरह-वर्णन, विरह-वर्णन के लिए नहीं है। 'प्रेम लपेटे अटपटे' छंदों में अलहड प्रेम-योगिनी मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हलका किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेम में घायल और घुलते हुए साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का एक उधार लिया हुआ दुःख नहीं है। मीरा अपने ही विरह को अपने भोले-भाले गीले शब्दों में सुना रही है, उसके हाथ में न गोपियाँ हैं, न सीता, न शकुन्तला, न दमयन्ती, न पद्मावती और न नागमती। मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम। उसमें प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिन्ता ही है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस मुग्धा स्त्री के विरह के समान है जिसका पति एक क्षण स्वप्न में मिलकर, अधरो पर चुबन का दाग छोड़ कर सदा के लिए, कभी भी न लौटने के लिए परदेश चला गया हो तथा जिसे अपनी प्रियतमा की सुध लेने की भी सुध नहीं है। जब-जब मेघ घिर आते हैं और रिमझिम बूँदें बरसने लगती हैं तब-तब साजन की सुध हरी हो आती है, ताजी हो आती है और हृदय डॉवाडोल हो उठता है। फागुन में जब-जब सखियाँ घमाचौकड़ी मचाने लगती हैं, रंगरलियाँ करने लगती हैं, और प्रीतिम से मिलने की तैयारी करने लगती हैं उस समय मीरा के हृदय में अपने 'परदेशी' के लिए एक गहरी व्यथा उभर आती है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है; उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व-समर्पण का

एक सर्वोत्कृष्ट जीवन्त उदाहरण है। शब्दों में उस दुःख को नापा नहीं जा सकता, वह केवल अनुभवगम्य है। मीरा के अधिकांश गीत विरह-वेदनात्मक ही हैं। मीरा के विरह-पदों में उसका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

मीरा की विरह-दशा की उद्दीप्ति तीन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुई है। स्वप्न में एक क्षण के लिए मिलकर 'वह' सदा के लिये चला गया और कभी लौटने की कौन कहे, सुध लेने की भी उसने कृपा न की। मीरा के विरह का प्रधान स्वरूप यही है। सावन भादों के महीने प्रोषित पतिकाओं के लिये बड़े ही दाहक तथा विरहोत्तेजक होते हैं। मेघों का गरजना, लरजना, बिजली का कौटना हृदय को कँपा देता है। मिलन की वासना उस समय अत्यन्त तीव्र हो जाती है, 'हरि हरि अधिकौ हिय काँपै।' उस समय का एकांत बहुत ही खलना है और प्राणों की विकटतम पीड़ा को बुरी तरह छेड़-कर, उकसा कर, कुरेद कर वह विरहिणी को बेबस और लाचार कर देता है।

मधुमास में—माघ-फागुन के महीने में पति का परदेस रहना तो और भी दुखदाई होता है, विशेषतः जब मलयानिल के झकोर हृदय के तार-तार को, रेशे-रेशे को झकझोर रहे हों और पास की सखियाँ केलि-क्रीड़ा में मदमस्त हों। दूसरों का उल्लास हमारे विषाद को अत्यधिक तीव्र कर देता है। इन्हीं तीन अवस्थाओं में मीरा की विरह-व्यंजना हुई है।

विरहिणी को पति का प्रवास इसलिए अधिक खलता है कि उसकी हम-जोली सखियाँ अपने-अपने पति के साथ रास-रग में मस्त हैं और वह इस प्रकार अकेले करवट बदल कर, तडप-तडप कर रात काट रही है। दिन में तो मन ज्यो-न्यो बहल भी जाता है परन्तु रात तो बस कयामत की होती है, काटे नहीं कटती—

मैं विरहिण बँठी जागूँ जगत सब सोवँ री आली।

विरहिन बँठी रग महल में मोतिपन की लड़ पोवँ ॥

इक विरहिन हम ऐसी देखी अंसुवन की माला पोवँ।

तारा गिण गिण रेण बिहानी सुख की घडी कब आवँ।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलिके बिछड़ न पावँ ॥

मीरा को ऐसा अनुभव हो रहा है कि वह परम प्रियतम 'नेह' लगाकर और हृदय में प्रेम की वाती जला कर ठीक मिलन-बेला में विरह-समुद्र में छोड़ गयी है—

प्रभुजी थें कहा गयो नेहड़ी लगाय ।

छोड़ गया विस्वास सघाती प्रेम की बाती बराय ॥

विरह-समुंद में छोड़ गया हो, नेह की नाव चलाय ।

मीरा के प्रभु कवरे मिलोगे, तुम बिन रह्यो न जाय ॥

आम की डाल पर, इस विरह की अवस्था में एक कोयल बोलती है और मीरा की सारी वेदना उमड़ आती है—

आँबा की डार कोयल इक बोले,

मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी ।

क्षण भर के लिए उसमें मिलकर मीरा सदा के लिए उससे बिछुड़ गयी है । उस मिलन के क्षण में भी वह न भर आँख देख सकी, न उससे जी खोल कर बातें ही कर सकी—

पाट न खोलया मुखों न बोलया, साँझ भई परभात !

अबोलणाँ जुग बीतण लागो, तो काहे की कुसलात ॥

और अब उसके बिना 'तरस तरस तन जाइ', निस दिन उसकी बात जोहती रहती है, दिन में चैन नहीं, रात में नीद नहीं । रात उसके बिना सूनी सेज पर सिसकते-सिसकते बीतता है, काटे नहीं कटती—

खिण मंदिर खिण आगणे रे खिण खिण ठाढी होइ ।

घायल ज्यू घूमूं सदा रो म्हारो बिथा न बूझै कोइ ॥

पर यह भूल न जाना चाहिये कि प्रेम की यह 'पीर' आनन्द-मूलक है एव आनन्द-विधायक भी है । प्रेमी इसमें से निकलना नहीं चाहता । अश्रु-धारा की तह में आनन्द की रेखाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं । विरह में आनन्द लुप्त नहीं हो जाता, केवल 'आवृत' रहता है । मिलन की जो उत्सुकता है, जो मगलाशा है वह आनन्दमय है और स्वयं प्रेम का बहुत ही निखरा हुआ भाव है ।

हृदय की विकलता बढ़ जाती है, 'प्रतीक्षा' तीव्र हो उठती है—

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री ।

तलफत तलफत कल ना परत है बिरह बान उर लागी री ॥

निस दिन पंथ निहाळै पिय को पलक न पल भर लागी री ।

पीव पीव में रदूं रात दिन दूजी सुधि बुधि भागी री ॥

बिरह भुवग मेरो डस्यो है कलेजा लहरि हलाहल जागी री ।

मेरी आरति मेटि गोसाईं आइ मिलौ मोहि सागी री ।

'मीरा' ब्याकुल अति अकुलाणी पिया की उमंग अति लागी री ।

‘विरह भुवगम’ से डसे हुए हृदय की ‘कामना’ भी तो देखिए। वह तो बस एक बार अपने ‘प्राणरमण’ को भर आँख देखना ही चाहता है—

पिया म्हारे नैना आगे रह्यो जी।

नैणा आगे रह्यो जी म्हाने भूल मत जाज्यो जी।

मीरा ‘परदेशी प्रीतम’ को पाती लिखने बैठती है पर लिख नहीं पाती—

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिखही न जाई।

कलम घरत मेरो तन मन काँपत, हिरदो रहो घराई।

बात कहूँ मोहि बात न आबै नैन रहै झराई।

किस बिधि चरण कँवल हौ गहिहौँ सबही अग थराई ॥

शरीर काँपने लगता है, हृदय धबडाने लगता है, बात कहना चाहती है पर कह नहीं पाती। प्रियतम मिलेगे भी तो वह उनके चरणकमलो को कैसे गहेगी यह सोच सोच कर उसके सारे अग थरथरा उठते हैं।

सबसे बड़ी विपद् तो यह है कि पिय का ‘देस’ भी जाना हुआ नहीं है— न वहाँ पहुँचने का रास्ता ही मालूम है—यदि आगे बढ़ने का जी चाहता भी है तो फिसलन और निविड़ अधिकार—

गली तो चारो बंद हुई हरि सँ मिलूँ कैसे जाय !

ऊँची नीची राह रपटोली पाँव नहीं ठहराय।

सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिंग जाय।

और प्रेमी की इस बेबसी का हाल कोई क्या जाने, कैसे समझे ? घायल की गति कोई घायल ही जानता है अथवा वह जिसने तीर मारा हो। इस ‘दर्दये इश्क’ की दवा भी तो बस दीदार ही है। कलेजे की करक को दूसरा भला कैसे समझेगा ?

हेरी मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय।

सूली ऊपर सेज हमारी किस विध मिलणा होय।

घायल की गति घायल जाने की जिन लाई होय।

दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहि कोय ॥

मीरा के प्रभू पीर मिटेगो जब बंद साँवलिया होय ॥

भावों को तीव्र करने के लिए तथा अपनी साधना को अटल करने के लिए अशक्त लोग भिन्न-भिन्न भावनाओं एवं सबधों को सामने ला-लाकर भाव-मग्न हुआ करते हैं। मीरा ने अपने विरह की तीव्रता को मीन, चातक, चकोर, पपीहा द्वारा व्यक्त किया है। मछली का जीवन-आधार जल

है, वह उसके बिना जी ही नहीं सकती—'जैसे जल के सोखे मीन क्या जीवें विचारे।' यही गति पपीहे और चकोर की भी है। उन्हे अपने प्राणधन के अतिरिक्त समार की कोई भी वस्तु मुख पहुँचा नहीं सकती, तृप्त कर नहीं सकती। मछली, पपीहा और चकोर का प्रेम अनन्य और एकाग्री है। जल को मछली के जीने मरने का खयाल नहीं है। चन्द्रमा को क्या पता कि उसके विरह में चकोर पर कैसी बीत रही है। स्वाति को पपीहे के सुख-दुख की सुख कहाँ है? उसी प्रकार उस निर्मोही सौंदर्य को मीरा की क्या खबर?

जायसी की भावुकता, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बहुत ही गहरी एवं व्यापक है और उसके लिए प्रकृति के नाना रूप एवं विलास दर्पण मात्र हैं। 'बारहमासे' और 'षड्ऋतु' के वर्णन में प्रकृति के साथ कवि का कितना तदात्म्य झलकता है, अपने अन्तस् के प्रतिबिम्ब को प्रकृति में निरख कर जायसी ने कितनी सुन्दर भाव-व्यञ्जना की हैं—

आवा पवन विछोह कर पात परा बेकरार ।

तरिवर तजा जो चूरि कै लागे कहि के डार ॥

तथा

पहल पहल तन रुई झाँपै, हहरि हहरि अधिकौ हिये काँपै ।

सूरदासजी का विरह वर्णन जायसी के समान गंभीर भले ही न हो परन्तु व्यापक कम नहीं है। पपीहे आदि को गोपियों ने खबर सुनाया है—

हौ तो मोहन के विरह जरी रे ! तू कत जारत ?

रे पापी तू पखि पपीहा ! पिउ पिउ पिउ अधि रात पुकारत ।

नागमती का रोना सुनकर तो घोंसलो में बैठे हुए पक्षियों की नींद हराम हो गई है—

तू फिर फिर दाहँ सब पाँखी,

केहि दुख रैन न लावसि आँखी ।

मीरा पपाहे को उपालम देनी है—

रे पपड़ग्रा प्यारे कब को बँदर चितारयो

में सूती छी अपने भजन में पिय पिय करत पुकारयो ।

दध्या ऊपर लूण लगायो हियड़े करवत सारयो ।

विरह से तो हृदय यों ही जला हुआ है उस पर पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ' से जले पर और नमक छिड़क रहा है। विरह की अग्नि में जलते हुए हृदय की 'खीझ' देखिए—

पपइया रे पिव की बाणी न बोल ।

सुणि पावे जो बिरहिणि रे थारो राखे ली पाँख मरोड ।

चोच कटाउँ पपइया रे ऊपरि ताकर लूण ॥

वही पपीहा 'मिलन' में सुखद हो जाता है, उसकी बोली मीठी लगती है —

थारा सश्व सुहावणा रे जो पिव मेला भ्राज ।

चोच मडाउँ थारी सोवनी रे तू सिरताज ॥

भवतवर सूरदासजी ने भी तो 'बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारे' द्वारा, मिलन के सुखद समय में प्रतिकूल का अनुकूल हो जाना माना है और पपीहे को हृदय से आशीर्वाद दिया है । अस्तु

साजन के बिना एक पल भी जीना कठिन ही नहीं, असंभव है—

सजन सुध ज्यो जानै त्यो लीजै ।

तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै ॥

दिवस न भूव रैन नहि निदिया यो तनु पलपल छीजै ।

पलपल भीतर पथ निहाळै दरसण म्हाँने दीजै ।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलि बिछुरन नाहि दीजै ॥

कबीरदास भी अपनी विरह-वेदना कुछ ऐसे ही व्यक्त करते हैं—

तलफँ बिन बालम मोर जिया ।

दिन नाहि चैन रात नाहि निदिया तड़प तड़प के भोर किया ।

तन मन मोर रहट अस डौलै सुनि सेज पर जम छिया ॥

नैन थकित भये पथ न सूझे साँई बेदरदी सुध न लिया ।

कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुख जोर किया ॥

तुलसी साहब ने गाया है —

व्याकुल विरह दिवानी, झडै नित नैनन पानी ।

हरदम पीर दिल की खटकै सुधि बुधि बदन हिरानी ॥

नाड़ी बँद बिथा नाहि जानै, कयो ओखद दे भ्रानी ।

हिय में दाग जिगर के अन्दर क्या कहि दरद बखानी ॥

तुलसी रोग रोगिया बूझै, जिसको पीर पिरानी ॥

दादू ने किस उल्लास के साथ अपनी सूनी सेज पर साजन का आवाहन किया —

बल्हा सेज हमारी रे तूँ आव, हौं वारी रे, दासी तुम्हारी रे ।
 तेरा पथ निहाळूँ रे, सुंदर सेज सँवाळूँ रे, जियरा तुम पर वाळूँ रे ॥
 तेरा अगना पेखौँ रे तेरा मुखड़ा देखौँ रे, तब जीवन लेखौँ रे ।
 मिलि मुखड़ा दीजे रे, यह लाहा लीजे रे, तुम देखै जीजे रे ।
 तेरे प्रेम का माती रे, तेरे रंगड़े राती रे, दाहू बारणे जाती रे ॥

प्रकृति का जो अनुपम उल्लासपूर्ण शृंगार है वह 'प्रीतम' के आगमन की तैयारी में है—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।
 दादुर मोर पपड़िया बोलै कोइल मधुरे साज ।
 उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामिणि छोड़ी लाज ॥
 धरती रूप नवा नवा धरिया इन्दु मिलण कै काज ॥

सावन-भादो की रात विरहिणियों के लिए मरणान्तक होती है—सूरदास जी ने भी 'पिया बिनु साँपनि कारी रात' द्वारा वेदना की तीव्रता दिखाई है । रिमझिम बूंदें बरस रही हैं, इधर मीरा रो रही है—

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी ।
 जित जाऊँ तित पानिहि पानी हुई सब भोम हरी ।
 जा का पिब परदेस बसत है भीजै बार खरी ।

यह सुहावना सावन पिण्य के बिना आग की वर्षा करता दीखता है—

मतवारो बादल आयो रे हरि के संदेसो कछु नहि लायो रे
 फूँके काली नाग विरह की जारी मीरा हरि मन भायो रे
 इन्ही बूंदो से मिलने के समय मीरा धीरे-धीरे बरसने का निहोरा करती

है—

मेहा बरसबी करे आज तो रमियो मेरे घरे रे ।
 नान्हीं नान्ही बूंदे मेघ घन बरसे सूखे सरवर भरे रे ॥
 बहुत दिना पर प्रीतम पाए बिछुरन को मोहि डर रे ।
 मीरा कहे अति नेह जुड़ायो मैं लियो पुरबलो वर रे ॥

'पुरबलो वर' के विषय में पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि मीरा पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की सखी है ।

सावन-भादो ने मिलन की उत्सुक वासना होती है उससे कहीं बढ़कर फागुन में होती है । सारी वसुधरा वसती साड़ी पहन कर अपूर्व साज सजाती है और सर्वत्र मिलन का एक अपूर्व वातावरण फैला रहता है । चित्त 'किसी'

से मिलने के लिए उत्क्षिप्त हो जाता है, रोम-रोम में मिलन की लालसा जग कर अँगड़ाई लेने लगती है और विचारे हृदय की अजीब हालत हो जाती है । ऐसे मधुमय समय ने जब सभी सखियाँ सोलहो शृंगार सजा कर अपने 'प्रीतम' से मिल रही हैं मीरा का घायल हृदय छटपटा उठता है, उसे 'तालाबेली' लग रही है—

किण सँग खेलूँ होरी पिया तजि गये हैं अकेली ।
बहुत दिन बीते अजहूँ नहिँ आये लग रही तालाबेली ।
स्याम बिना जिवड़ो मुरझावै जैसे जल बिन बेली ॥

तथा

होली पिया बिनु मोहि न भावै घर अंगणा न सुहावै ।
दीपक जोय कहा कलूँ हेली पिय परदेस रहावै ।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै सुसक सुसक जिय जावै ॥

इस प्रकार सावन और फागुन में प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के उद्दीपन में मीरा का प्रेम-विल्लल हृदय विरह के अन्तिम छोर पर पहुँच जाता है और उसके हृदय में भिनी हुई 'हूक' विराट बडवानल का रूप धारण कर लेती है ।

अपने प्राणरमण श्री गिरधारी लाल के बिना मीरा का हृदय रो रहा है । उसका जीवन धारण ही उसके लिए असह्य हो जाता है । प्रतीक्षा में बैठी मीरा यह आस लगाये हुई है कि अब कोई आकर कह जाय कि तुम्हारे प्राणेश्वर आ रहे हैं—

कोई कहियौ रे प्रभु आवन की ।

आवन की मन भावन की ॥कोई०॥

आप न आवै लिख नहिँ भेजै, बाण पडी ललचावन की ।

ए दोउ नैन कह्यौ नहिँ मानै, नदिया बहै जैसे सावन की ॥

कहा कलूँ कछु नहिँ बस मेरो पाँख नहिँ उडि जावन की ।

मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की ॥

कवियों का दुःख बहुधा उधार लिया हुआ होता है । फिर भी वे उसमें अपने हृदय का रस घोलकर उसको अपना बना लेते हैं और पाठकों को रला तक देते हैं । वे उस परिस्थिति में, जिसमें निर्वासिता सीता, उपेक्षिता शकुन्तला तथा तिरस्कृता पार्वती, विरह-विधुरा पद्मावती एवं नागमती रहती हैं, डालकर अपने को तन्मय, तल्लीन कर देते हैं और इसी हेतु पाठकों पर भी

प्रभाव डालने में सफल होते हैं। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में मनुष्य को कौन कहे, 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'—पत्थर की शिला भी रोने लगती है, वज्र का हृदय टूक टूक हो जाता है। हाँ, इसमें कवि की सफलता अवश्य समझी जानी चाहिए और वस्तुतः कवि कर्म है भी यही। मीरा के हाथ में न गोपियाँ ही थी, न नागमती; न सीता ही थी, न पार्वती ही। मीरा की बात ही दूसरी है। उसका विरही हृदय अपने प्राणनाथ के साक्षात्कार के लिए व्याकुल होकर तड़प रहा है। उसे दुनिया की ओर देखने की न आवश्यकता ही है और न अवकाश ही। हिन्दी साहित्य क्या विश्व के किसी भी साहित्य में सर्वस्व आत्मसमर्पण का वह दिव्य सौंदर्य और माधुर्य जो मीरा के गीतों में व्यक्त हुआ है अन्यत्र दुर्लभ है। गीतों में उसके हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। उसका 'दर्द-दिवाना दिल' उसके भीतर से स्पष्ट उन गीतों में लिपटा हुआ प्रतिबिम्बित हो रहा है। मीरा गाती है, क्योंकि वह विरह से बेचैन है। मीरा का दुःख कवि का दुःख नहीं है वह एक सच्चे प्रेमी का निजी दुःख है। कवि का दुःख प्रायः सधार लिखा हुआ होता है, प्रेमी का दुःख सर्वथा अपना होता है, स्वसवेद्य।

रहस्योन्मुख भावना

रसो वै सः । रस ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दो भवति

श्रुति के इस वचन के अनुसार परमात्मा रस रूप है और उसी को प्राप्त कर मनुष्य सुखी हो सकता है । इस का एक और भी अर्थ है और वह यह कि परमात्मा रसस्वरूप होते हुए भी रस का पिपामु है और उसे यह रस जहाँ मिलता है वह प्रसन्न होता है । उम आनन्द स्वरूप परमात्मा से ही यह समस्त चर-अचर निकला है, उसी में स्थित है और उसी में लीन हो जाता है—‘आनन्दाद्वयैव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दे न प्रयन्त्यभिसंविशति’ । अतएव यह सब कुछ उसी ‘एक’ का विद्विलास’ है । वह अकेले अपने आप में ‘रमण’ नहीं कर सकता था इसी से उस ‘एक’ से यह ‘अनेक’ हुआ, कहना तो यो चाहिए कि उसी एक में यह अनेक हुआ—

आत्मवेदमग्र आसीत् ‘ ‘ स वै नैव रमे ।

तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमच्छत् स हैतावानास यथा स्त्री पुमासौ सम्परिध्वक्तौ स इमवात्मान द्विधापाययत् ।

परमात्मा की प्राप्ति के लिए हमारे हृदय की जो सहज उत्कठा है वह अकारण नहीं है । उसका मूल कारण यह है कि हम जिसे निकले हैं उसी में पुन ममा जाना चाहते हैं, अपने मूल स्रोत में लीन होकर एकाकार हो जाना चाहते हैं । परमात्मा और आत्मा का यह अमृतोपम द्वैत केवल आनन्द-विलास के लिए था और इसकी ‘समरसता’ का आस्वादन सत्य और मधुर दोनों भावों द्वारा किया जा सकता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोमम् ।

मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनः ॥

परन्तु सत्य भाव में वह समरसता पूरी-पूरी नहीं हो पायी, द्वैत पूरा-पूरा अद्वैत नहीं हो पाया, दूरी कुछ न कुछ बनी ही रही, चाहे वह सुहृद् हो,

चाहे सखा या प्रिय नर्म सखा । इसी लिए हृदय की भूख व्यास पूरी तरह बुझ सके (या और अधिकाधिक धक्का जाय ?) इसी लिए दाम्पत्य रति का मधुर या उज्ज्वल रस ही सर्वोपरि माना गया जिसमें आत्मा-परमात्मा की 'प्रणयिनी' होकर अन्तर और बाहर की सारी सजाओ से शून्य होकर सर्वांगता तल्लीन हो जाय । इसी लिए श्रुति कहती है—

‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरमेवाय पुरुष प्रज्ञानेनात्माना सपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम् (बृ० ४-३-२९) उपमन्त्रयते स हिकारो क्षपयते स प्रस्ताव स्त्रिया सह शोते ।

यही है आत्मारति, आत्मक्रीडा, आत्ममिथुन, आत्मानन्द । आत्मा और परमात्मा के इस मधुर सबंध की जहाँ भी सकेतत विवृति होती है उसी को 'रहस्यवाद' कहा जाता है ।

मीरा का प्रेम जैसा हम पहले कह आये है 'माधुर्य भाव' का है जिसमें भगवान् की प्रियतम के रूप में उपासना की जाती है । भक्ति प्रेम में लय हो जाती है और भक्त परमात्मा को अपना पति मानकर उसके चरणों में अपने को निछावर कर देता है । पत्नी पति की इच्छा में अपनी इच्छा, पति के सुख में अपना सुख और पति के प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है । क्षणमात्र के विस्मरण से वह परम व्याकुल हो जाती है—‘तदर्पिता-खिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता’ । हिन्दी में इस रहस्यवाद का पूर्ण विकास सूफी कवियों में ही हुआ, जहाँ भगवान की प्रियतमा के रूप में उपासना की जाती है । कबीर में भी यत्र-तत्र जो उत्कृष्ट रहस्यवाद मिलता है वह माधुर्य भाव से ओतप्रोत है । सूफी सत्तो ने अपने परम भावुक हृदय के विस्तार में 'परम रूप' की परिछाँही समस्त चर अचर में, अणु-अणु में देखी और उसमें अपनी निजी सत्ता को खो दिया ।

‘देखेउँ परम हंस परिछाँही,
नयन जोति सो बिछुरत नाँही ।’

सूफियो ने समस्त चराचर में बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता को उसी परम रूप में सबद्ध देखा और सभी 'वृत्त' में 'जल्वए खुदा' का साक्षात्कार किया । उनका समाज मूर्तिपूजा अथवा किसी भी प्रतीकोपासना के विरुद्ध था । फिर भी, एकेश्वरवाद के उस सुदृढ़ बन्धन के भीतर से भी विशुद्ध अद्वैतवाद बहुत ही निखरे हुए रूप में प्रकट हुआ और हल्लाज मसूर 'हक

हक अनल हक, हक हक अनल हक' कहते कहते फाँसी पर लटक गया ।
'*सूफियो के अद्वैतवाद और शङ्कर के मायावाद में मूलतः भेद यह है कि सूफियो की भावना प्रेम-मूलक, अनुभूति-प्रसूत थी और वे अपनी निजी सत्ता को उस परम सत्ता में, जो समस्त चराचर को बेधती हुई चली गई है, लय कर देते थे । वेदात का अद्वैत ज्ञान-मूलक अथवा चिन्तन-प्रसूत है, सूफियो का अद्वैत प्रेम-मूलक अतएव भावना-प्रसूत है ।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कबीर की दृष्टि जायसी की भाँति व्यापक न थी और न इतनी रसग्राहिणी ही थी । 'हरि मोर पिउ में हरि की बहुरिया' में बहुत ही सुन्दर भाव-व्यञ्जना है पर कबीर व्यक्त उपासना के परम विरोधी थे और निर्गुण सत्ता ने अवतार का घोर विरोध भी किया इस हेतु यद्यपि इनमें परम भाव की झलक, व्यक्त और अव्यक्त रूप में, सर्वदा विद्यमान है फिर भी आश्रय एवं आलम्बन की ठीक-ठीक व्यवस्था न होने के कारण भक्ति-रस की पूर्णतः निष्पत्ति न हो पाई । कबीर का लक्ष्य हृदय बेधने का न रहा । वे मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति जगाकर हमें 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का सदेशमात्र देकर सतुष्ट न हुए, उन्होंने झकझोर कर हमें जगा ही दिया ।

'सुधार' का मर्म उन्हें बुरी तरह लगा रहा । मचमुच समाज उस समय इतना जर्जर और पाषण्डोपासक हो भी गया था कि अवश्य ही कबीर जैसे झाड़फटकार वाले निर्भय 'सुधारक' की आवश्यकता थी । परन्तु नारियल की तरह, इस कठोरता के अदर कबीर का हृदय रस से लबालब भरा था । मस्तिष्क में ज्ञान का प्रखर प्रकाश, हृदय में भक्ति और प्रेम का अमृत सरोवर—यह है कबीर का सही रूप । जो लोग 'झाड़फटकार' से ही भाग खड़े हुए उन्हें कबीर के हृदय का अमृत रस नसीब नहीं हुआ—

भोजे चुनरिया प्रेमरस बूँदन ।

आरत साज के चली है सुहागिन पिय अपने को ढूँढन ।

मीरा अपने हृदय के अदर बसनेवाले 'पिया' के प्रेम में इतनी पगी हुई है कि वह 'उन' के साथ 'झिरमिट' खेलने जाती है और वहाँ 'वह' उसकी 'गाँनी' खोलकर उसे हृदय से लगा लेता है । यदि 'वह' कही परदेस हो तो पाती भी भेजी जाय पर जो हृदय के हृदय में बस रहा है उसे क्या लिखना ?

उसके पास क्या आना क्या जाना ? मीरा की यह सर्वथा एकान्त प्रणयरति है, प्राणो का प्राणेश्वर के साथ रमण है (आत्मा परमात्मा की चर्चा से यहाँ रसभङ्ग हो जायगा, यह जैसा है उसे उसी रूप में ग्रहण कीजिए) । भगवान् के साथ भक्त के इस एकान्त प्रणय सबध में कहीं किसी प्रकार का छिपाव नहीं रहता, कोई वस्तु अदेय नहीं रह जाती । भागवद्विषयक राग में किसी प्रकार की सीमा या बधन है ही नहीं ।

मीरा न तो कबीर की भाँति ज्ञानी ही थी न जायसी की तरह कवि ही । वह एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी । मीरा की प्रेमानुभूति जायसी की भाँति व्यापक भले ही न हो परंतु गहरी कम न थी । सावन के रिमझिम में जब मेघ धिर आते हैं, आँगन में पानी ही पानी हो जाता है, बिजली कड़कने लगती है और फुहियाँ बरसने लगती हैं; उस समय उस 'न मिलनेवाले' के लिए, उस 'ना, ना की मधुर मूर्ति' के लिए हृदय में बेकली का भयंकर 'दावानल धाँय-धाँय करने लगता है । लू से तपी हुई पृथ्वी पर बूँदें बरसाकर 'उस' ने अद्रंता एव शीतलता का संचार कर दिया है । हरियाली उग आई है परन्तु विरहिणी के अन्तस् का ताप, हृदय की व्यथा ज्यो-की-त्यो है, बल्कि और भी उभर आई है—

बादल देख झरी हो स्थाम में बादल देख झरी ।

काली पीली घटा ऊमड़ी, बरसी एक घरी ॥

जित जाऊँ तित पाणी पाणी हुई भोम हरी ।

जाका पिव परदेस बसत है भीजूँ बाहर खरी ॥

दादुर, मोर, पपीहे की बोली उद्दीपन विभाव है और हृदय में इस कारण कसक उठती है, ऐसा भान होने लगता है कि स्वयं 'महराज' ही आ रहे हैं । मीरा अपने महल पर चढ़कर 'उन' के आगमन की तीव्र प्रतीक्षा करने लगती है । मोर और पपीहे की बोली से हृदय में जो उत्सुकता जग उठी है उसमें पिया के आने की आवाज स्पष्टतः सुन पड़ती है—

सुनि हो में हरि आवन की आवाज ।

महैल चढ़ै चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी कब आवैं महाराज ॥

सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा में साज सजा रही है । इस महामिलन के मंगल-सूचक कोयल, मोर और पपीहा अपनी तान छोड़े हुए हैं । चारो ओर रिमझिम बूँदें बरस रही हैं; दामिनी भी अपनी लज्जा छोड़कर अपने प्राणेश धनश्याम से मिल रही है । अपने पति से मिलने के लिये पृथ्वी ने भी नहीं

हरी साड़ी पहन ली है। ऐसे समय जब सारा चराचर मिलन के रस में सराबोर हो रहा है मीरा को प्राणवल्लभ का वियोग बहुत ही खल रहा है। उसे यह आशा दृढ़ हो आती है कि हृदयधन के अब दर्शन हुए ही चाहते हैं—प्रेम की इसी वर्षा में कबीर भी भीग रहे हैं—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।

अतरि भीगी आतमा, हरी भरी बनराइ॥

उस 'निठुर' के लिये सारी रात 'जगकर विहान' किया फिर भी 'वह' न लौटा—

सखी मेरी नौद नसानी हो।

पिय को पंथ निहारत सिगरी रंण विहानी हो।

बिन देख्या कल नाहि परत जिय, ऐसी ठानी हो॥

अगि-अगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।

अतर-वेदन बिरह की वह पोड़ न जानी हो॥

ज्यो चातक धन कूं रटै मछरी जिमि पानी हो।

'मीरा' व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसरानी हो॥

उस विरहिणी मीरा की 'प्रतीक्षा' और भी तीव्र हो जाती है। 'उम' की स्मृति में वेदना का आनन्द घुला मिला है। प्रसाद के शब्दों में—

लिपटे सोते थे मनमें

सुख दुःख दोनों ही ऐसे,

चक्रिका अंधेरी मिलती

मालती कुज में जैसे

मधुमास में जबकि सर्वत्र आनन्द ज्वल रहा है, लतावल्लरियाँ फूलों के भार से झुक गई हैं, अमराइयों में से मजरी की मँह मँह आकर हृदय की कली को खिला जाती है और मलयानिल के झोंके से सर्वत्र उन्माद उमड़ा-फिरता है, एक अनिर्वचनीय आनन्द चर-अचर के प्राण प्राण में भर जाता है, मानो 'किसी' के साथ मिलने की, किसी का अग सग प्राप्त करने की आकांक्षा से ममस्त चित्त उत्क्षिप्त हो उठता है। प्रेमिका की चित्त-कलियाँ 'किसी' के मकेत से विकसित हो उठती हैं, 'कोई' मानो उसका बिल्कुल अपना-सा है जिसे पाने के लिए चित्त उन्मत्त-सा हो उठता है, ऐसे समय में मीरा के हृदय का 'मृतापन' और भी बढ़ जाता है।

‘सूनो गाँव देश सब सूनो सूनी सेज अटारी ।
 सूनी बिरहिन पिव बिन डोलें तज गई पिव पियारी ।:
 देस बिदेस संदेस न पहुँचैं हो अदेसा भारी ।
 गिणता गिणता घिस गई रेखा अंगरिया की सारी ॥

बुल्ला साहब ने भी इसी प्रकार गाया है—

देखो पिया काली मो पै भारी ।

सुनि सेज भयावन लागी मरौ विरह की जारो ॥

प्रेम प्रीति वह रीति चरण लगु पल छिन नाहि बिसारो ।

चितवत पंथ अंत नहि पायो, जन बुल्ला बलिहारो ॥

ऐसा जान पड़ता है कि मानो एक क्षण के लिये मिल कर मीरा सदा के लिये अपने प्राणाधार से बिछुड़ गयी है । एक बार, बस एक बार, कभी मीरा के हृदय ने उस ‘निर्मोही’ के आलिंगन का, अधरो ने उसके चुम्बन का रस पाया है, उस ‘एक क्षण’ की स्मृति ही मीरा की वेदना को उत्तप्त और उस के विरह का उद्दीप्त किये रखती है । मिलन तो दूर रहा अब तो अणमात्र दर्शन भी दुर्लभ है—

गली तो चारो बन्द हुई मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ।

ऊँची-नीची राह रपटीली, पावें नहीं ठहराय ।

ऊँचा-नीचा महल पिया का मो पै चढ़या न जाय ।

पिया दूर पंथ म्हीरा क्षीना सुरत झकोला खाय ॥

एक बार प्रेम का आस्वादन करा कर ‘वह’ चला गया और हृदय को विरह की आँच में भस्म होते देखकर भी उसे दया नहीं आती ?

‘मीन जल के बिछुरे तन, तलफि के मरि जाय’

प्रेमी की स्थिति का अवलम्ब, जीवन का एकमात्र आधार उसका प्रेम ही है, उसके बिना मीरा का जीवन ही असम्भव है, मछली पानी के बाहर कैसे जी सकती है ? कबीर कहते हैं—

आइ न सकौं तुझ पै, सकूँ न तोहि बुलाइ ।

जियरा यों ही लेहूँगे, बिरह तपाइ तपाइ ।

तथा

आठ पहर का दासणा मो पै सह्या न जाइ ।

विरह का यह दुःख (इसे ‘दुःख’ भी तो नहीं कह सकते) दुनिया नहीं समझ पाती—‘घायल की गति घायल जानै, या जिहि पीर लगाई हो ।’
 कबीर भी यही अनुभव करते हैं—

चोट सतागी बिरह की सब तन जर-जर होय ,
मारणहारा जाणि है, कि जिहि लागी होय ॥

जायसी की भाँति मीरा में भी बारह मासे का एक वर्णन मिलता है परन्तु उसमें न तो जायसी की भाँति व्यापकता ही है, न हृदय की उतनी निगूँठ अनुभूति मूलक भावना ही। वह वर्णन बहुत ही चलता हो गया है। प्रकृति के इस अनुपम साज शृंगार के भीतर मीरा के दिन 'काग उड़ते कब तक बीतेंगे इसी का बार-बार बार सकते हैं। मीरा की दृष्टि प्रकृति की सुषमाओं पर बहुत ही कम गई है, जो गई भी वह केवल हृदय की वेदना को उभारने वाली वस्तुओं एवं दृश्यों पर ही। स्त्रियों का हृदय, अब भी गाँवों में देखा जाता है, अपनी भाव-प्रवणता में प्रकृति की सभी लीलाओं में पूर्णतः रम जाता है। परन्तु यह रमना कवियों का रमना न हो कर प्रेमिकाओं का अपने प्रोषित पति के आगमन एवमिलन के उद्दीपन रूप में मिलना होता है। पति के नाते ही सब कुछ सुहावना लगता है। जाँत के गीतों में अब भी वही सहज आनन्द छलका पड़ता है।

मीरा के गीतों में, जैसा हम दिखाते आये हैं, स्थान-स्थान पर योगियों की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। सगुण भक्ति के साथ योग का यह बेमेल मिश्रण विचित्र और अटपटा सा लगता है। ऐसा लगता है कि ध्यान की प्रगाढावस्था में मीरा ने उस आनन्दपूर्ण अवस्था का अवश्य ही अनुभव किया था जिसे योगी लाग लय या 'उन्मनी' अवस्था कहते हैं। यही 'फना' की भी अवस्था है। यह सच है कि योग की कुछ सुनी सुनायी बातों के आधार पर ही मीरा ने ये गीत लिखे होंगे क्योंकि उसमें योगियों की सपूर्ण साधना-पद्धति का सुव्यवस्थित रूप नहीं मिलता और न इसमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा—इन छ चक्रों के भेदन द्वारा उद्बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति के प्रवाह को ब्रह्मरध या सहस्रार में प्रवेश करने की रहस्यमयी कृच्छ्र साधना का कुछ भी ज्ञान झलकता है। हाँ, अलबत, उस परम आनन्दमयी अवस्था का वर्णन मिलता है जिसे योगी सहजावस्था या सहज समाधि की अवस्था कहते हैं।

मीरा का वह 'अगम देश' बहुत ही मोहक है, जहाँ 'भरा प्रेम का होज हसा केलि करै'। उस 'सुख महल' की जहाँ 'प्रीतम की अटारी' बिछी हुई है, एक झाँकी लीजिये—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निगुन सेज बिछी ।
 पंचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ॥
 बाजबंद कडूला सोहै माँग सेंदूर भरी ।
 सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली ।
 सेज सुखमणाँ मीरा सोवै सुभ है आज घडी ॥
 तथा

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ रो ।
 सुन्न-महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ रो ॥
 इस 'सुन्न महल' में साजन की सेज पर पौढ़ने के लिए मीरा पाँवों में
 घुघुरू बाँधकर, माँग में सिंदूर लगाकर, आँखों में अजन सार कर तथा हाथ
 में आरती की थाल लेकर नव वधू के वेश में प्रवेश करती है—

या तन का दिवना करौ मनसा करौ बाती हो ।
 तेल भरावौ प्रेम का बारो सारो राती हो ॥
 रोम-रोम में मिलन की उत्कण्ठा जग रही है—

बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे ।
 बिन सुर राग छतीसूँ गावे रोम रोम रग सार रे ॥
 फिर तो सभी कुछ, सारे कर्म, सभी व्यापार श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर,
 साधना का अविच्छिन्न, अक्षुण्ण प्रवाह चलता रहता है—

जहँ जहँ पावँ धरूँ धरणी पर तहँ तहँ निरत करूँ रो ।
 कबीर की 'जहज समाधि' से इसे मिलाइये—

जहँ जहँ डोलो सो परिकरमा जो कुछ करो सो सेवा ।
 जब सोवो तब करो दडवत पूजो और न देवा ॥
 कहौ सो नाम सुनो सो सुमिरन खाँव पियो सो पूजा ।
 गिरह उजाड एक सम लेखो भाव न राखो दूजा ॥
 आँख न मूँदो, कान न रूँधो तनिक कष्ट नाहि धारो ।
 खुले नैन पहचानो हँसि हँसि सुंदर रूप निहारो ॥
 इसमें स्वामी शङ्कराचार्य की 'मानस पूजा' का वह श्लोक सहज ही
 समाया हुआ है—

आत्मा त्व गिरिजा मतिः सहचराः प्राणा. शरीर गृहं,
 पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थिति ।
 सचारपदयोः प्रवक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिराः,
 यत् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

कही कही अद्वैत की बहुत सुदूर व्यजना है—

तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं जैसे सूरज घामा ।

यह भूल न जाना चाहिए कि यह भावाद्वैत की आनन्दावस्था है जिसमें भक्त और भगवान का पूर्ण मिलन है । उपनिषदों के 'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' आदि वचनों का भी कुछ आभास उपर्युक्त पद से मिलता है, साथ ही साथ रंदास जी का 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जा की अग-अग बास समानी'—वाला पद भी स्मरण हो आता है । 'जित देखूँ तित पानीहि पानी' से तो कबीर के निम्नलिखित पद का भाव बहुत मिलता-जुलता है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।

लाली देखन में गई मैं भी हो गई लाल ॥

तथा

नयनन की कर कोठरी,

पुतरी पलंग बिछाय ।

पलकन की चिक डारिके

पिय को लीन्ह रिझाय ॥

'इच्छा' भी तो केवल भर आँख देखने की हो है—

म्हाने चाकर राखो जी ।

चाकर रहसूँ बाग लगसूँ नित उठ दरसन पासूँ ।

'साहचर्य' की इस उत्कट इच्छा के साथ दृढ़ 'विश्वास' भी है—

मीरा के प्रभु गहिर गभीरा हृदय धरो जो धीरा ।

आधी रात प्रभु दरसन देह प्रेम नदी के तीरा ।

जो रात दिन हमारे भीतर बस रहा है 'उसे' खोजने बाहर क्यों जायँ ?

जाका पिय परदेस बसत है लिख लिख भोजत पानी ।

मेरा पीय मेरे हीय बसत है ना कहूँ आती न जाती ॥*

* कवीन्द्र रवीन्द्र की 'साधना' में कितना अधिक भाव-साम्य है—

'where can I meet Thee unless in this my home made Thine.
Where can I join Thee unless in this my work transformed into
Thy work If I leave my home, I shall not reach Thee. if I
cease my work, can never join thee in Thy work For thou
dwestest in me and I in Thee. Thou without me or I without
Thee are nothing'.

कबीर के शब्दों में —

प्रीतम को पतिया लिखूँ जो कहूँ होय बिदेस ।

तन में मन में नैन में ताकौ कहा सदेश ॥

मीरा का प्रेम व्यापक (extensive) न होकर intensive (तीव्र) ही है; उसके प्रेम का मिलन और विरह पति के लिए पत्नी के हृदय का प्रेममय मिलन और विरह है । इस मधुर दाम्पत्य रति में मीरा डूब गयी ।

मीरा और अन्य प्रेमी कवि

मुक्तक और प्रबध के प्रतिबध को हटाकर काव्य की स्वच्छ, मधुर आत्मा के दर्शन करनेवाले रसज्ञ समालोचक 'रमणीयार्थ' प्रतिपादक शब्द 'रसात्मक वाक्य' आदि सभी काव्य-परिभाषाओं में अव्याप्तिदोष पाते हैं। जो हमारे मनोरागों को उत्तेजित एवं अनुरजित कर हमारे हृदय को अपने रंग में रँग सके वही सच्चा काव्य है। काव्य हृदय के निर्झर से निकल कर ही हृदय के सागर में प्रवेश कर जाता है। यहाँ साधन और साध्य दोनों ही हृदय हैं। रस काव्य की आत्मा है—इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए यदि देखा जाय तो मीरा ससार के कुछ इन्ने गिने कवियों में आ जाती हैं और उन सभी में मीरा का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

जिस किसी कवि से मीरा की तुलना करना मीरा के दिव्य प्रेम-काव्य का अनादर करना है। मीरा का काव्य हृदय की निगूढ़ वेदना से प्रसूत है। मीरा विरह की गायिका है और इसमें रचमात्र भी शङ्का के लिए स्थान नहीं है कि अपने क्षेत्र में, उस क्षेत्र को आज के समालोचक बहुत ही सीमित या सकुचिब क्यों न कहे मीरा सर्वश्रेष्ठ है।

हिन्दी-कवियों में मीरा के सबसे निकट आनेवाले बस दो तीन ही हैं—वे हैं जायसी, घनानंद और महादेवी। जायसी और मीरा की 'परम भावना' सर्वथा एक ही है। सूफियों का 'मार्फत' वैष्णवों का 'आत्म-निवेदन' एक ही है। सूफियों में भी, यदि इस्लाम के पर्दे को हटा कर देखा जाय तो, प्रतीकोपासना, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही सही, विद्यमान थी। उन्होंने भी परमात्मा को प्रियतम माना और वैष्णव धर्म के माधुर्य भाव में भी परमात्मा को पति माना गया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि नौ विभेद सूफियों में भी शरीरगत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि भिन्न नामों से वर्तमान हैं। दोनों में अन्तःकरण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को ही प्रधानता दी

जाती है। दोनों ने परमात्मा की सत्ता का सार प्रेम ही माना है। उनका 'हलूल' और हमारा 'वासुदेव सर्वमिति' एक ही है। आत्म-समर्पण को ही दोनों ने स्वीकार किया है। 'खुदा के नूर को हुस्ने बूतों के परदे में' देखने वाले 'सर्वभूतमय हरि' तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरि' से सिद्धान्तत कोई अन्तर नहीं। जायसी कहते हैं—

पिउ से कहेउ सँदेसड़ा हे भौरा हे काग ।
सो धनि विरहँ जरि मुई तेहिक घुआँ हम लाग ॥

मीरा कहती है—

काटि कलेजा में घरूँ रे कौआ तू ले जाय ।

ज्या देसाँ म्हारो पीब बसत रे बे देखत तू खाय ॥

ईश्वर का विरह सूफियो के यहाँ भक्त की प्रधान सम्पत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त हो नहीं सकता और न उसके हृदय की आँखें ही खुल सकती हैं। जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह ससार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा का आभास अनेक रूपों में मिलने लगता है। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। यह भाव प्रेममार्गी सूफी कवियों में, सब के सब में, समान रूप से पाया जाता है। जायसी अपने समय के एक सिद्ध फकीर थे और इनका 'पदमावत' प्रेम गाथा की परंपरा में सबसे प्रसिद्ध, प्रौढ और सरस कृति है।

जायसी और मीरा दोनों के काव्य का विषय है 'प्रेम की पीर'। पर मीरा का प्रेम अपने ही भीतर घुलनेवाला है, जायसी का प्रेम विश्व को अपने रंग में घुलानेवाला। जिस पथ से 'प्रीतम' का आगमन होगा उसे मीरा और जायसी दोनों ने पलको से बुहारा है। जायसी और मीरा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है; मीरा में प्रेम-पात्र का स्थूल रूप और उसकी रसासक्ति कुछ विशेष परिलक्षित हो रही है, जायसी में अत्यन्त सूक्ष्म।

अन्य प्रेममार्गी सूफी कवियों की तरह जायसी ने भी अपनी पूरी कथा कह लेने के बाद उसे अन्योक्ति या रूपक द्वारा साधक की कठिनाइयों, साधनापथ के विवरण और अन्त में मिलन-सिद्धि का संकेत कर दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पदमिनि चीन्हा ।

गुरु सूआ जेह पंथ देखावा बिन गुरु, जगत को निरगुन पावा ।

नागमती यह दुनिया बंधा बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ।

राघव दूत सोई संतानू माया अलाउदीं सुलतानू ॥

पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को लोकोत्तर सौंदर्य और आनन्द की भावना में मग्न करनेवाला है—

सरवर तीर पदुमिनी आई, खोपा छोर केस मकलाइ ।

ससिमुख अग मलयगिरि बासा, नागिनि झापि लीन्ह चहुँ पासा ॥

ओनइ घटा परो जग छाँहा, ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ ।

भूलि चकोर दीठि मुखलावा । मेघ घटा मँह चंद देखावा ॥

पद्मिनी का रूप वर्णन करते समय कवि उसकी वरुणी के बाण से सारे ससार को बिंधा देख रहा है और उसी की विरह-वेदना में सारी सृष्टि व्याकुल तड़प रही है—‘बेधि रहा सगरौ ससारा’ । इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा और जायसी विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं । मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम—वह सर्वथा अन्तर्मुखी है, अपने ही भीतर घुलने-घुलाने वाला है । ‘बारहमासे’ में मीरा की दृष्टि विरह में जलते-तपते बाह्य पदार्थों पर गयी है अवश्य पर उन पर दृष्टि ठहरी नहीं, वह पुनः अपने अन्दर लौट आती है । मीरा के काव्य में प्राकृतिक वर्णन नहीं है, मानव प्रकृति के नाना रूप और विलास की अभिव्यजना उसमें नहीं मिलती—मीरा का सारा काव्य एक ‘क्षण’ की एक घटना के प्रभाव में डूब गया है—और वह घटना है मिलकर, क्षण भर के लिए मिलकर, चिरकाल के लिए बिछुड़ जाने की । जायसी अपने विरह में समस्त प्रकृति को रंग डालते हैं, परन्तु मीरा को अपने से बाह्य रदेखने का अवकाश ही कहाँ है ? मीरा का काव्य एक ‘भुक्तभोगी’ की विरहः व्यथा से ओतप्रोत है । जायसी में कथा-विस्तार के अदर विरह की धारा प्रवाहित होती चलती है, समतल पर गंगा की धारा की तरह । पर मीरा में तो विरह का प्रखर प्रवाह गोमुख से फूट पड़नेवाली गंगा की अजस्र प्रखरतम धारा की भाँति उद्दाम बग से बहती और बहाती चल रही है । मीरा में लोकाचार, पता नहीं कहाँ, बह गया । जायसी तथा मीरा—इन दोनों के ही काव्य में भगवान् के विरह में जीवात्मा की तड़पन का बड़ा ही सजीव वर्णन है । मीरा का भावविन्यास पूर्णतः ‘आत्मगत’ है जायसी का लोक-व्याप्त । परन्तु दोनों की ही प्रेम-साधना लोक-बाह्य थी, उसमें लोक और शास्त्र का विचार न था; प्रेम के प्रखर प्रवाह में लोक और वेद बह गये, लोकलाज और कुलकानि बिसर गयी, पथ-अपथ का डर छूट गया । अनन्य प्रेम और अवधिहीन विरह है मीरा और जायसी के काव्य का प्राण ।

मधुर भाव की उपासना में, आत्मगत विरह वेदना की निदल विवृति में कबीर मीरा के बहुत ही निकट आते हैं। कबीर और मीरा—इन दोनों के काव्य का आधार है—इनका सर्वथा निजी अनुभव। प्रेम के क्षेत्र में साकार और निराकार का बखेड़ा खड़ा नहीं हो सकता। प्रेम के सामने साकार इतना व्यापक हो जाता है कि वह प्रायः निराकार ही हो जाता है और निराकार इतना प्रगाढ़ और मूर्तिमान हो उठता है कि वह साकार हो जाता है। सर इकबाल ने इस विषय पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में अपने 'हृदय की बात' कही है—

कभी ऐ हकीकते मुन्तजर

नजर आ लिबासे मजाज में ।

कि हजारो सिज्दे तड़प रहे हैं

मेरी जबीने नयाज में ॥

मैं जो सर बसिज्दा हुआ कभी

तो हरम से आने लगी सदा ।

तेरा दिल तो है सनम आशना

तुझे क्या मिलेगा नमाज में ॥

हाँ, तो, कबीर के काव्य में नाथ पथ, सूफी मतवाद तथा वैष्णव धर्म का अपूर्व और विलक्षण सम्मिश्रण मिलता है पर मुख्यतः उनकी साधना वैष्णव धर्म की ही है। मीरा में भी, नाममात्र का ही सही, नाथ-पथ और सूफी साधना का प्रभाव स्पष्ट है, हालाँकि वह सब का सब वैष्णव धर्म की मधुर रति में सराबोर है। कबीर के काव्य पर से बाहर का कठोर छिलका छिछोह दिया जाय तो उसके भीतर से कबीर के कोमल एवं भावुक हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनी जा सकती है। अधिकांश व्यक्ति कबीर के काव्य की बाहरी रक्षता और ऊबड़ खाबड़ ढंग को देख कर भाग खड़े होते हैं और उन्हें नितान्त निराशा ही हाथ आती है। अस्तु, कबीर और मीरा दोनों का काव्य आत्मगत (Personal या subjective) है। भगवान के साथ मिलन का आनन्दोल्लास तथा भगवान के विरह में तड़पने का जहाँ वर्णन है वहाँ मीरा और कबीर एक हैं, सर्वथा एक हैं। यह सच है कि मिलन की घड़ी में जहाँ कबीर का आनन्द छलक पड़ा है वहाँ मीरा की सजीली अभि-

व्यक्ति लज्जा की चादर ओढ़े हुए मूक-सी रह जाती है। कबीर के काव्य में पुरुष स्पष्ट है—मिलन में भी, विरह में भी। मीरा म वेदना की विवृति तो पूरी-पूरी मिलती है परन्तु मिलन के क्षण में मीरा एक सती साध्वी पत्नी की तरह चुपचाप आनन्द के रस में छकी हुई है, अधरो पर मद मद मुसकान, आँखों में आनन्दोल्लास की हलकी लहर, अग-अग में प्राणप्रिय से मिलन की सिहरन—पर यह सब अपने आप में ही खोयी-खोयी, अपने में ही समायी हुई है।

‘साई का प्रेम सेंट का सौदा नहीं है, वह मुपत की बातों से नहीं मिलता। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता है’—इसे मीरा और कबीर दोनों स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि यहाँ वही प्रवेश कर सकता है जो सिर उतार कर धरती पर रख दे। कायर की दाल यहाँ नहीं गलने की। बातूनी इस्क बेकार है। पतिव्रता स्त्री ही भक्त की तुलना में आ सकती है। कबीर और मीरा इन दोनों का प्रेम एक सच्ची पतिव्रता का प्रेम है और दोनों की ही यह समान प्रार्थना है—

नैना अंतर आव तू नैन झाँपि तोहि लेउँ ।
ना मैं देखौँ और को ना तोहि देखन देउँ ॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मोर ॥

मेरे एक मित्र अतिम पद के ‘क्या लागै है मोर’ को ‘मन हरखत है मोर’ कहा करते हैं और कहते हैं कि क्या लागै है मोर में थोड़ी सी उदासीनता है।

मीरा ने अपने को भगवान की चेरी, जनम जनम की दासी आदि कहा है। कबीर तो अपने को राम की कुतिया कहते हैं, नाम ‘मुतिया’ है। गले में राम की जेबड़ी पड़ी हुई है। ‘वह’ जिधर खींचता है मुतिया भी उधर ही जाती है। भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, जो दें दे वही खा लेना उत्तम है। मीरा भी यही कहती है—

रण दिना वाकै संग खेलूँ ज्युत्यू वाहि रिझाऊँ
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ ।
जित बँठावै तितही बँठूँ बचै तो बिक जाऊँ

आत्मसमर्पण का आनन्द और उसका निराला सौंदर्य मीरा और कबीर के काव्य में ओतप्रोत है। प्रेम की विभिन्न दशाओं की गहरी अनुभूति इन

दोनों को है । अपने आप पर प्रेम की चोट खा कर, प्रेम के बान से बिधकर हृदय में उस तीर को छिपाये ये दोनों दिवाने पागल की तरह, घायल की तरह धूमते फिरे और इनकी व्यथा को कोई क्या बूझे ?

मन परतीति न प्रेमरस, ना इस तन में ढंग ।

ना जाणों उस पीव सूँ कैसी रहसी रग ।

मीरा कहती है—मैं जाण्यो नहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री ।

आये मेरे सजना फिर गये अंगना में अभागण रही सोइ री ॥

मीरा और कबीर इसी अवेसे में है कि उनका प्रेमी कही अतृप्त न लौट जाय । ये साई के प्रेम की चोट खाये हुए, भीतर-बाहर उसके रंग में रगे हुए हैं । प्रेम की भूख से व्याकुल वह प्रियतम प्रेम भिखारी साई राह चलते भक्त पर रग डाल देता है । जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहि-मुखी हैं वे लोग इस रग की लीला को अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं । पर जो अनुभवही हैं वे व्याकुल हो उठते हैं । उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देनी है जैसे प्रियतम ने एक छेड़खानी करके ऐसी पुकार फेंकी है जिस की चोट सँभालना मुश्किल है । यह पुकार सारे शरीर को बेध डालती है । इसकी कोई औषध नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं—बेचारा बैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया एक बार चोट लगने पर अपने को सभाल रखना कठिन है । साई के इस रग का चोट खाया हुआ मनुष्य घायल की हालत में पागल सा धूमा फिरता है और और उसकी व्यथा को कोई समझ नहीं सकता—विरह में बजती हुई प्राणों की बाँसुरी को या तो साई सुनता है या अपना चित्त—

सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावै चित्त ।

और न कोई सुनि सकै कै साई कै चित्त ॥

कबीर और मीरा दोनों को उस परम प्रियतम ने सोने में अपने मिलन का सुख देकर, उनके अतल प्राणों में अपने स्पर्श की गुदगुदी से उन्हें जगा दिया है—

सूतल रहलूँ मैं नौद भरि हो, पिया दिहलूँ जगाय ।

चरन-कंवल के अंजन हो नैना लेलूँ लगाय ॥

दोनों ने अपनी शरीर के दीपक में प्रेम की बाती जलायी है और उसीके प्रकाश में वे अपने प्रेमी प्रियतम का सुन्दर सलोना रूप देखते रहे हैं और निरख-निरख कर, प्रेम का प्याला पी पीकर 'बौराय' गये हैं । प्रेम का

प्याला पिला कर वह प्रेमी विरह की अग्नि घबका देता है और फिर तन, मन धन की बाजी लगती है । भक्त के तो दोनों हाथ लड़्डू हैं ।

हारी तो पिय की भई रे, जोती तो पिय मोर रे ।

हिन्दी साहित्य में विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए घनानन्द । निश्चय ही विश्व-साहित्य में घनानन्द के समान विरह का कवि पाना कठिन है । घनानन्द का एक-एक शब्द विरह के रस से सराबोर है । कलापक्ष तो मीरा की अपेक्षा सुव्यवस्थित है ही भावपक्ष भी मीरा से किसी भाँति घट कर नहीं है । घनानन्द प्रेम की चोट खाये हुए थे और वही चोट इनके जीवन में एक दिव्य परिवर्तन का कारण हुआ, मज्जाझी से हकीकी की ओर बहा ले जाने में समर्थ हुआ—यह सर्वविदित है । घनानन्द के काव्य में एक विलक्षण विवशता, निरुपायता, यहाँ से वहाँ तक मिलती है ऐसा मानो किसी अलहड मृगी को खूँटे में बाँधकर कोई उस पर तीर पर तीर चलाये जा रहा हो और वह चुपचाप सब कुछ सह रही हो—

मेरोई जीव जो मारतु मोहि तौ प्यारे कहा तुम सों कहनी हँ ।

आँखिन हूँ यहि बानि तजो, कछु ऐसोई भोगनि को लहनी हँ ॥

आस तिहारिय ही घनानन्द कैसे उदास भये रहनी हँ ।

जानि के होत इते पै अजान जो, तो बिन पावक ही बहनी हँ ॥

जीव की बात जनाइए क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौ ।

तीरन मारिके पीर न पावत एक सों मानत रोइबो रागौ ॥

ऐसी बनी 'घनानन्द' आन जू आन न सूझत सो किन त्यागौ ॥

प्राण मरेंगे मरेंगे बिथा पै, अमोही सो काहू को मोह न लागौ ॥

मेघो से यह कातर प्रार्थना कि जरा मेरी पीर को तो परसो, मेरे आँसुओ को लेकर उस 'बिसासी' सुजान के आँगन में बरसो, पवन से यह याचना कि उस निर्मोही के पाँयन की नेक धूरि ला दे कि मैं उनका अपनी आँखों में अजन कर लूँ—कितनी गहरी कसक और प्यार भरी लालसा का चोतक है । यह विरह बाहर से प्रशान्त है, गभीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना ही है । उनके वियोग में मूक वेदना की अत्यन्त आतुर परन्तु साथ ही परम गभीर पुकार है । एक बार अपना कर, रस पिला कर, आशा को बढा कर अब यो भ्रंशधार में छोड़ रहे हो—यह तुम्हारी कैसी रीति है ?

पहिले अपनाय सुजान सनेह सो क्यों फिर नेह को तोरिए जू ।
 निरधार अधार दे धार मँझार, दई गहि बह न बोरिए जू ॥
 घन आनन्द आपके चातक को, गुन बाँधि कै मोह न छोरिए जू ।
 रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस, बिसास में यो विष घोरिए जू ॥

वह 'बैरिन बाँसुरिया' जो कभी बजी थी आज भी उसका स्वर गूँज रहा है और बिना बजे भी वह बजा करती है और प्रेमी के प्राणों के साथ खेला करती है—

घन आनन्द तोखियै ताननि सों सरसे सुर साजिबोई-सी करै ।
 किततें यह बैरिनि बाँसुरिया बिन बाजेई बाजिबोई-सी करै ॥

मीरा के साथ महादेवी की तुलना आज कल बहुत प्रचलित है । परन्तु प्रायः आलोचक यह भूल जाते हैं कि मीरा मध्यकाल की एक भवत है और महादेवी आधुनिक काल की एक कवि । महादेवी विरह की पुजारिन है और विरह में ही चिर है । उन्होंने उस प्रियतम को जिसके विरह में जलती हैं देखा नहीं है, केवल उसकी पदध्वनि पहचानी हुई है—

मैंने देखा उसे नहीं पदध्वनि है केवल पहचानी ।

मैं मतवाली इधर उधर प्रिय मीरा अलबेला सा है ॥

'किसी' का 'सुकुमार सपना' पलको में पाल रही है और आज उसकी मीठी-मीठी याद में नयन, जाने क्यों, भर भर आते हैं । हरसिगार के फूलों का झरना और आँखों से आँसुओं का चुपचाप गिरना परस्पर कितना समान है !—

पुलक पुलक कर सिहर सिहर तन
 आज नयन आते क्यों भर-भर ?
 सकुच सलज खिलती शेफाली
 अलस मौलथी डाली डाली
 बुनते नव प्रवाल कुंजों में
 रजत श्याम तारों से जाली
 शिथिल मधुपवन गिन गिन मधुकण
 हरसिगार झरते हैं झर झर
 आज नयन आते क्यों भर भर ?

यह 'अमर सुहाग भरी' और 'प्रिय के अनत अनुराग भरी' मिलन मंदिर में प्रिय से मिलने और मिल कर मिल जाने की कितनी मधुर अभिलाषा लिए हुई है—

मिलन मंदिर में उठा हूँ सुमुख सजल गुठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यो तप्त सिकता में सलिल कण

सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी में ।
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी में ॥

प्रिय के पथ में अभिसार के लिए रूप का शृंगार देखिये—

शृंगार कर ले री सजनि
तू स्वप्न सुमनों से सजा तन
विरह का उपहार ले
अगणित युगों की प्यास का
अब नयन अंजन साग ले
अज्ञात पथ है, दूर प्रिय
चल, भीगती मधुकी रजनि !

मन में वह 'निर्मम' छिपा हुआ है पर ससार उस 'अन्तर्वासी' से मिलने
नहीं देता, इधर उधर भटकाता रहता है—

घूँघट पट से झाँक दिखाने
अरुणा के आरक्त कपोल,
जिसकी चाह तुम्हे हूँ उसने
छिड़की तुम पर लाली घोल ।
ये मंथर सी लोल हिलोरें
फँला अपने अंचल - छोरे
कह जाती 'उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर' ।
यह कैसी छरुना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार
तुम मन में हो छिपे
मुझे भटकाता हूँ सारा संसार ।

मीरा की तरह ही महादेवी अपने में और उसमें कोई भेद नहीं मानती—

सिंधु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचि-विलास ?

क्षुद्र है मेरे बुदबुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश ।

तथा

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?
तेरा अघर - विचित्रित प्याला
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला
तेरा मानस ही मधुशाला
फिर पूछूं क्यों मेरे साकी
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

उस प्यारे को पत्र भी लिखा जाय, सदेशा भी भेजा जाय यदि वह कहीं
परदेश में हो परन्तु जोतन में, मन में, नयन में रम रहा है उसे क्या पत्र और
कौन सा संदेश ? मीरा में कई पद इस भाव के हैं । महादेवी कहती है—

अलि कहाँ सदेश भेजूं ?
मैं किसे सदेश भेजूं ?
नयन पथ से स्वप्न में मिल
प्यास में धुल साध में खिल

प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूं ?
यह सारा जीवन 'उस' के आगमन की आशा और प्रतीक्षा में, चिर जाग-
रण, चिर विरह, फिर भी आशा के कारण चिर मिलन के मधु में मुग्ध है—

जो न प्रिय पहचान पाती
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत-सी तरल बन,
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक-राग गाती ?

चाँदनी के बादलो में स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों ?
मंदिर सौरभ से सने क्षण दिवस रात बिखेरते क्यों ?

सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी क जगाती ?
कल्प-युग व्यापी विरह को एक सिहरन में संभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि दीप वाले,

क्यों किसी के आगमन के
शकुन स्पन्दन में मनाती ?

मेघपथ में चिह्न विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय पद
जो न उनकी चाप का में जानती सदेश उन्मद

किस लिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?
जो न प्रिय पहचान पानी ?

इतनी मीठी पहचान या 'चिन्हारी' के बाद फिर क्या पूजा और क्या
अर्चा ? अब तो सारा जीवन, एक-एक श्वास-प्रश्वास अर्चना में स्वयं-
लीन है—

क्या पूजन क्या अर्चन रे ।

उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे ।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे ॥
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन के जलकण रे ।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चंदन रे ॥
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे ॥
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे ॥
धूम बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे ॥

मीरा की तरह महादेवी की भी शिकायत है—

पथ में बिखरा शूल बुला जाते क्यों दूर अकेले

परंतु इस 'आँखमिचीनी' के खेल में—खोजना, पाना और फिर खो देना
फिर खोजना और खोजते ही रहना—इस में क्या कम आनन्द है, कम माधुर्य
है ? यह 'दूरी' क्या कम मधुर है ? पर मन जो नहीं मानता !

रंगमय है देव दूरी, छू तुम्हे रह जायगी

यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी

दूर रह कर खेलना पर, मन न मेरा मानता है ।

हम तुम मिल जायें तो फिर यह लीला कैसे चलेगी, यह चित्रमय हमारी
तुम्हारी परस्पर की प्रणय-क्रीड़ा, यह आनन्द के लिए अधूरी ही रह जायगी,
इसलिए यह 'दूरी' ही बनी रहे और अपने भीतर 'एकमेक' होने की साध
यद् छिपाये रहे तभी तो दोनों की लालसा लहराती चलेगी—

विरह का युग मिलन का पल

मधुर जैसे दो पलक चल

एकता इनका तिमिर, दूरी खिलाती रूप शतदल !

इसी लिए चिर सुहागिनी भीरा की तरह महादेवी सोल्लास स्वीकार
करती है—

सखि ! मैं हूँ अमर सुहाग भरी !

प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !

जीवन की एक झलक

“I go with a perpetual heartache,

None can see God or Goddess and live”

—Coventry patmore.

चार सौ वर्ष से ऊपर हुए प्रभु ने पृथ्वी पर प्रेम की एक पुतली भेजी थी। वह आर्या, प्रभु के प्रेम में छकी हुई, प्रभु के आलिंगन में डूबी हुई, प्रभु के रूप में भूली हुई वह आयी। प्रभु के नूपुरों की रनझुन में अपने हृदय की गति मिलाकर, प्रभु की मुरली में अपने प्राण ढालकर, प्रभु के पीताम्बर पर अपने को निछावर कर, प्रभु की मन्द-मन्द मुसकान पर अपना सब कुछ दे डालकर, प्रभु के चरणों के नीचे अपना हृदय बिछाकर वह अल्हड़ योगिनी पैरों में घुँघरू और हाथ में करताल लेकर नाच उठी और प्रेम के आनन्द में विभोर होकर गा उठी.—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।

मैंलौं चढ़-चढ़ जोऊं मेरी सजनी, कब आवैं महाराज !

इतने दिन हो गये, आज भी यह गीत स्पष्टतः भीतर गूँज रहा है, मानो अभी कल की बात हो। ऐसा प्रतीत होता है, इन आँखों ने वह प्रेमोन्मत्त नृत्य देखा है, इन कानों ने वह दिव्य मंगल-संगीत सुना है। सन्ध्या का समय है, मीरा आरती कर चुकी है। सामने श्रीगिरधरलालजी की दिव्य मूर्ति विराज रही है। कमरे के द्वार बंद है और भीतर सारा स्थान तेज से जगमगा रहा है, दिव्य गन्ध से भर रहा है। मीरा अपने प्राणाधार के सामने नाच रही है। आँसुओं की धारा बह रही है—भीतर बाहर सर्वत्र प्रभु का सुखद सुशीतल स्पर्श और उस स्पर्श की मादक मधुर सिहरन रोम रोम को प्रेम में डुबोये हुई है—

मैं गिरधर रेंगराती, संघाँ मैं गिरधर रेंगराती ।
 पचरग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती ।
 झिरमिट माँही मिल्यो सांदरो खोल मिली तन गाती ॥

‘खोल मिली तन गाती !’ निरावरण होकर, अवगुण्ठन हटाकर प्राणाधार से मिली, अपने प्राणों के प्राण, हृदय के सर्वस्व से मिली और मिलकर उसी में मिल गयी, एक हो गयी, तल्लीन हो गयी । यह बात तो पीछे जाकर खुली जब—

आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों प्रेम नदी के तीरा ।

The beloved took me to His arm
 And I laid my bosom bare and clasped Him tight,
 Ah ! I clasped Him to my bosom.

ससार को इस मिलन और इस विरह का क्या पता ? यह तो कुछ पगलों के लिए—प्रभु प्रेम के दीवानों के लिए ही है । ऐसे दीवाने कितने हुए ? ससार में चैतन्य और मीरा, मसूर और ईसा कितने हुए ?

मीरा मेड़तिया के राठौर रत्नमिह की पुत्री, रावदूदा जी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधा जी की प्रपौत्री थी । इनका जन्म स० १५७३ में चोकडी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज जी के साथ हुआ था । ये आरम्भ से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थी । बचपन में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और इसलिए इनके पालन-पोषण का भार इनके दादा राव दूदाजी पर पड़ा । दूदाजी परम वैष्णव थे । मीरा के सस्कार बचपन से ही कृष्णप्रेम से-ओतप्रोत थे । बहुत बचपन में ही मीरा ठाकुरजी की पूजा के लिए पुष्प चुनती, माला बनाती और बड़े ही प्रेम से ठाकुरजी को पहनाती । भगवान का श्रृंगार कर वह अपनी तुतली बोली में जाने क्या क्या गुनगुनाती । प्रातः काल नींद खुलते ही ठाकुरजी ! बस, ठाकुरजी के सिवा न कुछ कहना, न कुछ सुनना । दादाजी जब भगवान की षोडशोपचार पूजा करते तब मीरा एकटक देखा करते ।

बचपन की ही एक घटना है—मीरा के घर एक साधु आये । उनकी पूजा में श्री गिरधर लालजी की मूर्ति थी । मीरा को वह मूर्ति ऐसी लगी, मानो वह उसके जन्म-जन्म का साथी हो । उसे पाने के लिये मीरा का हृदय मचला, पर वह साधु मूर्ति क्यों देने लगे । मीरा को उस मूर्ति के बिना कल

कैसे पड़ती ! उसने खाना-पीना छोड़ दिया और छटपटाने लगी । साधु ने स्वप्न में देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अल्हड़ बालिका के पास पहुँचा आने का आदेश कर रहे हैं । भोर होते ही वह साधु मीरा को मूर्ति दे आया अब मीरा की प्रसन्नता का क्या पूछना ! आनन्दोल्लास में वह फूली-फूली फिरती ।

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है—मीरा के गाँव एक बरात आयी । लडकियों को बचपन में अपने भावी पति को जानने का बड़ी ही सरलतापूर्ण उत्कठा रहती है । मीराने बड़ी सरलता से अपनी माता से पूछा—‘माँ ! मेरा विवाह किससे होगा ?’ बच्ची के प्रश्न पर हँसती हुई माँ ने कहा—‘गिरधरलालजी से’ और सामने की मूर्ति की ओर संकेत किया । मीरा के मन में यह बात बँठ गयी कि गिरधरलालजी ही बास्त्व में हमारे पति हैं ।

आठारह वर्ष की अवस्था में मीरा का विवाह मेवाड़ के इतिहास-प्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा सांगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराजजी के साथ हुआ । मीरा अपनी ससुराल में भी अपने इष्टदेव की मूर्ति लेती आयी । मीरा का दाम्पत्य जीवन बड़ा ही आनन्द-पूर्ण था । ऐसी सती-साध्वी नारी अपने पतिदेव की सेवा न करेगी, तो कौन करेगी ? मीरा बड़े आदर और विनय के साथ पति की परिचर्या में रहती और साथ ही नियमपूर्वक प्रभु की उपासना भी किया करती । प्रभु जिसे अपनाते हैं उसके सारे अन्य बन्धनों और सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं । जबतक जीव ससार में किसी का भी आसरा-भरोसा रखता है तब तक वह प्रभु के आश्रय से वंचित ही रहता है । हम सर्वथा प्रभु के हो जायें, इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि ससार में भिन्न-भिन्न सम्बन्धों को लेकर जो हमारा अनुराग है वह समेटकर प्रभु में केंद्रीभूत हो जाय, घनीभूत हो जाय, जो प्रेम प्रभु के चरणों में निर्मल्य हो चुका है, उसमें साक्षीदार ससार का कोई भी प्राणी कैसे होगा ? मीरा का दाम्पत्य जीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे । अब तो मीरा की जीवन-धारा एक बारगी पलट गयी । संसार के सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्तभाव से श्रीगिरधरलालजी की सेवा में रहने लगी ।

लोकलाज और कुल की मर्यादा को अलग कर मीरा अपने प्राणाराध्य की साधना में अहर्निश लगी रहती । प्रेम की प्रखर अजस्र धारा में लोक-लाज कैसे टिक सकती ? मीरा को तो कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है । उसके यहाँ अब बराबर साधुओं की भीड़ लगी रहती । भगवत् चर्चा के

सिवा अब उसे करना ही क्या रह गया ! श्रीगिरधर गोपालजी की मूर्ति के सामने मीरा नाचा करती और सतो की मण्डली जर्म, रहती । घरवालों को भला यह बात कैसे पसंद आती ? राणा सागा की मृत्यु हो चुका थी और इस समय मीरा के देवर विक्रमाजीत सिंहासन पर थे । उनसे मीरा की ये 'हरकते' देखी न गयी । उन्होंने मीरा को मार डालने की कई तदवीरे सोची, परन्तु जिसकी रक्षा स्वयं परमात्मा कर रहा है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है । विष का प्याला भेजा । मीरा उसे अपने प्राणप्यारे का 'चरणामृत' समझकर पी गयी । विष भी अमृत हो गया । जिसके अनुकूल स्वयं प्रभु है, उसके लिए प्रतिकूल क्या हो ? पिटारी में साँप भेजा गया । मीरा उसे खोलती है तो देखती है कि शालग्रामजी की मूर्ति है । मीराने उसे छाती से चिपका लिया—प्रेमाश्रुओं से नहला दिया ।

सखी मेरो कानूडो कलेजे की कोर ।

मोर मुकुट पीताम्बर सोहैं कुडल की झकझोर ॥

बून्दाबन की कुज गलिन में नाचत नदकिसोर ॥

परीक्षा की इति यही तक नहीं थी । मीरा प्रतिदिन अधिकाधिक खुलकर साधु-महात्माओं में रहने लगी और रात-दिन हरि-चर्चा तथा कीर्तन के सिवा उसे कुछ सुहाता ही न था । मीरा ने यह निश्चय कर लिया कि जितने क्षण शरीर में प्राण रहेंगे, उतने क्षण हरि गुणगान में ही बीतेगें । प्राण छूट जायें भले ही छूट जायें, कीर्तन कैसे छूटता ! सास ने बहुत मना किया, बहुत समझाया-बुझाया, परन्तु यहाँ तो अदर-ही अदर प्रेम की भट्ठा धधक रही थी ।

मीरा को एक ननद थी, ऊदा । उसने भी मीरा को 'राह पर लाने' की बहुत चेष्टा की, परन्तु मीरा का मन तो मोहन के चरणों में बिक चुका था ! ऊदा से अपनी हार सही न गयी । उसने एक षड्यंत्र रचा । विक्रमाजीत से जाकर उसने कहा कि मीरा आधी रात को द्वार बन्द कर और दीपक जलाकर किसी पुरुष से प्रेमालाप करती है । वह पुरुष नित्य मीरा के पास आधी रात को पैरो की चाप छुपाये धीरे-धीरे आता है । उसने राणा से यह भी कहा कि यदि उसे विश्वास न हो, तो स्वयं आकर देख ले । राणा के क्रोध का अब क्या ठिकाना ! चेहरा तमतमा उठा । बस, अभी मीरा का सिर घड से अलग करने के लिए वह तलवार लेकर दौड़े ।

सादो के कृष्णपक्ष की आधी रात है । मेघ झमाझम बरस रहा है और बिजली कड़क रही है—परन्तु उस मेघ से भी अधिक बरस रही है वियो-

सनी मीरा की दो करुणाविगलित आँखें; उस बिजली से भी अधिक कड़क रहा है उसका दर्दभरा दिल—साँघरे के विरह में तड़पता हुआ पागल बिह्वल हृदय ! ससार सुख की नीद सो रहा है, परन्तु वियोगिनी की आँखों में नीद कहाँ, विश्राम कहाँ, शान्ति कहाँ ! मीरा ने श्री गिरधरलालजी की मूर्ति के पास दीपक जला दिया है और अगर की सुगन्धि से सारा कमरा गमगमा रहा है । मीरा ने पहले हृदयेश्वर के मस्तक पर रोली लगायी और फिर वही प्रसाद अपने सिर-आँखों से लगाया । आज वह नववधू के रूप में सजी हुई है । वह एकटक अपने प्राणाधार को देख रही है । देखते-देखते क्या देखती है कि उस मूर्ति में से उसके हृदयेश्वर निकलते हैं, मन्द-मन्द मुसकाते हुए, मीरा का आलिङ्गन करने के लिये आगे बढ़ते हैं—मीरा प्रेम के इस अवहनीय भार को कैसे सँभालती ! मिलन की सुखधारा में बह चली । मीरा ने मिलने के लिए अपने मस्तक को आगे बढ़ाया; परन्तु सज्ञाहीन होकर वह गिर पड़ी, प्रभु के चरणों में गिर पड़ी । उसके सज्ञाहीन प्राणों ने अपने भीतर देवता के परम शीतल अथवा मधुर-मधुर स्पर्श का अनुभव किया । वह कोमल, पावन, दिव्य स्पर्श !! वह प्रगाढ़ मधुमय प्रणयालिङ्गन !

‘वह’ आया तो प्राण मिलन-सुख के भार को सह न सके और अब जब प्राणों में सज्ञा लौट आयी है तो उसका ही पता नहीं । आँखें खुली । मीरा के प्राण अब भी स्पर्श के आनन्द में बेसुध थे ! आँसुओं में सनी हुई वेदना-विगलित वाणी कुछ अस्पष्ट, कुछ अस्फुट स्वयं निकल रही थी ‘...आह ! एक क्षण और ठहर जाते ! कई जन्मों से तुम्हें ढूँढता आ रहा हूँ । प्राणों का दीप जलाकर ससार का कोना-कोना छान आया । तुम्हारा पता किसी ने नहीं बताया । आज बड़ी दया की । ओह ! वह छवि !

निपट बंकट छवि अटके

मेरे नेना निपट बंकट छवि अटके

देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके ।

बारिज भवौ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके ॥

टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके ।

मीरा प्रभु के रूप लुभानी, गिरधर नागर नट के ॥

आह ! भर आँख अभी तो देख भी नहीं पायी थी । कहाँ छिप गये, कौन छिप गये ? तुम्हारा वह मन्द-मन्द मुसकाना... वे बड़ी-बड़ी पागल

बनानेवाली आँख, वह केसर-तिलक, लहराती हुई अलकावली और उसपर तिरछा बाका मोर-मुकुट ! आह ! यदि ऐसे ही छिपना था तो छिपे ही रहते ! इस प्र ॥ तरसाकर प्राणों को तडपाने की यह कौन-सी विधि सोच रखी है ! जीवनधन ! आओ, मैं तुम्हें प्राणों के भीतर छिपा लूँ—

मैं अपने संया संग साँची ।

अब काहे की लाज सजना परगट हूँ नाँची ॥

अचानक दरवाजे फट पड़ और राणा विक्रमाजीत नगी तलवार लिये, क्रोध में तमतमाये भीतर घुस आये ! उन्होंने देखा कि श्रीगिरधरलाल जी की मूर्ति के सामने मीरा हाथ जोड़े अर्द्धमूर्छित दशा में बैठी हुई है और आँखों से आँसुओं की धारा चल रही है । उसने क्रोध में पागल होकर मीरा का हाथ खींचा और क्रोधस्फीत शब्दों में कहा—‘कहाँ है तेरा प्रेमी जिसके साथ तू रातो जागा करती है ? अभी मैं उसका सिर घड से अलग किये देता हूँ ।’ मीरा भावमग्न हो रही थी । उसने अँगुली से श्री गिरधरलालजी की मूर्ति की ओर सकेत किया । परन्तु राणा के लिये तो वह बस एक पत्थर की मूर्ति थी । क्रोध में मनुष्य शंतान हो जाता है । उसे उचित अनुचित का विवेक नहीं रहता । विक्रमाजीत को मीरा को बातों का विश्वास नहीं हुआ । उसने फिर सिंह की तरह गरजते हुए कहा—‘अभी ठीक-ठीक बता, तू किससे बात कर रही थी ? नहीं तो आज तेरे ही रक्त से इस तलवार की प्यास बुझाऊँगा । मीरा डरती क्यों ? जिसे परमात्मा का बल प्राप्त है ससार उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता । मीरा ने दृढतापूर्वक कहा—सच मानो, यही है मेरा चित्तचोर प्राणधन । इसीके चरणों में मैंने अपने को निछावर कर दिया है...अभी देखो, देखो खड़े-खड़े मुमका रहा है । एक क्षण भी तो नहीं हुआ वह आया था । अह ! वह रूप ! उसने मुझे अपने आलिङ्गन पाश में बाँधने के लिये ज्यों ही बाँहें बढ़ायीं, त्यों ही मैं अभागिनी... उफ् ! मत पूछो ! उस अपरूप रूप को देखते ही मेरी आँखें झँप गयीं—मैं सज़ाहीन होकर गिर पड़ी । वह धीरे-धीरे मुरली बजाकर मेरे प्राणों में गा रहा था । अह ! वह शीतल स्पर्श ! वह जगत् का स्वामी अनादि काल से चित्त चुराता आया है और यही उसकी बान पड़ गयी है । उसने प्रेमस्वरूपा गोपियों का हृदय चुराया ! इतने से ही उसका जी न भरा ! वे जब स्नान कर रही थी, उसने उनके वस्त्र भी चुरा लिये । मैं तो अपने प्राण उसके हाथों सौंप चुकी ! वह भल्ल

इसे क्यों लौटाने लगा ! देखो ! देखो ! वह अपनी शरारत पर स्वयं मुसका रहा है । देखो, देखो, वह सलोनी साँवरी सूरत देखो ! प्राण, मेरे पागल प्राण ! आओ, आओ, आवरण हटाकर आओ ! ससगर में मेरा तुम्हारे सिवा और है ही कौन ? आओ, प्राण ! मुझे अपने में डुबा लो, एक कर लो—

श्रीगिरधर आगे नाचूंगी

नाच-नाच पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूंगी ॥

लोक-लाज कुल की मरजादा यामें एक न राखूंगी ।

पिय के पलंगा जा पौढ़ंगी मीरा हरिरग राचूंगी ॥

घाते-घाते मीरा मूर्च्छित हो गयी । विक्रमाजीत किर्कतव्य-विमूढ़ हो गये । ऊदा और अन्य लडकियाँ जो कमरे में आयी थी, मीरा के इस दिव्य प्रेम को देखकर अवाक हो गयी । ऊदा मीरा के चरणों में गिरकर रोने लगी । अपने किये पर उसे बड़ी ग्लानि हुई ।

मीरा की भक्ति-सुरभि दिग् दिगन्तर में फैलने लगी और लोग उसके दर्शनों के लिए स्थान-स्थान से आने लगे । राजमहल में बराबर साधु-सन्तों की भीड़ देखकर विक्रमाजीत से सहा नहीं गया । मीरा को राज-पाट और लोक-लाज से क्या करना था ? वह सब कुछ छोड़-छाड़ कर वृन्दावन चली । वृन्दावन पहुँचकर मीरा का बस एक ही काम था—मन्दिरों में प्रभु की मूर्ति के सामने कीर्तन करना । प्रेम की इस पुतली को जो भी देखता, वही श्रद्धा और भक्ति से सिर झुका लेता । वृन्दावन में पहुँचकर मीरा को ऐसा लगा, मानो वह अपने 'घर' आ गयी है । वहाँ के एक-एक वृक्ष, लता-पत्ता से उसका पूर्व परिचय था । वृन्दावन तो उसके जन्म-जन्म के 'साथी' का देश था, ब्रज की माधुरी पर मुग्ध होकर मीरा ने अपने प्रेम-भरे उदगार प्रकट किये—

या ब्रज में कछू देखो री दोना ॥

ले मट्की सिर चली गुंजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छाना ।

बधि को नाम बिसरि गयो प्यारी 'ले लेहु री कोई श्याम सलोना' ॥

वृन्दावन की कुंजगलिन में आँख लगाय गयो मनमोहना ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुंदर श्याम सुघर रस लोना ।

वृन्दावन में मीरा के आनन्द का पारावार उमड़ आया । मीरा पैरों में घुघरू बाँधे हाथ में करताल ले और माँग में सिंदूर भरकर श्रीहरि की आरती के लिये चली । उस प्रेमदीवानी अल्हड़ तपस्विनी ने देखा, सामने

प्रभु की त्रिभुवन-मोहिनी मूर्ति मुसका रही है, वही मोरमुकुट, वही मुरली और वही पीताम्बर ! मीरा ने आरती की थाली में से रोली उठायी और प्यारे के मस्तक पर लगाने ही जा रही थी कि आँखें प्रेम से मुंद गयी, उनमें प्रेमाश्रु भर आये। वह देखती है कि आँसुओं की गङ्गा-यमुना में भी प्राणेश्वर की मूर्ति केलि कर रही है। हाथ की रोली हाथ में ही लिये रही—बड़ी विचित्र दशा है। आँखें बंद करती हैं तो हृदय के मन्दिर में हृदयधन विराज रहा है। आँखें खोलती हैं तो आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाये—सर्वत्र गोपाल-ही-गोपाल है। जकी ठगी-सी विमुग्ध खड़ी है, कुछ कहते नहीं बनता। कैसे आलिङ्गन करे, कैसे रोली लगाये !

कर्पूर का दीपक लेकर वह आरती करने चलती है—कठिनाई से एक चार वह दीपक की थाल घुमा पाती है कि उसकी दृष्टि प्रभु के मोरमुकुट पर अटक जाती है, दीपक की थाल लिये वह विमूढ़-सी खड़ी रहती है। प्रार्थना का दिव्य मधुर प्रवाह चल रहा है। वाणी गदगद है, नेत्र अश्रु-पूर्ण, हृदय हरिमय, प्राण-प्राण में रोम-रोम में श्रीकृष्ण छाये हुए है। समस्त विश्व केवल कृष्णरूप हो रहा है। कृष्ण के सिवा कुछ है ही नहीं—मीरा स्वयं कृष्ण हो रही है। उसे अपनी आँखों पर सहसा विश्वास नहीं होता। ऐसा भासता है मानो वह स्वप्नलोक में विचर रही है। प्रीतम के मिलन का जो आनन्द है वह शब्दों में लिखा नहीं जा सकता ! कोई कहना चाहे भी तो कैसे कहे ?

आधी रात हो रही है और मीरा की आरती का उपक्रम समाप्त नहीं हुआ। कभी वह आँसुओं में प्रीतम के पाँव पखारती है, कभी श्रीगिरधर-दालजी की मूर्ति को छाती से लगाकर उनकी आँखों पर अपने अधरो को रख देती है। कभी उनके चरणों को जोर से अपने हृदय में बाँध लेती है और कभी उपालम्भ के मीठे ताने सुनाती है—

स्याम म्हाँसो ऐंडो डोले हो ।

औरन सँ खेले धमार म्हासों मुखहुँ न बोले हो ।

× × ×

वह प्रेम क्या जो अधाना जाने ? वह भक्ति क्या जो समस्त विश्व को अपने प्रभु में लय न कर दे; वह साधना क्या जो ससार के इस सघन पटल को हटाकर अपने प्राणेश्वर को प्रतिपल अखण्ड रूप से न देखे ! वह भक्त क्या, जो सर्वत्र और सर्वदा केवल अपने उपास्य देव को न देखे ? बीच का

पर्दा हटा देने पर रह ही क्या जाता है । ससार कहता है मैं बना रहूँगा; भक्त कहता है मैं तुम्हें मिटा कर ही छोड़ूँगा, और जीत भी भक्त की होती है । कितनी सुन्दरता से भक्त इस ससार को मिटाता है । वह ससार से द्वन्द्व नहीं छेड़ता, वह जगत् से लड़ने नहीं जाता । वह तो अपने भीतर प्रवेश कर, अपने अन्तर का पट हटा कर अपने 'प्रीतम' की झाँकी पा लेता है । वह झाँकी उसकी अपने आँखों में, उसके रोम-रोम में उतर आती है, अब वह इन आँखों से जो कुछ देखता है सब केवल कृष्ण-ही-कृष्ण होता है । यह संसार उसके सम्मुख 'ससार' नहीं रह जाता । यह तो प्रभु का मञ्जुलमय परम मनोहर दिव्य विग्रह हो जाता है । जगत् जब सर्वत्र प्रभुमय हो गया, तो इसका अपना आकर्षण अपना सम्मोहन कैसा ? इसीलिसे कहा जाता है कि भक्त के सामने ससार का जादू नहीं चलता ।

आधी रात हो रही है और मीरा पूजा में सलग्न है । बाहर का द्वार बंद है । दीपक जल रहा है । साँवरे की मूर्ति सामने बिहस रही है । नक़्क़ावधू की भाँति मीरा ने लाल रेशमी साड़ी पहन ली है और माँग में सिद्धार भर लिया है । हाथों में करताल हैं और पैरों में धुँघरू । प्रेम-विमोर होकर मीरा नाच रही है—

मीरा नाची रे,

पग धुँघरू बाँध मीरा नाची रे ।

मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गयी दासी रे ॥

सकीर्तन की इस धुन में समस्त विश्व लय हो रहा है । मीरा के धुधरू और करताल माधव के नूपुर और मुरली में मिलकर एक अपूर्व मादक सङ्गीत की सृष्टि कर रहे हैं । मीरा नाच रही है और इस पगली भक्तितन के साथ श्यामसुंदर भी नाच रहे हैं । मीरा की बद आँखें हरि के रूप-रस का पान कर रही हैं, हृदय कृष्ण के चरणों में लोट रहा है । प्राणों की झङ्कार नूपुर की खनखन में लय हो रही है । रोम-रोम से हरि-हरि ।। इस समय ससार नहीं है । इस विराट रास में केवल कृष्ण-ही-कृष्ण है । फिर इसमें 'लोग कहे बिगड़ी' की क्या चिन्ता ? अपने प्राणाधार से क्या लज्जा, क्या दुराव, क्या पर्दा ? उससे क्या छिपाना जो हृदय का अधीश्वर है, प्राणों का पति है, जीवन का सर्वस्व है ? वहाँ तो सर्वशून्य होकर, निरावरण होकर हृदय का पुष्प सर्वतोभावेन प्रभु के चरणों में समर्पित करना होता

हैं। जो हृदय के भीतर बस रहा है उससे क्या छिपाया जाय ! श्रीकृष्णार्पण इसी को कहते हैं। ढाई अक्षर प्रेम का यही है।

प्रेम की चोट बड़ी करारी होती है। वही इसे जानता है जिसका हृदय प्रेम के वाणों से बिघा हो। शब्दों में इसका वर्णन कोई करना भी चाहे तो क्या करे। आशा और प्रतीक्षा—प्रेमियों के हिस्से ये ही पड़ी हैं। मिलन की आशा और प्राणाधार की प्रतीक्षा। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमाधार पूर्णतः पकड़ में आ गया; परन्तु प्रेमास्पद की लुका-छिपी आह। कितनी आकर्षक, कितनी मधुर है। श्यामसुन्दर पर मीरा की लुभाई हुई दृष्टि जाती है—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।

रोम-रोम नख-सिख सब निरखत ललकि रहै ललचाय ॥

मे ठाढी घर आपणे री मोहन निकसे आय।

बदन चद परकासत हेली मंद-मद मुसकाय ॥

मे अपने आँगन में खड़ी थी। सामने से श्यामसुन्दर निकले। आँखें हठात् सनपर जा पड़ी, रोम-रोम उन्हें निहारने लगा। वह छवि हृदय को कितनी शीतल, कितनी मधुर प्रतीत होती है। हृदय में अमृत झरन लगा। उनके मुखचन्द की छुति और मन्द-मन्द मुसकान हृदय में बरबस घर किये लेती है। मीरा अपने भीतर यह दृढतापूर्वक अनुभव करती है कि उसने गिरधर-नालजी को पूरी तरह अपना लिया है, उन्हें मोल ले लिया है, वे अब मीरा के हृदय-देश में बन्दी हैं—

माई री मे तो गोविंदो लीनो मोल।

कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लीनो री बजंता डोल ॥

मैंने डक की चोट गोविन्द को मोल ले लिया। लोग चाहें जो कहें, मैंने तो उन्हें खूब देखा, अपना लिया—अपने हृदय के अन्दर कैद कर लिया ! मीरा की आँखों में, हृदय में, प्राण में, रोम-रोम में उस त्रिभुवन सुन्दर की मोहनी मूर्ति बसी हुई है।

ऐसे प्रीतम का एक बार पाकर फिर कैसे छोड़ा जाय ? आओ, इन्हें बाँध रखें और नैनो से इनका रूप-रस पीते रहें। जितने क्षण प्राण रहे, श्यामसुन्दर को सामने देखते रहें। इन्हें देखकर ही हम जियें। यदि उन्हें आँखों से अक्षल ही होना है, तो अच्छा है कि हमारे प्राण न रहें, हम न जियें। प्रीतम जिस वेष को धारण करने से मिले, वही

करना उचित है। वही वास्तव में बटभागिन है जिसका हृदय मदनमोहन पर निछावर हो चुका है।

In my eyes, in my heart
Thou art O Beloved
So much Thou art and so always,
That whatever I see looming in the distance
I think it is 'Thou coming to me.

प्रभु को भवन जितना ही अधिक पकड़ता जाता है, उतनी ही दृढ़ता उसमें आती जाती है और उतने ही अनन्य भाव से वह प्रभु का और प्रभु उसके होते जाते हैं। हृदय की बहुत ऊँची अनन्यशरणागति ही मीरा से कहला रही है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ॥
जाके सिर मोर-मृकुट मेरो पति सोई ।
तात मात भ्रात बधु आपनो न कोई ॥

एक बार भी यदि वह मूर्ति हृदय में उतर आयी और हृदय उसके रंग में रंग गया, तो फिर क्या कहना ! आँसुओं के जल से सींची हुई प्रेम की लता जब फूल उठी, तो उसमें फिर आनन्द के फल आने लगे। आनन्द के सिवा रह ही क्या गया ! अब तो एक क्षण के लिये भी उसे छोड़ते नहीं बनता—

पिया म्हारे नेणा आगे रहज्यो जी ।
नेणाँ आगे रहज्यो जी, म्हाँने भूल मत जाज्यो जी ॥

विरह ही प्रेम का प्राण है। मिलन में प्रेम सो जाना है विरह में जगा रहता है। विरह में सारी सृष्टि प्रेमपात्र की प्रतिमूर्ति बन जाती है। सब कुछ उसी 'एक' का सन्देश लानेवाला बन जाता है। मीरा का विरह अपने ढंग का अकेला ही है। अपने प्राणवल्लभ के लिये हृदय में अनुभव क हुई टीस को प्रेम लपेटे अटपटे छन्दों में गाकर अलख प्रेममाधिका मीरा ने अपने कल्याण-कलित हृदय को हल्का किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेमविह्वल साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का दुःख नहीं। इसी से पहले कह आया हूँ कि मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है, प्रेम की वेदी पर

सर्वस्व-समर्पण का एक दिव्य एवं मनोहारी सगीत है। शब्दों से उस दुःख को नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

में बिरहिण बंठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली ॥
 बिरहिण बंठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै ।
 एक बिरहिण हम ऐसी देखी असुवन की माला पोवै ॥
 तारा गिण गिण रंण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलके बिछुड़ न पावै ॥

अपनी दुर्बलता और प्रेम-पथ की कठिनाइयों की ओर जब ध्यान जाता है, तो कभी-कभी जी घबडा उठता है और निराशा-सी हो जाती है—

गली तो चारों बन्द हुई हरी सूँ मिलूँ कैसे जाय ।
 ऊँची-नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय ॥

इस निराशा में तो बस, प्रभु की दया का ही एकमात्र भरोसा है। वही दया कर उबारे तो उबरने की कुछ आशा है, नहीं तो.....!

सजन सुख ज्यों जानों त्यों लीजै ।
 तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै ।
 दिवस न भूख रैन नहिं निदिया यों तन पल-पल छीजै ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहीं दीजै ।

इन आँखों को भला कौन मनावे, हृदय को कौन समझावे? एक क्षण भी श्यामसुन्दर के बिना जीवन धारण किए रहना असम्भव है। ये प्राण तो हाय-हाय कर प्राणरमण के लिये तड़प रहे हैं—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी ॥
 बित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन झड़ी ।
 कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी ॥
 कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी ।
 मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी ॥

लोग बिगड़ी कहे अथवा बनी, इससे मीरा का क्या बनता-बिगड़ता है? वह तो गिरधर गोपाल के हाथों बेमोल बिक चुकी है। उसी की मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई है। कृष्ण ही उसका जीवन, कृष्ण ही उसका यौवन; कृष्ण ही उसका स्वर्ग, कृष्ण ही उसका अपवर्ग है। कृष्ण के सिवा उसके लिये लोक-परलोक कुछ है ही नहीं।

विरह की इस तीव्र वेदना के साथ मिलन की उत्सुक प्रतीक्षा तथा आकुल उत्कण्ठा भी बनी हुई है। प्रेम में विरह और मिलन लिपटे सोते हैं। रात का समय है। पानी बरस रहा है। मेघों ने श्रीकृष्ण को मीरा के घर में रोक रखा है। वे अब बाहर जाते भी तो कैसे? मीरा के घर में गिरधरलालजी बदी हैं। मीरा अपने 'प्राण' को पाकर परमानन्द में वेसुध है; वह भावावेश में गा उठती है—

नंदनंदन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई ॥

इत धन लरजे, उत धन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई ।

उमड़ घुमड़ चहुँ दिस से आया पवन चलै पुरवाई ॥

बादुर मोर पपीहा बोले कोयल सबद सुणवाई ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चित लाई ॥

वृन्दावन में बहुत समय तक रहकर मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्री रणछोड़ जी की मूर्ति के सामने कीर्तन किया करती। भक्तों की वही अपार भीड़ और मीरा का वही प्रेमोन्मत्त नृत्य और कीर्तन !! मीरा जब हाथ में करताल लेकर नाचने लगती उस समय समस्त प्रकृति रास के आनन्द में उन्मत्त होकर थिरकने लगती। मीरा तो कृष्ण की प्राणप्रिया सखी थी, चिर सगिनी सहेली थी—उसके प्रेयरस का पान करने के लिए वह प्रेम-भिखारी हरि स्वयं आते और मीरा के साथ-साथ समस्त भक्तमण्डली कृष्ण-मिलन के रस में, प्रभु मधुर आलिङ्गन-रस में सराबोर हो जाती।

आज मीरा का प्रयाण-दिवस है। आज प्रभु की यह प्रेम-पुतली अपनी आनन्द-लीला सवरण कर हरि में एकाकार होनेवाली है। आखिर यह द्वैत, यह अन्तर वह कब तक सहन करती ! आज रणछोड़जी का मन्दिर विशेष रूप से सजाया गया है। एक अपूर्व गभीरता का साम्राज्य है ! मीरा प्रेमानन्द में बेसुध है। आज उसकी तपस्या पूरी होनेवाली है। आज उसने पुनः नववधू का वेश धारण किया है। लाल रेशमी साड़ी पहन ली है। माँग में सिद्धर भर लिया है। पैरों में घुघरू बाँध लिया है। आज मीरा की जो प्रेम-सेज सजी है, उसकी सुन्दरता का क्या कहना। आज तो पिया की सेज पर जाकर मीरा अपने प्राणेश्वर के साथ पौढेगी। प्रीतम की अटारी पर आज मीरा सुख से सोयगी—

ऊँची अटरिया, लाल किवडिया, निगुण सेज बिछी ।

पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ।

बाजूबंद कडूला सोहै मांग सिद्धर भरी ।
 सुमिरण थाल हाथ में लोन्हा सोभा अधिक भली ॥
 सेज सुखमणा मीरा सोवै सुभ है आज घडी ॥

आज रणछोडजी के मन्दिर की एक अपूर्व छटा है । मीरा सज-धजकर आज महामिलन की तैयारी में आयी । आज उसके स्वर में एक दिव्य मादकता है । आज वह गाती है और धीरे-धीरे अपने को हरि में खोता जाती है । वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है और लोग उसके चरणों को छूने लगते हैं । सारा मन्दिर अचानक तेजोमय हो जाता है । मीरा उठती है और रणछोडजी का मूर्ति अपना हृदय खोलकर उसे अपने हृदय के अन्दर ले लेती है । मीरा माधव से मिलकर एक हो जाती है । भक्तमण्डली निर्निमेष दृष्टि से यह सब देखती रह जाती है । मीरा सदा के लिये हमारी स्थूल आँखों से ओझल होकर हमारे हृदयदेश की अधीश्वरी हो जाती है ।

तत्त्वतः जो राधा है वही मीरा है । वह 'सनातन नारी' का प्रतीक है । इसी लिए अब भी अन्तर्देश की रानी (The queen of the dark chamber) का एक ही स्वर है—

सुरतवर्धनं शोकनाशनम्

स्वर्गितवेणना सुधृच्छुम्बितम् ।

इतरागविस्मरणं नृणा

वितर वीर ! नस्तेऽधरामृतम् ।

उपसंहार

हमने सक्षेप में देख लिया कि भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रति में सबसे अधिक की परितुष्टि एव सतृप्ति श्रीकृष्ण में ही विशेष रूप से होती है। मधुर रति, जो सर्वोपरि है, केवल श्रीकृष्ण में ही परितृप्त होती है। अन्य उपास्य देवों में शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य के उपकरण हैं, परन्तु श्रीकृष्ण में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—पाँचों पूर्णतः प्रस्फुटित हुए हैं। कृष्ण में मोदर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, लावण्य एव मोहकता के सम्पूर्ण उपादान प्रस्तुत हैं। भगवान् राम के लिए हमारे हृदय में दास्य से होता हुआ कठिनाई से सख्य-भाव प्रतिष्ठापित हो सकता है। परन्तु श्रीकृष्ण में हम शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य से होते हुए मधुर भाव तक पहुँच जाते हैं और उन्हें अपना प्राण-वल्लभ 'पति' मानकर उनकी अनन्त भुवन-मोहनी छवि पर पत्नी भाव से अपने को समर्पित कर सकते हैं। इसके लिये श्रीकृष्ण-भक्ति में क्षेत्र खुला हुआ है।

हम पहले ही सनत्कुमार तत्र का वह श्लोक उद्धृत कर चुके हैं जिसमें साधक सिद्धदेह या भावदेह से गोपी-भाव या ब्रज भाव में अपने को परम रूपवती, यौवनसम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में भावना करता है। इस भावदेह में तनिक भी सभोग की वासना नहीं है। इसमें केवल सेवा-वासना है। जो शृङ्गार लोक में निन्दित माना जाता है वही भगवान् के साथ सम्बन्धित होने से परम दिव्य हो जाता है—वह स्वयं भगवान् का स्वरूप है, स्वयं आत्मा का धर्म है। वह इन्द्रियातीत है; धर्म-अर्थ-काम मोक्ष—इस चतुर्वर्ग से परे है, अतएव पंचम पुरुषार्थ है।

बृहदारण्यक उपनिषद् का 'स एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्' यथा स्त्री पुमासौ सपरिष्वक्ताौ स इमवात्मानद्विधापतयत्' से यह स्पष्ट है कि प्रेम

की प्यास उधर ही थी और उसकी परितृप्ति के लिए उसी प्रणय-लीला के लिए यह सारा पसारा हुआ। इसीलिए मैं ऊपर कह आया हूँ कि मधुर रति ही आत्मा का निज धर्म है, सहज स्थिति है। क्षेमराज ने एक बहुत प्राचीन उद्धरण इस सम्बन्ध का दिया है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।

मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनः ।

इस दाम्पत्य रति में भी स्वकीया की अपेक्षा परकीया का भाव श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि स्वकीया में तो मिलन में कोई कठिनाई या विघ्न-बाधा नहीं होती। प्रेम बाधा पाकर ही खिलता है और तभी इसमें 'दुस्त्यज स्वजनआर्यपथ' का परित्याग कर श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वात्म समर्पण का सौन्दर्य निखर आता है। स्मरण रहे यह प्रेम 'सर्वथा कामगघहीन' होता है, काम की गंध भी इसमें नहीं होती।

वैष्णव-धर्म के कान्त भाव से भक्ति करनेवालों का मुख्य रूप से यही सिद्धान्त है कि पूर्ण आनन्द-दायक आकर्षण सत्तायुक्त चिद्घन स्वरूप परम तत्त्व का नाम श्रीकृष्ण है। इस परम तत्त्व की ओर आकृष्ट चित्कण-स्वरूप जीव समुदाय की जो आकर्षण-क्रिया है उसीका नाम भक्ति है*। इसी भक्ति की परिभाषा श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-रसामृत सिंधु' में इस प्रकार दिया है—

अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञानकर्मछिनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् एक श्यामसुन्दर के अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक एवं पार-लौकिक विषयों की अभिलाषा से शून्य होकर, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत रहकर श्रीकृष्ण के अनुकूल उनकी सेवा करना उत्तमा भक्ति है। 'नारद-सूत्र' में भी इसी परम भक्ति का स्वरूप गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाली, अविच्छिन्न, अत्यन्त सूक्ष्म, और अनुभवरूप बतलाया गया है। परम भक्ति की सीमा का छोर 'प्रेम' में विलय हो जाता है। सब कुछ श्रीकृष्णमय, सर्व खल्विद श्रीकृष्णः। उस स्थिति को प्राप्त कर भक्त की

*कर्षति आत्मसात्करोति आनन्दत्वेन परिणमयति मनो भक्तानां इति यावत् स कृष्णः। 'गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षण वर्द्धमानं अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपं। तत्प्राप्य तदेव शृणोति तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति'—नारद-सूत्र।

सज्ञा प्रेमी की हो जाती है और भक्ति की परिणति प्रेम में हो जाती है । उस समय प्रेमी सब कुछ में श्रीकृष्ण को ही सुनता है, श्रीकृष्ण ही बोलता है और श्रीकृष्ण का ही चिंतन करता है । कृष्ण के अग-अग से छलकते हुए मधु को पीकर वह उन्मत्त हो उठता है । इस रस में रूप-माधुर्य के आधार-भूत श्रीकृष्ण ही एक मात्र विषयालंबन है और ब्रजांगनाएँ आश्रयालंबन हैं । इसमें वशीध्वनि, वसंत ऋतु, कोकिला-स्वर, नव जलधर और केकी-कठ इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं और कटाक्ष, हास्य, नृत्य आदि अनुभाव हैं ।

रसनिष्ठ साधक अपने ही अदर सारी लीला देखते हैं, ब्रजमण्डल, वशी-वट, यमुनापुलिन, राधारानी, श्रीकृष्ण आदि अपने ही अदर वे देखते हैं—

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोही में बसत सदा

जमुना तरंग स्याम रंग अबलीन की ।

चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,

कुजन में सुनियत गुंजन अलीन की ॥

बंशीवट-तट नटनागर नटत मो में

रास के विलास की मधुर धुनि बीन की ।

भरि रही भनक बनक ताल तानन की ॥

तनक तनक ता में खनक चुरीन की ॥

कान्त रति में पत्नी पति की सहचरी भी है, अनुचरी भी । सेज पर पति के परम प्रेम की रसास्वादिनी भी है, चरण चापनेवाली दासी भी । वह पति के अधरामृत की भी अधिकारिणी है और चरणामृत की भी । उसका समर्पण सर्वांगीन है । उसमें वह किसी प्रकार के प्रयास का अनुभव नहीं करती । समुद्र की अथाह जल-राशि में जाकर, जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम और रूप को लय कर देती हैं, अपने प्रवाह एवं लहर को अपने प्राणबल्लभ की अनन्त जल-राशि में डूबो देती हैं उसी प्रकार पत्नी भी पति की प्रीति में अपनी प्रीति को लय कर देती है । पत्नी के सभी भावों की पूर्ण परितृप्ति पति में हो जाती है । सम्मान, अति आदर, प्रीति, विरह तदीयता आदि के भाव पूर्णतः परितुष्ट होते हैं जिसे शांडिल्य ने अपने सूत्रों में विशद विवेचन के साथ प्रकट किया है* ।

*सम्मान, बहुमान प्रीति विरहेतर विचिकित्सा महिमाख्याति तदर्थं प्राण स्थान तदीयता, सर्वत्र तद्भावाप्राप्तिकृत्यादीनि च स्मरणेभ्योः बाहुल्यात् । सा परानुरक्तिरीश्वरे—शांडिल्य सूत्र ।

इसी परम भावनापूर्ण भक्ति को ही 'सा कर्मणि परम प्रेम रूपा' कहा है। शाङ्खिल्य ने स्पष्टतः कहा है कि ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही 'प्रेम' है। इस बात को प्रकट करने की आवश्यकता न रह गई कि इस परम प्रप-स्वरूपा भक्ति में केवल मोक्ष आदि की और कभी ध्यान भी नहीं जाता। वह तो 'रात दिन चोखे चोख बसिया समाई देखे' अपने अन्तस् में 'उसके' पावन, मधुर, शीतल, सुखद विद्युत-स्पर्श का अनुभव करता है। इस आत्म समर्पण के आनन्द के सम्मुख मोक्ष का आकर्षण कैसा ?—

‘यदि भवति मुकुंदे भक्तिरानन्दसान्ना

विलुठति चरणाग्रे मोक्ष-साम्राज्य लक्ष्मीः ।’

परन्तु शाश्वत प्रेम की यह अनुभूति विरह में उद्दीप्त एवं जागृत रहती है। मिलन इसके आनन्द को हलका और धुँधला कर देता है। विरह के क्षीने पट से छन-छन कर आती हुई मिलन की सुषमा को हमारा हृदय प्रत्यक्ष अनुभव करता है। महामिलन की उत्सुकता और विरह की वेदना दोनों हमारे हृदय में लियटे सोते हैं —बड़ी विचित्र स्थिति है—

बाहिरे विष ज्वाला हय, भितरे आनन्दमय

कृष्ण-प्रेमार अद्भुत चरितामृत ।

एई प्रेमार् आस्वादन तप्त इक्षुचर्बण

मुख ज्वले ना पाय त्यजन ॥

सेई प्रेमार् मने, तार विक्रम सेई जाने

विषामृते एकत्र मिलन ।

बाहर तो विष की ज्वाला है और भीतर आनन्द मय है। यह आस्वा-
दन तो गरम गन्ना चूसने की भाँति है। मुख जलता है परन्तु छोड़ने का जी
नहीं चाहता। जिसके हृदय में यह प्रेम होता है वही उसका महत्व जानता
है। इसमें विष और अमृत का अपूर्व मिलन है।

जायसी ने भी कहा है कि विरह की आग में जलते तपते रहते भी
बाहर आन का जी नहीं चाहता—

लागिऊ जरे, जरे जस भारू,

फिरि फिरि भूँजेसि तजिऊँ न बारू ।

वह मुझे विरह की आग में जला रहा है फिर भी यह यत्रणा इतनी
सुखद है कि बार-बार इसी में हृदय लौट पड़ता है, विमुक्त होना नहीं

चाहता । प्रेम की यह चिर जाग्रत ज्वाला जो विरह की धुधुआती अग्नि से प्रकट होकर गगनचुंबी लपटों में बल उठती है भवतो के प्रेम दीवाने हृदय का मुख्य आधार एवं अवलंब है । यह न जागति ही है न सुषुप्ति ही, न सुख ही है न दुःख ही । अपनी एक निराली अवस्था^१ जिसका कोई नाम नहीं । स्वप्न में बस एक बार मीरा ने अपने अघरो पर 'उसके' चुंबन का स्पर्श अनुभव किया था, फिर जब वह उस दिव्य स्पर्श-सुख से जगी तो 'वह' छलिया गायब ।

सोबत हो पलका में मैं तो पलक लगी पल में पीव आए ।
मैं जो उठी प्रभु आदर देंग कूं जाग परी पिव दूँ न पाए ।
और सखी पिव सोइ गमाये, मैं जू सखी पिव जागि गमाए ।

‘प्रसाद’ जी के शब्दों में मीरा की बस एकही ‘शिकायत’ है—

दुःख क्या था तुम को मेरा जो सुख लेकर यों भागे ।
सोते में चुंबन लेकर जब रोम तनिक सा जागे ।’

प्रेमी अभी अपने प्राणवल्लभ से मिलने ही वाला था, स्वप्न में ‘उस’ के चुंबन को प्रेमी ने अपने अघरो पर अनुभव भी कर लिया था आँखें खोलकर, एकबार, बस एक बार अपनी भुजलताओं में बाँधने ही चला था कि वह ‘छलिया’ खिसक गया और उस अलङ्घ्य पागल प्रणय की जीवन पर्यन्त, अनन्त काल के लिये विरह के हाथ मौपकर ‘अदृश्य’ में अन्तर्धान हो गया । यह अनन्त विरह ही उस ‘न मिलनेवाले’ से मिलने की उत्सुकता है, जीवन का यह सम्पूर्ण अनुराग ही जो एकोन्मुख होकर प्राण-वल्लभ के लिए तड़प रहा है, घुट रहा है, मीरा के दद भरे आर्द्र गीतों का प्राण है । विरह की एक-एक सिहरन में एक-एक आह में, जीवन की अतृप्त आकांक्षा, प्राणों की अधूरी लालसा अपने समर्पण की अन्तिम घड़ियों में निर्वाण पाती हुई भी एक विचित्र आभा, एक अपूर्व ज्योति का आलोक इस वसुन्धरा में छिटका जाती है । दीपक की लौ पर शलभ के जलते समय एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है । वशी की तान पर मुग्ध मृग अपनी मृत्यु में भी अमरत्व पान कर लेता है । कमल में बद भ्रमर के प्राण जब घुटने लगते हैं उस समय भी उसका प्रणय-संगीत छिड़ा रहता है, आनन्द-प्रवाह चलता रहता है । मृत्यु प्रेम के स्रोत को बाँध नहीं सकती, रोक नहीं सकती । प्रेम परमात्मा की भाँति अमर है ।

काव्य और प्रेम दोनों नारी-हृदय की सम्पत्ति है। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुतः नारी का हृदय ही है। प्रेम एव काव्य-सवेदन अनुभूति के अगज है। नारी-हृदय सवेदन-शील, भाव-प्रवण होता है। नारी पुरुष की अपेक्षा, स्वभावतः, जन्मतः विशेष कोमल-हृदय होती है। वह प्रेम की वेदना को पूरी तरह अनुभव कर सकती है। वह प्रेम में तिल-तिलकर जलना जानती है। पुरुष का चिन्तन-शील ज्ञानाश्रित जीवन प्रेम एव काव्य की तह में पूर्णतः प्रवेश नहीं कर पाता। पुरुष विजय का भूखा होता है, नारी समर्पण की। पुरुष लूटना चाहता है, स्त्री लुट जाना। पुरुष में जिगीषा है, स्त्री में बलिदान। नारी-हृदय पुरुष से अधिक सुसंस्कृत, सम्य, कोमल, भाव-प्रवण, सवेदन-शील एवं अनुभूतिशील होता है। इसी हेतु व्यक्ति का 'स्त्रीत्व' ही कविता और प्रेम का अधिकारी है। प्रत्येक पुरुष में स्त्री और प्रत्येक स्त्री में पुरुष रहता है। पुरुष का हृदय जब आर्द्र और भावुक होता है उस समय वह प्रेम एव कविता का आस्वादन करता है और उस समय वह 'स्त्री' रहता है।

इस प्रकार मीरा का हृदय इस परम प्रेम की आनन्दानुभूति के लिये सर्वथा उपयुक्त था। वह नारी थी ही, साथ ही प्रेम की आराधना करने-वाली भाव-प्रवण सनातन नारी; वह नारी जो युग-युग से, जन्म जन्मान्तर से परम पुरुष के प्रेमालिंगन का सुख पा 'उसे' सर्वथा अपनाने के लिए व्याकुल चलती चली आ रही है। वह कभी भी पूरी तरह 'उसे' पा सकेगी यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि यहाँ तो खोजना और खोजते ही जाना, खोज में ही खो जाना इस पथ के पथिकों का एकमात्र पार्थेय है। ससार के सभी बन्धन स्वयं ही कट जाते हैं। वस्तुतः यह तो प्रवृत्ति का मार्ग है, सचमुच 'खाला का घर' है। इस प्रवृत्ति-पथ में 'सब जग सियाराम मय' हो जाता है। सारे नाते 'सर्वभूतमय हरि' से ओतप्रोत हो जाते हैं। सब कुछ 'प्रीतम' का सदेश-वाहक, सभी कुछ 'पिय' का सकेत लिये हुए। वह पहचानी हुई 'पग-ध्वनि' बराबर सुनाई पड़ती है और साधक कह देता है—'चाहे तुम न मिलो पर तेरी आहट मिलती रहें सदा'। यहाँ सभी मनोराग श्रीकृष्णोन्मुख हो जाते हैं। इसीलिए यहाँ असाधन ही परम साधन है।

हाँ, तो मीरा के लिए, केवल मीरा के लिए ही इस 'परम भाव' का मार्ग राजपथ-सा खुला रहा, न कोई बाधा थी न व्यवधान। मीरा ने

‘उच्चे हृदय से ‘मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई’ कहा। ‘तुम बिन मेरो और न कोई’ कहकर मीरा अपने गिरिधर गोपाल के चरणों में गिरी और उसके ही हृदय में ‘पिया बिना रह्योइ न जाय’ की तीव्र वेदना को पूरी तरह अनुभव किया। हृदय की इसी मूल प्रेरणा से ही ‘साजि सिंगार बाँधि मग धुँधरू लोक-लाज तजि नाची’। फिर भी इस अल्हड़ प्रेम-तपस्विनी का रोना ‘पिय बिना सुनौ छै जी म्हारो देस’ आजीवन बना ही रहा। इसीको मानव के हृदय पर परमात्मा का चुबन ‘Divine kiss on human breast’ कहते हैं। मीरा के गीत गीत के लिए नहीं हैं। वह गाती है क्योंकि गाये बिना उसे रहा नहीं जाता। इन गीतों में वेदना का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। इन गीतों में बहते हुए प्रेम के स्वच्छ सोते में एक बार अवगाहन कर लेनेवाले प्रेम के अमृत का पान कर कुछ पागल से हो जाते हैं। उस प्रेम के मधुर आकर्षण के सम्मुख कुल-कानि या लोक-लाज की क्या हस्ती ?

मीरा की तुलना किससे की जाय ? जायसौ कथाच्छलेन, अपने रहस्योन्मुख प्रेम पर कहानी की एक झीनी चादर डाल कर अपने ‘प्रेम की पीर’ को प्रकट कर रहे हैं। सूर के हाथ में गोपियाँ हैं। भवभूति के हाथ में नीता है, कालिदास के हाथ में शकुन्तला। मीरा का किसी कवि से मिलान करना मीरा के परम प्रेम का अनादर करना है। मीरा कवि के रूप में, गायक के रूप में हमारे सम्मुख नहीं आती, श्रीकृष्ण की परम साध्वी अतरगिनी सखी के रूप में, प्राणप्रिया हृदयेश्वरी के रूप में आती है।

मीरा की तुलना केवल राधा से ही की जा सकती है, केवल राधा से। परन्तु राधा ने तो रास का रस पाया था। उसे तो श्यामसुन्दर का आलिंगन एवं परिभन का अमृत मिला था। राधा को तो नटनागर के चले जाने पर ऊदव के भी दर्शन हुए। परन्तु मीरा ? इस परम तपस्विनी अल्हड़ साधिका के अंधरो पर स्वप्न में उस ‘निठुर’ ने अपने एक चुबन की मधुघार ढाली थी। चुबन की उस अमर सिहरन और कसकाले दाग को ही मीरा ने परम विभूति मानकर, उसका पावन ‘प्रसाद’ मानकर अपने जीवन को प्रेम के पारावार में घुला दिया, लय कर दिया। स्वप्न के बाद जो जागृति आई उसमें अवधिहीन, अनन्त विरह की दारुण अथवा मधुर ज्वाला हृदय में आमरण धधकती रही। उसमें मनुष्य की निर्वासित आत्मा का अपने प्रभु से मिलने के लिये आकुल उच्छ्वास एवं अनन्त विरह का दिव्य सकेत है।

ग्रीस देश में ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी में सैफो (Sappho) नाम की ऐसी ही प्रेम-पुजारिन हुई। इसी प्रकार सेन्ट टेरेसा (St. Teresa) प्रसिद्ध ईसाई भक्तिन हो गई हैं। दक्षिण भारत के आळवार भक्तों में गोदा भी प्रेम की एक मधुमाती गायिका हो गई हैं। मीरा, गोदा, टेरेसा, सैफो और रबिया प्रेम-साधना के चिर जागृत प्रदीप हैं जिनकी प्रभव-ज्योति ने भक्ति का पथ अब भी जगमगा रहा है।

भारतवर्ष का अणु-अणु राधा और मीरा की प्रीति से रससिक्त है। अब भी भक्ति और प्रेम में अनन्यता तथा सर्वात्म श्रीकृष्णार्पण की जहाँ चर्चा होती है वहाँ बड़े ही उल्लास से मीरा का नाम लिया जाता है। मीरा प्रेमियों में शिरोमणि है। जीव-जीव के हृदय-वृन्दावन में पैरों में धूँवर बाँधे, हाथ में करताल लिये प्रम-विह्वल नारी अनादि काल से व्याकुल गाती आ रही है—

हे री ! मैं तो प्रेम-विवाणी मोरा दरद न जाने कोय ।

सूली ऊपर सेज पिया की किस विध मिलषा होय ?

प्रेम साधना में शायद 'प्राप्ति' का कोई अर्थ नहीं ! विरह के आनन्द के समुख प्राप्ति में कौन सा आनन्द ? पाकर हम क्या करेंगे ? कहाँ रखेंगे ? हमारे भीतर मिलन की उत्कण्ठा बनी रहे, प्रेम की पीर बनी रहे, हमारी खोज चलती चले—इसके आगे फिर और चाहिये क्या ?

बनी रहे हिय मधुर वेदना

बहते रहें अश्रु-नर्मर ।

व्याकुल प्राण सदा तेरे—

दर्शन हित बने रहें नटवर !

सदा खोजता जाऊँ मैं

पर तू अनन्त में मिलना जा ।

आतुर आँखों से ओमल हो

मिलमिल सा तू हिलता जा ।

यों छक कर इस खोज ढूँढ़ से
 करने लगें कूच जब प्राण ।
 बिना प्रयास भाव-वैभव से
 गूँज उठे हिय-तन्त्री-तान !
 रिमरिम बजती पाँय पैजनी
 मुरली मधुर बजाते नाथ !
 आ हिय अँगन लगो नाचने
 हम भी नचैं तुम्हारे साथ !!

The bride of the soul must be patiently waiting before the divine bridegroom can visit her—but light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts, and to be united with Him in His consoling and all-absorbing embrace.

—*Eastern Light.*

विनय

[१]

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ॥
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।
तात मात भ्रात बधु अपना नहि कोई ।
छोड़ दई कुल की कानि क्या करिहं कोई ॥
चुनरी के किये टूक ओढ़ लीन लोई ।
मोती मूंगे उतार बनमाला पोई ॥
अँसुवन जल सीच सीच प्रेम बेलि बोई ।
अब तो बेल फल गई आनंद फल होई ॥
दूध की मथनिया, बड़े प्रेम से बिलोई ।
माखन जब काढ़ि लियो छाछ पिये कोई ॥
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई ।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही ॥

[१] इस पद मे 'ख्या करिहं कोई' तथा अगले पद मे 'होनी हो सो होई' में मीरा ने कितनी निर्भीकता के साथ इस जगत् को ललकारा है । आँसुओ के जल से सीची हुई प्रेम-बेलि लहलहा उठी और उसकी सुगंध चारों ओर फैल गयी है अब इसे छिपाया भी जाय तो कैसे ? इन पदो मे मीरा की अपूर्व निष्ठा एव एकान्त आश्रय स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त हुआ है ।

This love has affinity to honey which is sweet by itself makes other things sweet and flows of its own accord.

[२]

मेरे तो एक रामनाम दूसरो न कोई ।
दूसरो न कोई साधो सकल लोक जोई ॥
भाई छोड़्या बंधु छोड़्या छोड़्या सगा सोई ।
साध संग बैठ बैठ लोकलाज खोई ॥
भगत देख राजी हुइ जगत देख रोई ।
भगत सदा सीस पर राम हृदय होई ॥
दधि मथि घृत काढि लियो डार दई छोई ।
राणा विष का प्याला भेज्यो पीय मगन होई ॥
अब तो बात फैल पडी जाणे सब कोई ।
मीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई ॥

[३]

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ ।
झूठे धधो से मेरा फदा छुड़ाओ ॥
लुटे ही लेत विवेक का डेरा ।
बुधि बल यदपि कहूँ बहुतेरा ॥
हाय हाय कछु नाह बस मेरा ।
मरत हूँ दिबस प्रभु धाओ सबेरा ॥
धर्म उपदेश नितप्रति सुनती हूँ ।
मन कुचाल से भी डरती हूँ ॥
सदा साधु सेवा करती हूँ ।
सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ ॥
भक्ति मारग दासी को दिखलाओ ।
मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ ॥

[२] प्रिय के नाम का आश्रय प्रेम-साधना का एक मुख्य आधार है ।
हाँ, इस नाम में कोई तर्क या मक्तिलाभ आदि हेतु नहीं है । यह प्रिय का
प्रेममय स्मरण है, इसमें किसी प्रकार का 'हठयोग' नहीं है, यहाँ तो
संबन्ध-स्थापना के बाद प्रिय के रूप का ध्यान और उनके मधुर नाम की
स्फूर्ति हृदय के अन्त पुर में स्वतः हुआ करती है ।

[३] इस पद में खड़ी बोली का एक बहुत ही सुधरा रूप आता है ।
साधक जब प्रभु के पथ में चलता है तो उसे नाना प्रकार के विघ्नो और

[४]

मन रे परसि हरि के चरण ॥

सुभग शीतल कँवल कोमल त्रिविध-ज्वाला हरण ।

जिण चरण प्रह्लाद परसे इद्र पदवी धरण ॥

जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हें, राखि अपनी सरण ।

जिण चरण ब्रह्माड भेट्यो नखसिखाँ सीरी धरण ॥

जिण चरण प्रभु परसि लीने तरी गौतम धरण ।

जिण चरण कालीनाग नाथ्यो गोपलीला करण ॥

जिण चरण गोबर्द्धन धार्यो गर्व मधवा हरण ।

वासि मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरण ॥

बटमारों का सामना करना पड़ता है और कई बार वह अब हारा तब हारा सा हो जाता है । जगत के प्रलोभन बहुत दूर तक चलते हैं और अपनी मोहिनी माया से साधक को पथभ्रष्ट कर देना चाहते हैं । ऐसी ही लाचारी के क्षण में साधक भगवान् को पुकार उठता है और उसे पुकारते ही भगवदीय शक्ति उसकी सहायता में लग जाती है ।

There must be a total and sincere surrender, there must be an exclusive self-opening to the Divine power, there must be a constant integral choice of the Truth that is descending a constant and integral rejection of the falsehood of the mental, vital and physical powers and appearances that still rule the earth-nature. 'Mother,

[1] "Ind Go's love no virtue is uplifting no voice is degrading The generic impulses and desire bind man outwardly in social life and relationships but it is these which at the same time quicken contemplation Hence the passionate soul alone can be a true mystic and for him love, truth and beauty reveal themselves in man's daily relationships and concrete experiences with fellow-men.

—Theory and Art of Mysticism 238

भक्त पहले भगवान् के चरणामृत का ही पान करता है और फिर अवरामृत का अधिकारी होता है । भक्त की दृष्टि पहले भगवान् के चरणों पर ही जाती है और वह वहाँ अपने मन प्राण का शीतल मधुर आश्रय पाकर कृतकृत्य हो जाता है । मीरा के मन में श्रीकृष्ण की मोहिनी मूर्ति उर्ध्व आयी है, मीरा ध्यान-नेत्रों से एक टक उन सुभग, शीतल, कमल-कोमल तथा त्रिविध तापो को मिटा देनेवाले प्यारे प्यारे चरणों की शीतल स्निग्ध आभा को देख रही है और मन से कह रही है कि रे मन हरि के इन चरणों का स्पर्श कर । सहज ही मीरा को गौतमपत्नी अहल्या का स्मरण हो आता

[५]

सुण लीजो विनती मोरी में सरण गही प्रभु तोरी ॥
तुम (तो) पतित अनेक उधारे भवसागर से तारे ।
में सबका तो नाम न जानूँ कोई कीई नाम उचारे ॥
अबरीष सुवाभा नामा तुम पहुँचाये निज धमा ।
ध्रुव जी पाँच बरस को बालक तुम दरस दिये धनस्यामा ॥
धना भगत का खेत जमाया कविरा का बँल चराया ।
सबरी का जूठा फल खाया तुम काज किये मनभाया ॥
सदना श्री सेना नाई की तुम कोन्हा अपनाई ।
करमा की खिचड़ी खाई तुम गणिका पार लगाई ॥
मोरा प्रभु तुमरे रंगराती या जानत सब दुनियाई ॥

[६]

में तो थागी सरण परी रे रामा ज्यूँ तारे त्यूँ तार ।
अडमठ तीरथ भ्रम भ्रम आया मन नहिँ मानी हार ॥
या जग म कोई नहिँ अपना सुणियो श्रवण मुरार ।
मोरा दासी राम भरोसे जमका फदा निवार ॥

[७]

बसो मेरे नैनन में नंदलाल ॥
मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैना बने विसाल ।
अवर सुधा रस मुरली राजति उर बँजती साल ॥
छुद्र घटिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल ।
मोरा प्रभु सतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल ॥

हैं—अभिशाप की ज्वाला में जलती हुई शिला प्रभु के चरणों का स्पर्श पा कर जी उठी ! भगवान के चरणों की महिमा इस पद में एक ही स्थान पर बड़े ही सजीले शब्दों में बायी गयी है ।

[7] "Finding her delight and Strength in Him the soul gains the vigour and confidence which enable her easily to abandon all other affections It was necessary in her struggle with the attractive force of her sensual desires, not only to have this love for the Bridegroom, but also to be filled with a burning fervour full of anguish."

—St. John of the Cross.

[८]

थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ
 मैं हाजिर नाजिर कदकी खड़ी ॥
 साजनियो दुसमण होय बैठ्या
 सबने लगूँ कडी ।
 तुम बिन साजन कोई नहीं है ।
 डिगो नाव भरो समद झड़ी ॥
 दिन नहि चैन रेण नहि निदर ।
 सूखूँ खडी खडी ।
 बाण बिरह का लग्या हिये में
 भूलूँ न एक घडी ॥
 पत्थर की तो अहिल्या तारी
 बन के बीच पड़ी ।
 कहा बोझ मीरा में कहिए
 सौ पर एक घडी ॥

[९]

हरि तुम हरो जनकी भीर ॥
 द्रोपदी की लाज राखी तुम बढायो चीर ॥
 भक्त कारन रूप नरहरि धर्यो आप सरीर ।
 हरणाकुस मारि लीन्हों धर्यो नाहि न धीर ।

[8] "When God loves a man, He endows him with a bounty like that of the sea, a sympathy like that of the sun and a humility like that of the earth. No suffering can be too great, no devotion too high for the piercing insight and burning faith of a true love."

—*Bayazid Bastami.*

[9] When our lamp is lit we find the house of our being has many chambers and there are corridors there leading into the hearts of others and windows which open into eternity and we can hardly tell where our own being ends and another begins or if there is any end to our being. If we brood with love upon this myriad unity to let our mind pervade the whole wide world with heart of love we come more and more to permeate or to be pervaded by lives of others,

—*George Russel.*

बूड़तो गजराज राख्यौ कियो बाहर नीर ॥
दासि मीरा लाल गिरधर चरण कँवल पै सीर ।*

[१०]

अब मैं सरण तिहारी जी मोहि राखौ कृपानिधान ।
अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान ॥
जल डूबत गजराज उबारे गणिका चढी विमान ।
और अधम तारे बहुतेरे, भाखत संत सुजान ॥
कुबजा नीच भोलणी तारी, जाणै सकल जहान ॥
कहँ लग कहँ गिणत नहि आवैं थकि रहे वेद पुरान ।
मीरा दासी सरण तिहारी, सुनिये दोनो कान ॥

[११]

प्रभु जी मैं अरज कहूँ छूँ मेरो बड़ो लगाज्यो पार ॥
इण भव में मैं दुख बहु पायो संसा-सोग-निवार ।
अष्ट करम की तलब लगी है दूर करो दुख भार ॥
यो संसार सब बह्यो जात है लख चौरासी धार ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवागमन निवार ॥

[१२]

हरि बिन कूण गति मेरी ॥
तुम मेरे प्रतिकूल कहिये मैं रावरी चेरी ।
आदि अंत निज नाँव तेरो हीया मैं फेरी ॥
बेरि बेरि पुकारि कहूँ प्रभु आरति है तेरी ।
यो संसार विकार-सागर बीच मैं घेरी ॥
नाब फाटी प्रभु पालि बाँधो बूडत है बेरी ।
विरहणि पिब की बाट जोबैं राखि ल्यौ नेरी ।
दासि मीरा राम रदन है मैं सरण हूँ तेरी ॥

*पाठान्तर 'दुख जहाँ तहँ पीर'—अर्थात् जब जब भक्तों पर मीर पड़ती है तो भगवान का हृदय पीड़ा से बिकल हो जाता है और भक्त का दुःख भगवान से देखा नहीं जाता । सूरदास का 'हौ भक्तन के भक्त हमारे' पद मिलाइये ।

[१२] राखि ल्यौ नेरी—भगवान की सन्निधि ही भक्त का परम आनन्द है ।

[१३]

हमने सुणी छै हरि अधम उधारण ।
 अधम उधारण सब जग तारण, हमने सुणी छै० ॥
 गज की अरजि गरजि उठि धामो ।
 संकट पड़यो तब कष्ट निवारण ॥
 द्रुपदसुता को चीर बढ़ायो ।
 हूसासन को मान सद मारण ।
 प्रह्लाद की प्रतग्या राखी,
 हरणाकस नख उद्र विदारण ॥
 रिलि पतनी पर किरपा किन्हीं,
 बिप्र सुदामा की बिपति विदारण ।
 मीरा के प्रभु मो बंदी परि
 एती अबेरि भई किण कारण ॥

[१४]

हरि मोरे जीवन प्रान अवधार ।
 और आसिरो नाही तुम बिन तीनों लोक संसार ॥
 आप बिना मोहि कछु न सुहावें निरखाँ सब ससार ।
 मीरा कहें मैं दासि रावरी दीज्यौ मती बिसार ॥

[१३] इस पद की अन्तिम दो पक्तियों में 'बंदी' शब्द का अर्थ बन्दिनी भी हो सकता है और बदा (भवत, निजजन) का स्त्री वाचक भी । मीरा अपने को प्रभु की 'बन्दिनी' मानती है फिर भी दरसन में अबेर होते देख उसे सहसा गज, द्रुपदी, प्रह्लाद, अहल्या और सुदामा का स्मरण होता जाता है जिनमें प्रभु की कृपा साक्षात् प्रकट हुई थी फिर इनका नाम लेने के बाद मीरा अपने आप पूछती है—

मीरा के प्रभु मो बंदी पर

एती अबेर भई केहि कारण ?

(१४) Prayer in this wide sense is the very soul and essence of religion for religion is an intercourse, a relation entered into by a soul in distress with the mysterious power which it feels itself to depend. This intercourse with God is realized by prayer. Prayer is religion in act; that is, prayer is real

[१५]

रावलो विड़द सोहिं रुठा लागे, पीड़ित पराये प्राण ।
सगो स्वेही मेरी और न कोई, बंदी सकल जहान ॥
प्राह गह्यो गजराज उबारयो बूड़ न दियो छे जाव ।
मीरा दासी अरज करत है नहिं जी सहारो आन ॥

[१६]

हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को ।
मोर मुगट माथे तिलक बिराजै कुण्डल अलकाकारी को ।
अधर मधुर पर बंसी बजावै रीझ रिझावै राधा प्यारी को ।
यह छबि देख मगन भई मीरा मोहन गिरवरधारी को ।

[१७]

तनक हरि चितवौ हमरी ओर ।
हम चितवत तुम चितवत नाही दिल के बड़े कठोर ॥
मेरे आसा चितवनि तुमरो ओर न दूझी दोर ।
तुम से हम कूं एक हो जी हमसी लाख करोर ॥
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ अरज करत भयो भोर ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी देख्युं प्राण अकोर ॥

religion. Wherever this prayer rises and stirs the soul we have living religion.

The Varieties of Religious Experiences 464

[१६] 'रीझ रिझावै राधा प्यारी को'—आज सागर स्वयं नदी को रिझाने के लिए उमड़ पड़ा है । श्रीकृष्ण आज राधा के रूप पर मुग्ध होकर उन्हे रिझा रहे हैं, मना रहे हैं । यह मन्हार-लीला भक्तों का प्राण है जिनमें स्वयं भगवान् अपनी सारी भगवत्ता छोड़कर भक्त के चरण में छोटते हैं और मनाते हैं । मालूम होता है, दुन्दावन आ जाने के बाद मीरा अपने को राधारानी से अलग न पा सकी, राधा-रूप हो गयी, यह देख रही है कि प्यारे ने जो आज इतना सुन्दर श्रृंगार किया है वह केवल मुझे रिझाने के लिए ही, बलात् अपने प्यार का मधु पिलाने के लिए ही ।

[17] She feels an extraordinary loneliness, finds no companionship in any earthly creature; nor could she I believe among those who dwell in heaven, since they are not her Beloved.

[१८]

राम मोरी बाँहड़ली जी गहो ।
 या भव सागर मँझधार में थें ही निभावण हो ॥
 म्हा में औगण घणा छे ही प्रभुजो थें ही सहो तो सहो ।
 मोरा के प्रभु हरि अविनासी लाज विरद को बहो ॥

[१९]

तुम सुणो दयाल म्हॉरी अरजी ।
 भव सागर में बही जात हूँ काढो तो थारी मरजी ।
 इण ससार सगो नहि कोई साँचा सगा रघुबर जी ॥
 मात पिता और कुटुम कबीलो सब मतलब के गरजी ।
 मोरा की प्रभु अरजी सुणलो चरण लगावो थारी मरजी ॥

[२०]

मेरो मन बसिगो गिरधर लाल सों ।
 मोर मुकुट पीताम्बर हो गल बँजंती माल ॥
 गउवन के सँग डोलत हो जसुमति को लाल ।

Meanwhile all company is torture to her. She is like a person suspended in mid air who can neither touch the earth, nor mount to heaven. She burns with a consuming thirst and cannot reach the water. And this is a thirst which cannot be borne, one which nothing will quench nor would she have it quenched with any other water than the one that is denied her."

—St. Teresa

[१८] सभी अवगुण गुण नहि कोई ।
 क्यो करि कत मिलावा होई ॥
 ना मैं रूप न बके नंना ।
 ना कुछ ढंग न मीठे वैया ॥
 सहज सिंगार कामिनि करि आवैं ।
 ता सुहागिनि जा कत भावैं ॥

—नानक

मन परतीत न प्रेम रस ना इस तन में ढग ।
 क्या जानूँ उस पीवसूँ कैसे रहसी रग ॥

—कबीर

कार्लिंड़ी के तीर हो कान्हा गडवाँ चराय ॥
 सीतल कदम की छहियाँ हो मुरली बजाय ॥
 जसुमति के दुवरवा हो ग्वालिन सब जाय ॥
 बरजहु आपन दुलरुवा हो हमसो अरुझाय ॥
 वृन्दावन क्रीड़ा करे हो गोपिन के साथ ॥
 सुर नर मुनि मन मोहे हो ठाकुर जदुनाथ ॥
 इद्र कोप घन बरखो मूसल जलधार ॥
 बूडत ब्रज को राखे हो मोरे प्राण अधार ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर हो सुनिये चित लाय ॥
 तुम्हरे दरस की भूखी हो मोहि कछु न सुहाय ॥

[२१]

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज ।
 समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज ॥
 भव सागर ससार अपर बल जा में तुम हो जहाज ।
 निरधाराँ आधार जगत गुरु तुम बिन होय अकाज ॥
 जग जुग भीर हरी भगतन की दीनी मोक्ष समाज ।
 मीरा सरण गही चरणन की लाज राखो महाराज ॥

[२२]

म्हौने चाकर राखो जी ।

गिरधर लाल चाकर राखो जी ॥

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसन पासूँ ।
 बिद्राबन की कुज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ ॥
 चाकरी में दरसन पाऊँ सुमिरन पाऊँ खरची ।
 भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी ॥
 मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजती माला
 बिद्राबन में धेनु चरावै, मोहन मुरली बाला ॥
 हरे हरे नित बाग लगाऊँ, बिच-बिच राखूँ क्यारी ।*
 साँवरिया के दरसन पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारी ॥

, पाठान्तर* ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी ।

जोगी आया जोग करण कूं, तप करणे संन्यासी ।
हरी भजन कूं साधू आया, विद्रावन के वासी ॥
मीरा के प्रभु गहरि गभीरा * हृदे रहो धीरा ।
आधी रात प्रभु दरसन देंहैं, *प्रेमनदी के तीरा ॥

[२३]

प्यारे दरसन दीज्यो आय
तुम बिन रह्योइ न जाय ॥
जल बिन कमल चंद बिन रजनी
ऐसे तुम देख्यां बिन सजनी ।
आकुल व्याकुल फिरे रैन दिन
विरह कलेजो खाय ॥
दिवस न भूख नींद नहि रैना,
मुख तूं कहत न आव बैना ।
कहा कहूं कछु कहत न आवैं
मिलकर तपन बुझाय ॥
क्यूं तरसावो अतरजामी
आय मिलो किरपा करस्वामी ।
मीरा दासी जनम जनम की
पडी तुम्हारे पाय ॥

* सदा *यमुनाजी

[२२] अपने जीवनघन के साहचर्य-सुख के लिये, मीरा उनके बाग की मालिन बनने का अधिकार मांगती हैं जिसमें नित उठ दरसन का सुख मिला करे । यह दरसन ही उसकी मजूरी होगी भगवान् का स्मरण उसकी खर्ची होगी, और भाव भगति जागीर हांगी । 'जोगी आया -' आदि में योग और तप से भी बढ़ कर भजन की महिमा बतायी गयी है और भी साथ में वृन्दावन वास हो तो फिर क्या पूछना ?

अन्त में मीरा अपने हृदय को ढाढस देती हुई समझाती हैं, रे हृदय धैर्य रख अपने प्रेम की बाती जलाये रख आधी रात में जब चारो ओर सन्नाटा हो जायगा तब प्रेम रूपी यमुना के तट पर प्राणाधार श्रीकृष्ण तुम्हें मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे ।

[२३] 'क्यूं तरसावो अतरजामी'—

„Think not that God will be always caressing His children or shine upon their head or kindle their hearts as He does act

[२४]

पिया तेरे नाम लुभाणी हो ।
 नाम लेत तिरता सुण्या जैसे पाहन पाणी हो ॥
 सुकिरत कोई ना कियो, बहु करम कुमाणी हो ।
 गणिका कीर पढ़ावतां बंकुण्ठ बसाणी हो ॥
 अरघ नाम कुंजर लियो बाको अवध घटानी हो ।
 गहड़ छाँड़ि हरि वाइया, पसुजूण मिटाणी हो ॥
 अजामेल से ऊवरे जमनास नसानी हो ।
 पुत्र हेते पदवी बड़ जग सारे जाणी हो ॥
 नाम महातम गुरु दियो परतीत पिछाणी हो ।
 मीरा दासी रावली अपणी कर जाणी हो ॥

[२५]

म्हारे नैनां आगे रहो जी, स्याम गोविन्द ॥
 दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव को द्धान छबंद
 दास घना को खेत निपजायो गज की टेर सुनंद ॥
 भोलणी का बेर सुदामा का तंदुल भर मूठड़ी बुकब ।
 करमा बाइ को खीचड अरोग्यो होइ परसण पाबद ॥
 सहस गोप बिच स्याम बिराजे ज्यों तारा बिच चंद ।
 सब संतों का काज सुधारा मीरा सूँ दूर रहंद ॥

the first. He does so only to lure us to Himself as the falconer lures the falcion with its gay hood... .."

—Taular

[२४] "नाम महातम गुरु दियो" जाणी हो" श्री गुरुमुख से प्राप्त 'नाम' के द्वारा ही साधक के हृदय में भगवान् के लिए 'प्रतीति' होती है और इस प्रतीति में ही प्रीति हाती है, बिन परतीति प्रीति नहीं होइ। इस प्रीति के उदय होने हो साधक का भगवान् के साथ संबन्ध स्थापित हो जाता है और वह भगवान् का तथा भगवान् उसके हो जाते हैं ।

"In the emotional approaches to God the sense of a Divine presence is so strong that even the senses and desires are transmuted. The burden of sin is grievous; neither good deeds nor knowledge, neither yoga meditation nor asceticism can avail against it. Only by the water of faith and love is the interior stain effaced."

—Theory and Art of Mysticism

रूप-राग

[२६]

या मोहन के मै रूप लुभानी ।

सुंदर बदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मद मुसकानी ॥

जमुना के तीरे तीरे धेनु चरावै बंसी में गावै मीठी बानी ।

तन मन धन गिरधर पर वारुं चरण कवल मीरा लपटानी ॥

1२६। जिस रूप पर मीरा का हृदय लुभाया है वह जगत को लुभाने-वाला है । इस सुन्दर रूप पर इस बाँकी चितवन और मंद-मंद मुसकान पर कौन न लुट जान ? और फिर यमुना के तीर पर गायो को चराते-चराते वह वशी में मीठी बानी गाने लगता है—‘नामसमेत कृतसकेत बादयते मृदुवेणुम्’ । कैसे न मीरा इस सकेत भरी मुरली के स्वर को सुनकर अपना तन, मन और प्राण उस गिरधर नागर पर न्योछावर करके उन्हीं के सुभग शीतल कमल कोमल त्रिविज्ज्वालाहरण चरणों से लिपट जाय ?

[26]—[40] ‘Ravishing’ says Rolle, as it is showed in two ways is to be understood. One manner, forsooth. in which a man is ravished out of fleshly feeling, Another manner of ravishing there is that is lifting of mind into God by contemplation and this manner of ravishing is in all that are perfect lovers of God and in none of them but that love God’.

[२७]

निपट बंकट छवि अटके ॥
मेरे मैना निपट बंकट छवि अटके ।
देखत रूप मदन मोहन को पियत मयूखन मटके ॥
वारिज भवा अलरु टेढी करि मुरली टेढी पाग लर लटके ॥
मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ॥

[२८]

जब से मोहि नंदनदन दृष्टि पड्यो साई ।
तब से परलोक लोक कछू ना सोहाई ॥
मोरन की चद्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै ॥
कुडल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥
कुटिल भूकुटि तिलक भाल चितवन में टौना ।
खजन अरु मधुप मीन भूले मृगछौना ॥
सुंदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विसेखा ॥
अघर बिब अरुन नैन मधुर मंद हांसी ।
बसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी ॥
छुद्रघट किंकनी अनूप धुनि सोहाई ।
गिरधर के अंग अंग मीरा बलि जाई ॥

[२९]

श्री गिरधर आगे नाचूंगी ।
नाचि नाचि पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमी जनकूँ जाचूंगी ।
प्रेम प्रीति की बाँधि धूँधरू सुरत की कछनी काछूंगी ।

'Oh Wonder of wonders' cries Eckhart, when I think of the union the soul has with God ! He makes the enraptured soul to flee out of herself, for she is no more satisfied with any thing that can be named. The spring of Divine Love flows out of the soul and draws her out of herself into the unnamed Being into her first source which is God alone.

—Eckhart, 'On the steps of the soul.'

लोक लाज कुल की मरजादा या मैं एक न राखूंगी ।
पिव के पलगा जा पौढूंगी मीरा हरि रंग राखूंगी ।

[३०]

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहि आइ ।
रूम रूम नख सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाइ ।
मं ठाढ़ी ग्रिह आपणे री मोहन निकसे आइ ॥
वदन चद परकासत हेली मद मद मुसकाइ ।
लोक कुटुंबी बरजि बरजि रह्यो बतियाँ कहत बनाइ ॥
चचल निपट अटक नहि मानत परहथ गये बिकाइ ।
भली कहौ कोइ बुरी कहौ मैं, सब लई सीस चढ़ाइ ॥
मीरा कहे प्रभु गिरधर के बिन पलभर रह्यो न जाइ ॥

[३१]

आली री मेरे नैणां बाण पड़ी ।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी ।
कब की ठाढ़ी पथ निहाऊँ अपने भवन सड़ी ॥
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ जीवन मूर जड़ी ।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहे बिगड़ी ॥

[29] All things then I forgot,
My cheek on Him who for my coming came,
All ceased and I was not
Leaving my cares and shame
Among the lilies, and forgetting them.

—*St. John of the cross*

[३१] एक बार, बस एक बार उस 'साजन' के दर्शन क्षण भर के लिए हो पाये थे । वह 'माधुरी मूरत' आँखों की खिड़की से हृदय के अन्तःपुर में आ घुसी, उमे देखते ही लोक परलोक की सारी लाज और सारे सम्बन्ध पटा-पट टूट गए और मीरा उसके हाथ बिक गयी, अपना लोक परलोक सब कुछ उसके चरणों में निछावर कर दिया और अब लोग उसे 'बिगड़ी' कहते हैं, कहते रहें । भारतीय नारी के लिए लोक लाज की तिलौजली देना बहुत कठिन है; आर्यपथ का त्याग 'दुस्त्यज' कहा गया है इसी लिए भगवत्प्रेम के पथ में यह बहुत बड़ी बाधा, बहुत बड़े विघ्न के रूप में खड़ा रहता है ।

[६२]

मे तो म्हाँरा रसैया ने देखबो कहँरी ।
 तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण तेरो ही ध्यान धरँ रो ॥
 जहँ जहँ पाँव धरँ धरणी पर तहँ तहँ निरत कहँ रो ।
 भीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणाँ लिपट पहरँ रो ॥

[३३]

अस पिया जाण न दीजँ हो ।
 तन मन धन करि बारणें हिरदे धरि लीजँ हो ॥
 आव सखी मुख देखिये नैनाँ रस पीजँ हो ।
 जिह जिह बिधि रीझँ हरि सोई विधि कीजँ हो ।
 सुंदर स्याम सुहावणा देख्याँ जीजँ हो ।
 भीरा के प्रभु राम जी बड़ भागण रीझँ हो ॥

[32] In my heart Thou dwellest, else with blood, will drench it,
 In mine eye Thou glowest, else with tears I will quench it
 Only to be one with Thee my soul desireth—
 Else from out my body, I will wrench it.

—Abu Said

‘In the bridal chamber of Unity God celebrates the mystical marriage of the soul’

—The mystics of Islam

Jesus has come to take up his abode in my heart It is not so much a habitation, or an association as a sort of fusion. Oh new and blessed life, life which becomes each day more uminous, The wall before me darks few moments since, is splendid at this hour because the sun shines on it Wherever its rays fall they light up a conflagration of glory, the smallest speck of glass sparkles, each grain of sand emits fire, even so there is a royal song of triumph in my heart because the Lord is there... ..

Formerly the day was dulled by the absence of the Lord—Today he is with me I feel the pressure of his hand I feel some thing else which fills me with a serene joy, Shall I dare to speak it out? Yes for it is the true expression of what I experience. Thy Holy Spirit is not merely making me a visit, it is no more dazzling apparition which may from one moment to another spread its wings and leave me in my night It is a permanent habitation He can depart only if he takes me with him,

Quoted from the MS. ‘of an old man’ by
 Wilfred Monod.

[३४]

मैं तो साँवरे के रंग राँची ।

साजि सिंगार बाँधि पग धुंधर लोक लाज तजि नाची ॥
गई कुमति लई साधुकी सज्जति भगत रूप भई साँची ।
गाय गाय हरि के गुन निस दिन काल व्याल से बाँची ॥
उण बिन सब जग खारो लागत और बात सब काँची ।
मीरा श्री गिरधरन लाल सँ भगति रसोली जाँची ॥

[३५]

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।

गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ॥
रँग पड़ै तबहीं उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ ।
रँग दिना बाके संग खेलूँ ज्यूँ त्यों बाहि रिझाऊँ ॥
जो पहिराव सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ ॥
मेरी उनकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ ।
जित बैठे तितही बैठूँ बेचूँ तो बिक जाऊँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ ॥

[३६]

मैं गिरधर रंगराती सैयाँ, मैं गिरधर रंग राती ॥

पच रंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती ।
ओह झिरमिट मां मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती ॥
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेज पाती ।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहूँ आती जाती ॥

[३६] खोल मिली तन गाती—आवरण हटा कर, निरावरण होकर प्राणवल्लभ, हृदयरमण से मिली । 'मेरा पिया मेरे हीय बसत है' मैं कितनी निगूढ़ मधुर अनुभूति का संकेत है ।

If the soul were stripped of all her sheaths, God would be discovered all naked to her view and would give Himself to her all her withholding nothing As long as the soul has not thrown off veils, however thin she is unable to see God.

—*Meister Eckhart*

'Naked follow the naked Christ'.

'कुलशील लज्जाभय परिहरे समुदयः' ।

चंदा जायगा सूरज जायगा जायगी धरणि अकासी ।
 पवन पाणी दोनों हि जायेंगे अटल रहै अबिनासी ॥
 सुरत निरत का दिवलो सँजोले मनसा की करली बाती ।
 अगम घाणि को तेल बनायो बाल रही दिन राती ॥
 और सखी मद पी पी माती में बिन पीयाँ ही माती ।
 प्रेम भटो को में मद पीयो छकी फिरूँ दिन राती ॥
 जाऊँ न पीहर जाऊँ न सासर हरि सँ सँन लगाती ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणा चित लाती ॥

[३७]

में अपने सैयाँ संग साँची ।

अब काहे की लाज सजनी परगट हूँ नाची ।
 दिवस भूख न चैन कबहूँ नींद निसि नासी ।
 बेधि बार पार हूँगो ग्यान गुह गाँसी ॥
 कुल कुटुंबी आन बंटे मनहु मधुमासी ।
 दासि मीरा लाल गिरधर मिटो सब हाँसी ॥

[३६-३७] With thy sweet soul this soul of mine
 Hath mixed as water doth with wine,
 Who can the water and wine part
 Or me and Thee when are combined ?
 Thy love has pierced me through and through
 Its thrill with bone and nerve entwined
 I rest a flute laid on Thy lips,
 A lute, I on Thy breast recline.
 Breathe deep in me that I may sigh
 Yet strike my strings and tears shall shine.

—Jalalu'd Din, "The festival of spring."

[३७] जब साजन के साथ खुले रूप में नाचा ही तो अब लज्जा किस बात की, परवाह किसको ? हृदय में यह दृढ़ विश्वास है कि मैं अपने सैया के संग साँची हूँ, तब फिर किसी व्यक्ति या वस्तु का अपेक्षा क्यों हो ?

[३८]

कोई कछू कहे मन लागा ।
 ऐसी प्रीत लगी मनमोहन ज्यू सोना में सोहागा ।
 जनम जनम का सोया मनुआँ सतगुरु सब्द सुण जागा ॥
 मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गयो ज्यू तागा ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा ॥

[३९]

साईं री में तो लियो गोबिन्दो मोल ।
 कोई कहे छाने कोई कहं चुपके लियो री बजता डोल ॥
 कोई कहं महंगो कोई कहं सहंगो लियो री तराजू तोल ।
 कोई कहं कारो कोई कहं गोरो लियो री अमोलक मोल ॥
 कोई कहं घर में कोई कहं बन में राधा के संग किलोल ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेम के मोल ॥

[३८] 'ज्यो सोन॥ में सोहागा'—

Thy spirit is mingled in my spirit even as wine is mingled
 with pure water.
 When any thing touches Thee it touches me Lo, in every
 case Thou art I
 I am He whom I love, and He whom I love is I.
 We are two spirits dwelling in one body.
 If thou seest me, thou seest Him,
 And if thou seest Him, thou seest us both.

—*Mansur Hallaj*

[३९] प्रेमी अपने प्रियतम को कितनी दृढ़ता के साथ बाँध लेता है—
 इस भाव का इस पद में बड़ा ही भव्य एवं सुन्दर विन्यास हुआ है ।
 'छीन बजंता डोल' में कितनी मीठी गर्वोक्ति है !

Upon my flowery breast
 Wholly for Him and save Himself for none
 There did I give sweet rest
 To my Beloved One:
 The fanning of the cedars breathed thereon.
 All things I then forgot
 My cheek on Him who for my wooing came...
 All ceased and I was not
 Leaving my cares and shame
 Among the lilies and forgetting them.

—*St. John of the Cross*

[४०]

बड़े घर ताली लागी रे म्हारों मन रो उणारथ भागी रे ।
 छीलरिये म्हारो चित्त नहीं रे डाबरिये कुण जाव ।
 पंगव जमना सूं काम नहीं रे मै तो जाय मिलूं दरियाव ॥
 हाथ्यां मोल्यां सूं काम नहीं रे सीख नहीं सिरदार ।
 कामदारां सूं काम नहीं रे मै तो जाव कहूं दरबार ॥
 काच कथी सूं काम नहीं रे लोहा चढे सिर भार ।
 सेना रूपां सूं काम नहीं रे म्हारे हीना रो बौपार ॥
 भाग हमारो जागियो रे भयो समद सूं सीर ।
 इच्छित प्याला छांड़ि कै कुण पीप कड़बो नीर ॥
 पीषा कूं प्रभु परचो दोन्हो दिया रे सजीना पूर ।
 मीरा के प्रभु गिरघर नागर धनि मिल्या छे हजूर ॥

[४०] उणारथ = लालसा, कामना, सकल्प-विकल्प ।

गुरुकृपा और प्रीतिदान

[४१]

मोहि लागी लगन गुरु चरनन की ।

चरन बिना कछुबै नहि भावै जग माया सब सपनन की ॥

भव सागर सब सूखि गयो है फिकर नहीं मोहि तरनन की ।

मोरा के प्रभु गिरधर नागर आस वही गुरु सरनन की ॥

[४१-७०] जिस प्रकार पूर्ण योग का परम शास्त्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ वेद है उसी प्रकार इसके परम-पथ प्रदर्शक और गुरु वे ही अन्तर्यामी जगद्गुरु हैं जो हमारे अन्दर गुप्त रूप से विराजमान हैं । वे ही अपने भास्वर ज्ञानदीप से हमारे तम का नाश करते हैं । उनका जो मुक्त आनन्दमय, प्रेममय, सर्वशक्तिमय, अमृतस्वरूप है उसे वे क्रमशः हमारे अन्दर खोल कर दिखला देते हैं । साधक की प्रकृति के अंदर जो उँची से उँची शक्तियाँ और गतियाँ हो सकती हैं उन्हें सहज भाव से सुव्यवस्थित करना ही उनकी विधि है । गुरु मौन रह कर भी शिष्य के अन्दर वही चीज डालता रहता है जो वह स्वयं है और जो उसके अधिकार में है । गुरु भगवदीय दायित्व के निर्वाह में केवल एकमात्र भाजन और प्रतिनिधि मात्र है । वे अपने भाइयों के सहायक एक मनुष्य हैं, बच्चों को ले चलने वाले एक बालक हैं, अन्य दीपों को प्रज्वलित करने वाले एक दीप-ज्योति हैं, आत्माओं को जगाने वाले एक आत्मा हैं—अधिक से अधिक भगवान् की अन्य शक्तियों को अपने पास बुलानेवाली एक शक्ति या सत्ता है ।

—श्रीअरविन्द

[४२]

री मेरे पार निकस गया सतगुरु मार्या तीर ।
बिरह भाल लागी उर अंदर व्याकुल भया सरीर ॥
इत उत चित्त चलै नहि कबहुँ डारी प्रेम जंजीर ।
कं जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाणै पीर ॥
कहा कहुँ मेरो बस नहि सजनी नैन अरत दोउ नीर ।
मीरा कहै प्रभु तुम मिल्यां बिन प्राण घरत नहि घोर ॥

[४३]

भर सारी रे बानां मेरे सतगुरु बिरह लगाय के ।
पावन पंगा कानन बहिरा सूझत नहि न नैना ॥
खड़ी खड़ी रे पंथ निहाळै मरम न कोई जाना ।
सतगुरु ओषध ऐसी दीन्हीं रुम रुम भई चंना ॥
सतगुरु जस्या बंद न कोई पूछो बेव पुराना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर अमर लोक में रहता ॥

[४४]

मने नाम रतन धन पायी ।
बसत अमोलक दी मेरे सतगुरु करि किरपा अपनायो ॥
जनम जनम की पूँजी पाई जग में सबै सोचायो ।
खरचै नहि कोई चोर न लेबं दिन-दिन बढ़त सवायो ॥
सत्त की नाँव खेवटिया सतगुरु भवसागर तरि आयी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरखि हरखि जस गाथो ॥

[४४] श्री गुरुदेव के मुख से 'नाम' रतन की प्राप्ति होती है और वही नाम का मणि-दीप अन्तस को तेजोदीप्त करके भगवान् का साक्षात्कार करा देता है । नाम का रस ऐसा है कि जितना पिया जाय उतना ही और पीते रहने की इच्छा बढ़ती है । वह इच्छा परम मंगल-मयी है अमृतमयी है । 'हरख हरख जस गाथो' में कैसा दिव्य उल्लास है । 'स मोदते मोदनीय हि लब्धवा' । यह 'राम—खुमारी' भी क्या गजब की है ।

[४५]

लगी मोहि राम खुमारी हो ।
 रमझम बरसै मेहुड़ा भोजै तन सारी हो ।
 चहुँ विस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो ॥
 सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किवारी हो ॥
 सब घट दीसै आतमा सबहीं सूँ न्यारी हो ।
 दीपग जोऊँ ग्यान का चहुँ अगम अटारी हो ॥
 मीरा दासी राम की इसरत बलिहारी हो ॥

(४५) श्री गुरुदेव की कृपा और शिष्य की श्रद्धा—इन पवित्र धाराओं का सयम ही दीक्षा है । गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्मसमर्पण—एक की कृपा और दूसरे की श्रद्धा से ही सम्पन्न होता है । दान और क्षय यही दीक्षा का अर्थ है । ज्ञान, शक्ति, और सिद्धि का दान एवं अज्ञान, पाप और क्षरिद्रव्य का क्षय—इसी का नाम 'दीक्षा' है सभी साधकों के लिये यह दीक्षा अनिवार्य है । दीक्षा से ही शरीर की समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती हैं और देह-शुद्धि होने से देव-पूजा का अधिकार मिल जाता है ।

सामान्यतः दीक्षा के तीन भेद माने जाते हैं—शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री । मान्त्री दीक्षा ही 'रुद्रयमल' आदि ग्रन्थों में आषाढी के नाम से प्रसिद्ध है । शाक्ती दीक्षा में परम चेतना रूपा कुण्डलिनी ही शक्ति मानी जाती है । उसको जागरित करके ब्रह्म नाडी में से हो कर परम शिव में मिला देना ही शाक्ती दीक्षा है । इस दीक्षा में श्रीगुरुदेव ही शिष्य की अन्तर्देह में प्रवेश करके कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करते हैं और अपनी शक्ति से ही उसको मिला देते हैं । इसमें शिष्य को अपनी ओर से कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती ।

वायवीय संहिता में शाम्भवी दीक्षा का विवरण इस प्रकार मिलता है—'श्री गुरुदेव अपनी प्रसन्नता से दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा एक क्षण में ही स्वरूप-स्थित कर देते हैं । गुरु की दृष्टि मात्र से शिष्य का हृदय प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ हो कर कृतकृत्य हो जाता है ।

मान्त्री दीक्षा, मंत्र, पूजा, आसन, न्यास, ध्यान, आदि साधना से होती है । इसमें गुरुदेव शिष्य को मन्त्रोपदेश करते हैं । मान्त्री दीक्षा से शक्तिपात की पावता प्राप्त होती है और मन्त्रदेवतात्मक शक्ति से सिद्धि भी प्राप्त होती है ।

[४६],

म्हारा सतगुरु बेगा आज्या जी म्हारे सुखरी सीर बुझाज्यो जी ।
तुम विछड़ियाँ दुख पाऊँ जी मेरा मन माँही मुरझाऊँ जी ॥
मैं कोइल ज्यूँ कुरजाऊँ जी कुछ बाहरि कहि न जणाऊँ जी ॥
मोहि बाघण बिरह सतावै जी कोई कहियाँ पार न पावै जी ॥
ज्यूँ जल त्यागा मीना जी तुम दरसन बिन स्त्रीना जी ।
ज्यूँ चतवी रंण न भावै जी वा ऊगो भाण सुहावै जी ॥
ऊ दिन कदं करोला जी म्हारे आगण पाव धरोला जी ।
अरज करँ मीरा दासी जी गुरु पद रज की मैं प्यासी जी ॥

इस मन्त्री अथवा अणवी दीक्षा के दस भेद मिलते हैं, यथा—स्मार्ती
श्रमसी, बौद्ध, चाक्षुषी, स्पर्शिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, होत्री, शास्त्री और
अभिषेचिका । स्मार्ती में गुरु शिष्य का स्मरण करता है और उसके त्रिविध
पापों को भस्म कर देता है । और पुनः लययोग से उसे परम शिव में
स्थित कर देता है । मानसी दीक्षा स्मार्ती के समान ही है । यौगी दीक्षा
में गुरु शिष्य के शरीर में प्रवेश कर उसकी आत्मा को अपने शरीर में
लकर एक कर लेता है । चाक्षुषी दीक्षा में श्री गुरुदेव कर्णाद्र दृष्टि से
शिष्य की ओर देखते हैं और इतने से ही शिष्य के सारे दोष नष्ट हो जाते
हैं । स्पर्शिकी में गुरुदेव शिष्य के सिर का स्पर्श करते हैं उस स्पर्श मात्र
से शिष्य का शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है । मान्त्रिकी में गुरुदेव अपने
शरीर में से शिष्य के शरीर में मन्त्र का सक्रमण करते हैं । होत्री में होत्र से
ही दीक्षा सफल होती है । शास्त्री में शिष्य के योग्यतानुसार शास्त्रीय पदों के
द्वारा दीक्षा दी जाती है । अभिषेचिका दीक्षा में गुरुदेव एक घट में शिव
और शक्ति की पूजा करते हैं फिर उसके जल से शिष्य का अभिषेक
करते हैं ।

[४६] मीरा उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब उसके प्राणाधार उसके
आंगन में आकर अपने आलिंगन के पाश में उसे बाँध लेंगे । दुल्ला ने भी
इसी प्रकार 'साजन' को गुहराया है—

देखो पिया काली मो पै भरी ।

सुनि सेज अयावन लागी मरौ विरह की जारी ॥

[४७]

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी ।

जब जब सुरत लगे वा घर की पल पल नैनन पानी ।
ज्यों हिये पीर तीर सम सालत कसक कसक कसकानी ॥
रात दिवस मोहि नौद न आवत भावै अन्न न पानी ।
ऐसी पीर बिरह तन भीतर जागत रैन बिहानी ॥
ऐसा बंद मिलै कोइ भेदी देस बिदेस पिछानी ।
तासो पीर कहूँ तन केरी फिर नाहि भरमों खानी ॥
खोजत फिरौ भेद वा घर को कोई न करत बखानी ।
रंदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्ही सुरत सहदानी ॥
मैं मिली जाय पाय पिय अपना तब मोरी पीर बुझानी ।
मीरा खाक खलक सिर डारी मैं अपना घर जानी ॥

प्रेम प्रीति यह रीति चरण लगु पल छिन नाहि विसारी ।

चितवत पथ अत नही पायो जन बुल्ला बलिहारी ॥

कबीर भी बड़ी उत्सुकता से इस दिनकी प्रतीक्षा में है—

वे दिन कब आवेंगे माइ ।

जो कारण हम देह धरी है मिलियो अग लगाइ ॥

[४७] नाम का तीर जब हृदय को पूरी तरह बेध देता है तब हृदय में भगवान् के लिये बेकली हो उठती है—यह व्याकुलता ही प्रेम-साधना की प्राण है । राम की खुमारी, भगवत्प्रेम का नशा जब चढता है तब साधक की विचित्र दशा हो जाती है । आनन्द की रिमझिम रिमझिम फुहियाँ बरसने लगती हैं और उसका समस्त शरीर-मन-प्राण उस फुहार में भीग जाता है । मेघ गरजने लगता है और चारो ओर से विद्युत का प्रकाश होने लगता है । साधक इस प्रेम-वर्षा में आनन्द से झूमने लगता है । गुलाल श्रावण का एक पद इसी भाव का है—

आनन्द बरखत बुंद सुहावन ।

उमगि उमगि सत गुरु बर राजित समय सुहावन भावन ॥

चहूँ ओर घनघोर घटा आई सुन्न भवन मन भावन ।

तिलक तत बेंदी पर झलकत जगमग जोति जगावन ॥

गुरु के चरण मन मगन भयो जब बिमल बिमल गुन गावन ।

कहै गुलाल प्रभुः कृपा जाहि पर हरदम भादो सावन ॥

[४८]

मिलता जाज्यो हो गुरु ज्ञानी थारी सूरत देखि लुभानी ॥
मेरो नाम बूझि तुम लीज्यो मैं हूँ बिरह दिवानी ।
रात दिवस कल नाहि परत है जैसे मीन बिन पानी ॥
दरस बिना मोहि कछु न सुहावै तलफ तलफ मर जानी ।
मीरा तो चरणन की चेरी सुन लीजै सुखदानी ॥

[४९]

सतगुरु म्हाँरी प्रीत निभाज्यो जी ।
थे छो म्हारा गुण रा सागर ओगण म्हारो मति जाज्यो जी ।
लोक न धीजै (म्हारो) मनना पतीजै मुखड़ा रा सबद सुणाज्यो जी ॥
म्हे तो दासी जनम जनम को म्हारे आँगण रमिता आज्यो जी ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेड़ो पार लगाज्यो जी ॥

[५०]

स्याम तेरी आरति लागी हो ।
गुरु परतापे पाइया तन दुरमति भागी हो ॥
या तन को दियना करो मनसा करो बाती हो ।
तेल भरावो प्रेम का बारो दिन राती हो ।
पाटी पारों ज्ञान की मति माँग संबारी हो ।
तेरे कारन साँवरे धन जोवन वारों हो ॥

हृदय में प्रभु का नित्य ध्यान हो, मुख से उनका नाम-कीर्तन हो, कानों में सदा उनकी हो कथा गूँजती हो प्रेमानन्द से उनकी ही पूजा हो, नेत्रों में हरि की मूर्ति बिराज रही हो, चरणों से उनके ही पावन स्थानों की यात्रा हो, रसना में प्रभु के ही नान का रस हो, भोजन हो तो वह प्रभु का प्रसाद ही हो, साष्टाङ्ग नमन हो उनके ही प्रति, आलिंगन हो अल्लाह से उनके ही भक्तों का और एक क्या आधा पल भी उनकी सेवा के बिना व्यर्थ न जाय । सब धर्मों में यह श्रेष्ठ धर्म है ।

[५०] यह प्रेम अनुभवगम्य है, इन्द्रियग्राह्य नहीं । परन्तु प्रेम की विकलता इन्द्रियों की प्यास बढ़ा देती है, वे भी कुछ चाहती हैं । वे बादलों को देख कर ही संतुष्ट नहीं हो जाती । वे उसकी वर्षा में अपने को भीगा हुआ पाया चाहती हैं । जिस रस की अनुभूति हृदय करता है आँखें उसके रूप

या सेजिया बहु रग की बहू फूल बिछाये हो ।
 पंथ मैं जोहौं स्याम का अजहूँ नहिं आये हो ॥
 सावन भावो ऊमडा बरखा रितु आई हो ।
 भौहूँ घटा घन घेरि के नैनन झरि लाई हो ॥
 मात पिता तुम को दियो तुम ही भल जागो हो ।
 तुम तजि श्रीर भतार को मन में नहीं आनो हो ॥
 तुम प्रभु पूरन ब्रह्म हो पूरन पद दीजै हो ।
 मीरा व्याकुल बिरहिनी अपनो कर लीजै हो ॥

[५१]

जोगिया जो निसिदिन जोऊँ थारी बाट ।
 पाँव न चालें पथ दुहेलो आड़ा औघट घाट ॥
 नगर आड़ जोगी रम गया रे मो मन प्रीत न पाइ ।
 मैं भोली भोलापन कीन्हौं राख्यो नहीं बिलमाइ ॥
 जोगिया कूँ जोवत भोत दिन बीता अजहूँ आयो नाहिं ।
 बिरह बुझावण अन्तरि आगे तपन लगी तन माहिं ॥
 कै तो जोगी जग में नहीं कैर बिसारो मोय ।
 काँई कछु कित जाऊँ री सजनी नैण गुमायो रोय ॥
 आरति तेरे अंतर मरे आवो अपनी जाणि ।
 मीरा व्याकुल बिरहिणी रे तुम बिन तलफत प्राणि ॥

[५२]

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी ।
 आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो ॥
 गल विच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूत रमायो ।
 मीरा के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सोही पायो ॥

को सामन देखना चाहती है । किन्तु, वह असीम सामने कब आ सकता है ? इसलिये प्रेम के ऐसे गंभीर पथिक के लिए एक सभ्रम, एक विस्मय, एक उलझन की बात सदा रहती है कि अन्तर में रहनेवाले से प्रकासी का सा अन्तर क्यों बना हुआ है ? एक ही बास के बसने पर भी विदेश हो रहा है, मिले होने पर भी कोई अमिल कैसे रहता है ?

[५३]

कबहूँ मिलोगे मोहि आई रे तूँ जोगिया ।
तेरे ही कारण जोग लियो है घरि-घरि अलख जगाई ॥
दिबस न भूख रैण नहि निद्रा तुम बिन कुछ न सुहाई ।
मीरा के प्रभु गिरघर नागर मिलि करि तपनि बुझाई ॥

[५४]

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाइ परूँ में चेरी तेरी हूँ ॥
प्रेम भगति को पंडो ही न्यारो हम कूँ डोल बता जा ।
अगर चंदन को चिता बणाऊँ अपने हाथ जला जा ॥
जल बल भइ भस्म की ढेरी अपने अग लगा जा ,
मीरा कहै प्रभु गिरघर नागर जोत में जोत मिला जा ॥

[५५]

हो जी म्हराज छोड़ मत जाज्यो जी ।
मे अबला बल नाहि गुसाईं तुमहि मेरे सिरताज ।
अं गुणहीन गुण नाहि गुसाईं तुम समरथ महाराज ॥
रावली होइ के किण रे जाऊँ तुम हो हिवड़ारो साज ।
मीरा के प्रभु और न काई राखो अब के लाज ॥

[५२] मीरा के कई पदों में किसी योगी का वर्णन आया है जिससे मीरा के हृदय में प्रेम की पीर जगाई है । योग की कतिपय क्रियाओं तथा सींग, सेली, भभूत आदि कनफटे योगियों के बाह्य प्रतीकों का भी उल्लेख यत्र तत्र आया है यद्यपि है वह अधूरा ही । योग की किसी सुव्यवस्थित साधना-प्रणाली का अनुसरण मीरा ने किया था ऐसा मीरा के पदों से प्रतीत नहीं होता परन्तु कुछ सुनी-मुनाई बातों की ओर मीरा का मन रूपका था जरूर । पीछे जाकर प्रेम के उपप्लव में मीरा का सारा योग-भोग बह गया । प्रेम की साधना में योग की क्रियाएँ एक हद तक ही चल सकती हैं, आगे जाकर वे छूट जाती हैं । प्रेम एक स्वयं महायोग है जिसमें अन्य सभी योगों का लय हो जाता है । आत्मा में परमात्मा का रमण और परमात्मा में आत्मा का रमण—प्रेम की भाषा में प्रिया और प्रियतम का एकमेक हो कर रमण—यह आत्मरमण, आत्मक्रीडा, आत्ममिथुन ही प्रेम-योग की परमावधि है ।

[५६]

एसी लगन लगाय कहाँ तू जासी ।
 तुम देखे बिन कल न परति है तलफि-तलफि जिव जासी ॥
 तेरे खातिर जोगण हूँगी करवत लूँगी कासी ।
 मोरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कंवल की दासी ॥

[५७]

जोगिया से प्रीत कियाँ दुख होइ ।
 प्रीत किया सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोई ।
 राति दिवस कल नाहि परत है तुम मिलिया बिन मोई ॥
 ऐसी सूरत या जग मोही फेरि न देखी सोइ ।
 मोरा के प्रभु कब रें मिलोगे मिलियां आणद होइ ॥

[५८]

जोगिया री प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ।
 हिलमिल बात बणावत मीठी पाछे जावत भूल ॥
 तोड़त जेज करत नहि सजनी जैसे चमेली के फूल ।
 मोरा कहै प्रभु तुमरे दरस बिन लगत हिवड़ा में सूल ॥

[५९]

जावो निरमोहिया जाणी थारी प्रीत ।
 लगन लगी जद प्रीत और ही अब कुछ और ही रीत ॥
 इमरित प्याय के बिष क्यूँ दीजै कूण गाँव की रीत ।
 मोरा के प्रभु हरि अबिनासी अपनी गरज के मीत ॥

[६०]

जाबा दे जाबा दे जोगी किसका मीत ।
 सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीत ।
 बोलत बचन मधुर से मीठे जोरत नाहीं प्रीत ॥
 मैं जाणूँ या पार निर्भंगी छाँडि चले अघबीच ।
 मोरा के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा मीत ॥

[६१]

कोई दिन याद करोगे रमता राम अतीत ।
आसण मार अडिग होय बँठा याही भजन की रीत ।
मे तो जाणूँ जोगी सग चलैगा छाँड़ चला अधबीच ॥
आत न दीसे जात न दीसे जोगी किसका मीत ।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चरणन आवे चीत ॥

[६२]

धूतारा जोगी एकर सूँ हँसि बोल ।
जगत बदीत करी मनमोहन कहा बजावत डोल ।
अग भभूत गले म्रिघछाला तू जन गुडिया खोल ॥
सदन सरोज बदन की सोभा ऊभी जोऊँ कपोल ।
सेली नाद बभूत न बटवो अजूँ मुनी मुख खोल ॥
चढती बैस नंग अनियारे तूँ घरि-घरि तम डोल !
मीरा के प्रभु हरि अविनासी चेरी भई दिन मोल ॥

[६३]

जोगिया री सूरत मन में बसी ।
नित प्रति ध्यान धरत हूँ दिल में निस दिन होत खुसी ।
कहा कहूँ कित जाऊँ मोरी सजनी मानो सरप डसी ।
मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे प्रीति रसीली बसी ॥

[६४]

जोगिया जो छाय रहा परदेस ।
जबका बिछड़या फेर मिलिया बहोरी न दियो सदेस ।
या तन ऊपरि भसम रमाऊँ खोर कहूँ सिर केस ॥
भगवा भेख धरूँ केहि कारण ढूँढत च्यारूँ देस ।
मीरा के प्रभु राम मिलन कूँ जावनि जनम अनेस ॥

[६१] अतीत = अतीथ, योगी (यह शब्द 'अतिथि' से बिगड़ कर इस रूप में रूढ़ हो गया है—ऐसा प्रतीत होता है ।

[६५]

जोगी मम्हाने बरस दिया सुख होइ ।
 नातरि दुख जग माँहि जीवड़ो निस दिन झुरे तोइ ॥
 दरस दिवानी भई बावरी डोली सब ही देस ।
 मीरा दासी भई हँ पंडर पलटाया काला केस ॥

[६६]

मीरा लागो रंग हरी सब रंग अटक परी ।
 चूड़ी म्हारे तिलक अरु माला सील बरत सिणगारो ।
 और सिंगार म्हारे दायन आर्वे यी गुर ग्यान हमारो ॥
 कोई निन्दो कोई बिन्दो म्हें तो गुण गोबिंद का गास्याँ ।
 जिण मारग म्हारा साध पधारे उण मारग म्हें जास्या ॥
 चोरो न करस्याँ जिव न सतास्यां काँई करसी म्हारो कोई
 गजसे उत्तर के खर नहि चडस्यां ये तो बात न होई ॥

[६७]

मेरो मन लागो हरि सूँ अब न रहूँगी अटकी ॥
 गुरु मिलिया रंदास जी दीन्हों ग्यान की गुटकी ।
 चोट लगी निज नाम हरी की म्हारे हिवड़े खटके ॥
 मोती माणिक परत न पहिरूँ मैं कब की नट की ।
 गणो तो म्हारे माला दोवड़ी और चंदन की कुटकी ॥
 राज कुल की लाज गमाई साधाँ के संग मैं भटकी ।
 नित उठ हरि जी के मंदिर जास्याँ नाच्याँ दे दे चुटकी ॥
 भाग खुल्यो म्हारो साध सगत सूँ साँधरिया की बटकी ।
 जेठ बहू की कहण न मानूँ घूँघट पड़ गई पटकी ।
 परम गुराँ के सरण में रहस्याँ परणाम कराँ लुट की ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर जनम मरण सूँ छुटकी ॥

[६८]

म्हारे घर रमनी ही आई रे तू जोगिया ।
 कानो बिच कुंडल गले बिच सेली अंग भभूत रमाई रे ॥
 तुम देख्यां बिन कल न पड़त है ग्रिह अंगणो न सुहाई रे ।
 मीरा के प्रभु हरि अबिनासी दरसन छौ मोकूँ आई रे ॥

[६९]

जोगिया जी आबो थें या देश ।

नंणज देखूं नाथ मेरो ध्याइ करूं , आदेस ।

आया सावण मास सजनी भरे जल थल ताल ॥

रावल कुण विलमाइ राखो बिरहनि हें बंहाल ।

बोछड़ियाँ कोई भौ भयो रे जोगी ऐ दिल अहला जाइ ॥

एक बेरी देह केरी नगर हमारे आइ ।

वा मूरति मेरे मन बसे रे जोगी छिन भरि रह्योइ न जाइ ॥

मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसन छौ हरि आइ ॥

[७०]

जोगिया ने कहज्यो जी आदेश ।

जोगियो चतुर मुजण सजनी ध्यावें संकर सेस ॥

आऊंगी में नाहिं रहूंगी रे म्हारा पीव बिना परदेस ।

करि किरपा प्रतिपाल मो परि राखो न अपण देस ॥

माला मुदरा मेखला रे बाला खप्पर लूंगी हाथ ।

जोगणि होइ जुग ढूँढसू रे, म्हारा रावलिया री साथ ॥

[७०] आदेस = प्रणाम (योगियो में प्रचलित प्रणाम-पद्धति)

इस पद में मीरा के सामने योगिनी का जो कल्पित वेश है उसमें माला, मुंदरी, मेखला, खप्पर आदि उपकरण हैं जिससे यह स्पष्ट है कि मीरा के सामने नाथ पंथी योगिनी का ही रूप है । उन दिनों राजस्थान में नाथ पंथ का खूब दौर-दौरा था और उनके चमत्कारों से अधिकांश मत-पंथ और सम्प्रदाय प्रभावित भी हो गये थे ।

प्रेमाभिलाषा

[७१]

नैनन बनज बसाऊँ री जो में साहिब पाऊँ ॥
इन नैनन मेरे साहिब बसता डरती पलक न लाऊँ री ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री ॥

[७१-८६] किसी मनुष्य के प्रति जब हमारा अनुराग होता है तब उसे देखने, सुनने और स्पर्श करने के लिए मन में एक प्रबल आग्रह हुआ करता है । इसीका नाम 'प्यार' है । यह प्यार जब ईश्वर में अर्पित कर दिया जाता है तब उसी को वैष्णवगण 'अनुराग' कहते हैं । फिर आग्रह बढ़ते-बढ़ते यह दशा हो जाती है कि उससे मिले बिना काम ही नहीं चलता, सब कुछ सूना-सूना-सा लगता है । मन के इस अत्यधिक अनुराग को 'आसक्ति' कहते हैं । तदनन्तर जब वह प्यार जम जाता है तब एक अतलस्पर्शी व्याकुलता अवतीर्ण होकर मन-प्राण को आनन्द महासिन्धु में बहा ले जाती है । फिर अपने ऊपर अपना शासन नहीं रहता । समस्त विश्व में उस प्रेम-मय के स्पर्श का ही अनुभव होने लगता है । इस अवस्था में प्रेमी भवत क्षण भर का भी प्रियतम का विरह नहीं सह सकता । उसका हृदय नित्य नूतन हर्ष से अधीर और उन्मत्त रहता है । वह भगवान को सब कुछ समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है । किसी बात के लिए उसका चित्त चंचल नहीं होता । जगत के धन-जन-मान-प्रतिष्ठा आदि कुछ भी उसे मोहित नहीं कर सकते ।

[७२]

राणाजी म्हें तो गोविन्द का गुण गास्यां ।
चरणामृत को नेम हमारो नित उठ दरसन जास्या ॥
हरि मंदिर में निरत करास्यां घु घरिया घमकास्यां ।
राम नाम का ज्ञांन चलास्यां भवसागर तर जास्यां ।
यह ससार बाड़ का काटां ज्यां संगत नहिं जास्यां ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर निरख परख गुण गास्या ॥

[७३]

पियाजी म्हारे नैणां आगे रहज्यो जी ॥
नैणा आगे रहज्यो जी म्हाने भूल मत जाज्यो जी ।
भवसागर में बही जात हूँ वेग म्हांरी सुध लीज्यो जी ॥
राणा जी भेज्या विष का प्याला सो इमरित कर दीज्यो जी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी ॥

[७४]

थाने काई कह समझाऊं म्हारा बाला गिरधारी ।
पूर्व जनम की प्रीत हमारी अब नहिं जात निवारी ॥
सुंदर बदन जोवते सजनी प्रीत भई छे भारी ।
म्हारे घरे पधारो गिरधर मगल गावै नारी ॥

[७२] यह पद संभवत उस समय का है जब राणा ने मीरा को अन्त-पुर से बाहर जाने से मना कर दिया था और कहलाया था कि साधु-महात्माओं की भीड़ इकट्ठी करना उचित नहीं है । इस पद में मीरा ने बड़ी दृढ़ता से कहा है कि जो कुछ निश्चय मैं कर चुकी हूँ वही करूंगी चाहे जो हो जाय ।

[७३] न मिले थे तब तक तो कोई बात न थी मुझे पता ही न था कि मिलन का सुख कैसा होता है । परन्तु अब मिल कर मिलन का जो अमृत-सुख तुमने दिया अब बिछुड़ कर उसे विघटाओ मत, मिलन के बाद यह बिछोह मुझसे सहा न जायगा ।

पर जिस प्यारे ने प्रीति-परवश होकर विष के प्याले को अमृत कर दिया वह भला अब मुझे मेरी बाँह पकड़ कर यो मँझधार में छोड़ देगा ? ऐसा हो नहीं सकता ।

मोती चौक पुराऊं बाल्हा तन मन तो पर वारी ।
 म्हारो सगपण तो सूँ साँवलिया जुगसूँ नहीं बिचारी ॥
 मीरा कहे गोपिन के बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी ।
 चरण सरण हँ दासी तुम्हारी पलक न कीजँ न्यारी ॥

[७५]

जागो म्हारा जगपति राइक हँसी बोलो क्यूँ नहीं ।
 हरि छो जी हिरदा माँहि पट खोलो क्यूँ नहीं ॥
 तन मन सुरति संजोई सीस चरणो धरूँ ।
 जहाँ जहाँ देखूँ म्हारो राम तहाँ सेवा करूँ ॥
 सदर्क कहँ जी सरोर जुगै जुग बारणो ।
 छोड छोड़ी कुल की लाज साहिब तेरे कारणो ॥
 थोड़ि थोड़ि लिखूँ सिलाम बहुत करि जाणज्यौ ।
 हाँ हो म्हारा नाथ सुनाथ बिलम नाँहि कीजियँ ।
 मीरा चरणो की दास दरस अर दीजियँ ॥

[७६]

देखो सहियाँ हरि मन काटो कियो ।
 आवन कह गयो अजुँ न आयो करि करि बचन गयो ।
 खान पान सब सुध बुध बिसरी कैसे करि मैं जियो ॥
 बचन तुम्हारे तुमही बिसारे मन मेरो हर लियो ।
 मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर तुम बिन फटत हियो ॥

[७७]

पिया मोहि दरसन दीजँ हो ।
 बेर बेर मैं टेरेहूँ अहे किरपा कीजँ हो ॥
 जेठ महीने जल बिना पछी दुख होई हो ।
 मोर असाइँ कुरलहे धन चात्रग सोई हो ॥
 सावण मैं झड लागियो सखि तीजाँ खेलँ हो ।
 भाबरवै नदिया बहँ दूरो जिन मैले हो ॥

[७४] 'मीरा कहे गोपिन के बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी' में कितना निगूढ़ व्यंग्य है ।

[७५] जहाँ-जहाँ देखूँ म्हारो राम—

'There is nothing unholy on this earth for God's feet are everywhere'

सीप स्वाति ही झेलती आसोजां सोई हो ।
 देव काती में पूजहे मेरे तुम होई हो ॥
 मगसर ठढ बहोती पड़ मोहि बेगि सँभालो हो ।
 पोस मही पाला घणा अबही तुग न्हालो हो ॥
 महामही बसंत पचसो फागां सब गावें हो ।
 फागुण फागा खेलहूं बणराइ जरावें हो ॥
 चंत चित्त में ऊपजी दरसण तुम दीजें हो ।
 बंसाख बणराई फूलवें कोइल कुरलीजें हो ॥
 काम उड़ावत दिन गया बूझूं पिडत जोसी हो ।
 मीरा बिरहणि व्याकुली दरसण कद होसी हो ॥

[७८]

म्हारे घर आज्यो प्रीतम प्यारा तुम बिन सब जग खारा ॥
 तन मन धन सब भेंट कहुँ ओ भजन कहुँ में थारा ॥
 तुम गुणवत बडे गुण सागर में हूँ जी औगणहारा ॥
 मैं निगुणी गुण एको नाहीं तुझ में जी गुण सारा ॥
 मीरा कहूं प्रभु कबहि मिलीगे बिन दरसण दुखियारा ॥

(७९]

वारी वारी हो राम हूँ वारी, तुम आज्या गली हमारी ।
 तुम देख्यां बिन कल न पडत है जोऊं बाट तुम्हारी ॥
 कूण सखी सूँ तुम रंग राते हम सूँ अधिक पियारी ।
 किरपा कर मोहि दरसण दीज्यो सब तकसीर बिसारे ॥
 तुम सरणागत पद्म दयाला भवजल तार मुरारी ।
 मीरा दासी तुम चरणन की बार बार बलिहारी ॥

[८०]

तुम आज्यो जी रामा आवत आस्यां सामा ।
 तुम मिलिया में बहु सुख पाऊं सरं मनोरथ कामा ।
 तुम बिच हम बिच अतर नाहीं जैसे सुरब्र घामा ।
 मीरा मन के और न माने चाहे सुंदर त्यामा ॥

["] इस 'बारह मासे' में मीरा का दर्द भरा हृदय धूलता दीख रहा है । अतः मैं 'काम उड़ावत दिन गया' में कितनी गहरी उदासी है !

[८१]

कोई कहियो रे प्रभु आवन की ।

आवन की मनभावन की, कोई ॥

आप न आवैं लिख नहि भेजैं बाँण पड़ी ललचावन की ।

ए दोइ नैना कह्यो नहि मानै नदिया बहै जैसे सावन की ॥

कहा करूँ कछु नहि बस मेरो पाँख नही उड़ जावन की ।

मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की ॥

[८२]

भीजे म्हाँरो दाँवन चीर सावणियो लूम रह्यो रे ।

आपतो जाय बिदेसों छाये जिवड़ो घरत न धीर ॥

लिख लिख पतियाँ संदेसा भेजूँ कब घर आवैं म्हाँरो पीब ।

मीरा के प्रभु गिरधार नागर दरसन दोने बलबीर ॥

[८३]

मेरे प्रीतम प्यारे राम कूँ लिख भेजूँ रे पाती ॥

स्याम सनेसो कबहुँ न दीन्हौ जानि बुझि गुञ्जवाती ।

डगर बूहाकूँ पंथ निहाकूँ रोय रोय औँखियाँ राती ॥

तुम देख्या बिन कलन पड़त हूँ हीयो फटत मेरी छाती ।

मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे पूरब जनम का साथी ॥

[८१] यह मीरा के सर्वोत्तम गीतो में सर्वश्रेष्ठ है । इसके संगीत और लय पर ध्यान दीजिये—विरहिणी का रूप सामने आ जाता है, विरह से विदग्ध पर पुनर्दर्शन की मधुमयी आशा में—इस उत्सुक अभिलाषा में कि अब कोई आवे और 'उन' के आने की खबर दे दे ।

बाँण = आदत । दाँवन = दामन ।

[८३] 'पूरब जनम का साथी'

Emotional mysticism begins with personal affection, The earthly beloved becomes too good for human nature's daily food, arouses aesthetic delight and becomes the subject and later the symbol of aesthetic contemplation. Gradually the symbol empties itself of its earthly associations and we have a glorious Vision of Beauty bedecked with light that never was on sea and land. It is still the Beloved, but both the earthly lover and the Beloved are now transformed. I am the lover and Thou art the Beautiful. Beauty appears in ever new guise and yet the eyes do not have their fill.

गुञ्जवाती = मन ही मन धुँधुआना ।

[८४]

गोविंद कबहूँ मिले पिया मेरा ।
चरण कवल कूँ हँसि हँसि देखूँ राखूँ नैणों नेरा ।
निरखण कूँ मोहि चाव घणैरो कब देखूँ मुख तेरा ॥
व्याकुल प्राण धरत नाहि धीरज मिलि तूँ मीत सबेरा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताप तपन बहु तेरा ।

[८५]

राम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊँ बाटडियाँ ।
दरसन बिना मोहि कछुन सुहावैजक न पडत है आँखिडियाँ ॥
तलफत तलफत बहु दिन बीता पडी विरह की पासडियाँ ।
अब तो बेगि दया करि साहिब मैं तो तुम्हारी दासडियाँ ।
नैण दुखी दरसन कूँ तरसै नागिन बैठे साँसडियाँ ।
राति दिबस यह आरति मेरे कब हरि राखै पासडियाँ ।
लगी लगनि छूटण की नाही अब क्यँ कीजै आँटडियाँ ।
मीरा के प्रभु कबरे मिचोगे पूरौ मन की आसडियाँ ॥

[८६]

आवो सहेल्या रली करों हे पर घर गवण निबारी ।
झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति ।
झूठा सब आभूषणा री साँची पियाजी री प्रीति ।
झूठा पाट पटंबरा रे झूठा दखणी चीर ।
साँची पियाजी री गूबड़ी जावै निरमल रहे सरीर ॥

[८५] घणो उमावो=तीव्र लालसा, प्रबल उमग । प्राणेश्वर की प्रीति के अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है । उस 'अविनासी वालम' को वरण कर जीवन 'अचल सुहाग' पा जाता है । गोपियो ने कहा है—'प्रेष्ठो भवास्तनुमृतां किल बन्धुरात्मा' ।

Let Him kiss me with the kisses of His mouth
For thy love is better than wine
Behold Thou art fair, my Beloved, yea pleasant
Also our bed is green...
His left hand is under my head
And His right hand doth embrace me.

--Old Testament.

छप्पन भोग दुहाइ दे हे इन भोगनि में दास ।
 लूण अलूणो ही भलो हे अपने पिपाजी रो साग ॥
 देखि विराणं निवाण कूँ हे, बयूँ उपजावै खीज ।
 कालर अपने ही भलो हे जामें निपजं चीज ॥
 छैल विराणो लाख को हे अपने काज न होइ ।
 ताके सग सिधारणां हे भला न कहसी कोइ ॥
 वर हीणो अपने भलो हे कोढी कुण्ठी कोइ ।
 जाके सग सिधारतां हे भला कहें सब लोइ ॥
 अबिनासी सूं बालमा हे जिन सूं साँची प्रीति ।
 मीरा कूं प्रभु मिलिया हे, एही भगति की रीति ॥

[८६] प्रियतम के सग्नित्य एव सस्पर्श के कारण सब कुछ मुखद एवं सुंदर लगता है । पदार्थों में अपनी सुन्दरता नहीं है । उसकी सुन्दरता का एकमात्र हेतु यही है कि वह प्यारे की प्रीति में सगबोर है ।

अभिसार

[८७]

चलो अगम के देस काल देखत डरै ।
वहाँ भरा प्रेम का हौज हँस केल्याँ करै ॥
ओढण लज्जा चीर धीरज को घाँघरो ।
छिपता काँकण हाथ सुमति को मून्दरो ॥
दिल दुलही दरियाव साँच को दोवड़ो ।
उबटन गुरु कौ ज्ञान ध्यान को धोवणो ॥
कान अखोटा ज्ञान जुगत को झूटणो ।
बेसर हरि को नाम चूडो चित ऊजलो ॥
जीहर सोल सन्तोष निरत को घँघरो ।
बिदली गज अरु हार तिलक गुरुग्यान को ॥
सज सोलह सिणगार पहिर सोने राखडी ।
साँबलियाँ सूँ प्रीति और सूँ बाखडी ॥
पतिबरता की सेज प्रभूजी पधारिया ।
गावे भीरा बाई दासी कर राखिया ॥

[87 112] The wild tale of pathos shall ever remain writ large on the Temple of love. She lived on tears and she slept on tears. this shall be the language of love in which Mira will go down to posterity. This child of the Lord, nursed in the heart of worldly circumstances feeling disgusted with the obstruction placed on her meeting freely her Divine Beloved directed her course to those very regions where His kingdom lay; where the

[८८]

गली तो चारों बंद हुई मैं हरि सँ मिलूँ कैसे जाइ ।
 ऊँची नीची राह रपटोली पाँव नहीं ठहराइ ॥
 सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाइ ।
 ऊँचा नीचा महल पिया का हमसे चढ़ा न जाइ ॥
 पिया दूर पथ म्हाँरों शीणो मुरत झकोला खाइ ॥
 कोस कोस पर पहरा बैठ्या पेंड पेंड बटमार ।
 हे बिधना कैसी रच दीन्हों दूर बसायो म्हाँरो गाँव ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर सतगुरु दई बताय ।
 जुगन जुगन से बिछड़ी मीरा घर में लीन्ही लाय ॥

[८९]

तेरो कोई नहि रोकणहार मगन होइ मीरा चली ।
 लाज सरम कुल की मरजादा सिर सँ दूरि करी ॥
 मान अपमान दोऊ घर घरकें निकली हूँ ग्यान गली ।
 ऊँची अटरिया लाल किंवडिया निरगुण सेज बिछी ॥
 पचरगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ।
 बाजूबंद कडूला सोहै सिन्दुर माँग भरी ॥
 सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी ॥
 सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी
 तुम जाबो राणा घर अपने मेरी तेरी नहीं सरी ।

mad raving of the world could not reach her. She had started in search of a place where she could lie undisturbed in the thoughts of her Beloved, While freedom was her creed and liberty her watchword the slaves of forms, formalities and dogmas could not understand her. Her bondage lay in her love for the Beloved and the subtle chains of love that she put on herself were not visible to many eyes.

--The Story of Mirabai

[८९] आज पिय की सेजपर पौढ़ने की शुभ घड़ी आ गई है । मीरा ने आज सोलहो श्रृंगार किया है और वह प्रीतम से मिलने के लिये अभिसार कर रही है । इस समय इसे रोकनेवाला भला कौन है ?

[९०]

बरजी में काहू की नाहिं रहूँ ।
 सुनौरी सखी तुम चेतन होइ कै मन की बात कहूँ ॥
 साधसगति करि हरि सुख लीजै जग सँ दूरि रहूँ ।
 तन धन मेरे सबही जावो भलि मेरो सीस लहूँ ॥
 मन मेरो लागो सुमिरण सेतो सबका मैं बोल सहूँ ।
 मोरा के प्रभु हरि अविनासी सतगुरु सरण गहूँ ॥

[९१]

राणा जी म्हाने या बदनामी लागे मीठी ।
 कोई निन्दो कोई बिन्दो में चलूँगी चाल अनूठी ॥
 मांकली गली में सतगुर मिलिया क्यूँ कर फिहूँगी अपूठी
 सतगुर जी सँ बातों करसाँ दुरजन लोगो ने दीठी ।
 मोरा के प्रभु गिरधर नागर दुरजन जलो जा अगीठी ॥

[९२]

सूरत दीनानाथ सँ लगी तूँ तो समझ सुहागग नार ।
 लगनी लहूँगी पहर सुहागण बीती जाय बहार ।
 धन जोबन है परवणा री मिले न दूजी बार ।
 रामनाम को चूड़लो पहिरो प्रेम को सुरमो सार ।
 नकबेसर हरिनाम की री उतर चलोनी परले पार ॥
 ऐसे वर को क्या वरूँ जा जन्म ओ मर जाय ।
 वर बरियो एक साँवरो री (मेरो) चुड़लो अमर होय जाय ॥
 मैं जान्यो हरि मैं ठग्यो री हरि ठग ले गयो मोय ।
 लख चौरासी मोरचा री छिन में गेरया छै विगोय ॥
 सुरत चली जहाँ मैं चली री कृष्ण नाम झणकार ।
 अविनासी की पोल पर जी मोरा करै छै पुकार ॥

[६०] स्मरण का चसका ऐसा है कि जब लग जाता है तब लाख कोई मना करे या बरजे वह एक क्षण के लिये भी छूटता ही नहीं । उस रस में शरीर, मन, प्राण सभी के सभी सराबोर हो जाते हैं—बाहर आने की इच्छा ही नहीं होती । यही इस 'अमल' की विशेषता है ।

[९३]

इन सरवरियाँ पाल मीरा बाई साँपडे ॥
 साँपड़े कियो असनान सुरज स्वामी जप करे ।
 होय बिरंगी नार डगरां बिच बर्यूं खड़ी ॥
 कहाँ थारो पीहर दूर घराँ सासू लड़ी ।
 नाहिं म्हारो पीहर दूर ना घराँ सासू लड़ी ॥
 चल्थो जा रे असल गुंवार तन म्हारी के पडी ॥
 गृह म्हाँरां दीनदयाल होराँ रा पारखी ।
 दियो म्हाँनें ग्यान बताय सगत कर साध री ।
 इन सरवरिया रा हँस सुरग थारी पाखड़ी ॥
 राम मिलन कद होय फड़क म्हारो आखड़ी ।
 राम गये बनबास कूँ सब रग ले गये ।
 ले गये म्हाँरो कायाको सिंगार तुलसी री माला दे गये ॥
 खोई कुल की लाज मुकुद थारे कारणे ।
 बेगही लीज्यो संभाल मीरा पडी बारणे ॥

[९४]

नहिं भावें थारो देसलडो रगरुडो ॥
 थारा देसाँ में राणा साध नहीं छै लोग बसै सब कूडो ।
 गहणा गांठी राणा हम सब त्याग्या लाग्यो करारो चूडो ॥
 काजल टीकी हम सब त्याग्या त्यायो है बांधन जूडो ।
 मेवा मिसरी में सब ही त्याग्या त्याग्या छै सक्कर बूरो ॥
 तन की आस कबहुँ नहिं कीनी ज्युँ रण माही सूरु ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर बर पायो में गुरो ॥

[९५]

आज हमारो साधुजन नो संगरे राणा म्हाँरा भाग भल्याँ ।
 साधु जननो संग जो करिये चढे ते चौगणों रग रे ।
 साकट जनन तो संग न करिये पड़े भजन में भंग रे ।
 अड़सठ तीरथ संतों ने चरणे कोटि कासी ने सोय गग रे ॥
 निन्दा करसे नरककुंड माँ जासे थासे आँधला अपग रे ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर संतों नी रज म्हारे अंग रे ॥

[९६]

राम तबे रगराची राणा मं तो साँबलिया रम राची रे ।
ताल पखावज मिरदग बाजा साधां आगे नाची रे ॥
कोई कहे मीरा भई बावरी कोई कहे मदमाती रे ।
विष का प्याला राणा भेज्या अमृत कर आरोगी रे ॥
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर जनम जनम की दासी रे ॥

[९७]

राणा जी थे क्या ने राखो म्हासू बँर ।
थे तो राणाजी म्हाने ईसडा लागे ज्यो ब्रच्छन में कैर
म्हैल अटारी हम सब त्याग्या त्याग्या थारौ बसनो सहर
काजल टोकी राणा हम सब त्याग्या भगवौ चादर पहर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर इमरित कर दियो जहर ॥

[९८]

सिसोछो रुठ्यो तो म्हारो काँइ करलेसी ।
म्हे तो गुण गोबिंद का गास्या हो माई ।
राणा जी रुठ्यो बाँरो देस रखासी ।
हरि रुठ्यां कुम्हलास्या हो माई ॥
लोक लाज की काण न मानू
निरभे निसाण घुरास्या हो माई ॥
राम नाम का श्राव चलास्यां
भवसागर तर जास्यां हो माई ॥
मीरा सरण साबल गिरधर की ।
चरण कवल लपटास्या हो माई ॥

[९९]

राणाजी म्हारी प्रीत पुरबली में काई करूँ ।
राम नाम बिन घड़ी न सुहावे राम मिले म्हारा हियरा ठराय ।
भोजनिया नाहि भावै म्हाने नींदलड़ी नहि आय ॥
विष को प्यालो भेजियो जी जावो मीरा पास ।
कर चरणामृत पी म्हारे गिरधर रो बिस्वास ॥

विष का प्याला पी गई जी भजन करे राठोर ।
 थारी मारी न मरूँ म्हारो राखणहारो और ॥
 छापा तिलक बनाविया जी मन में निश्चय धार ।
 रामजी काज सवारिया म्हाने भावे गरदन मार ॥
 पेदया वासुकि भेजिया जी यो छे मोती डोरो हार ।
 नाग गले में पहिरिया म्हारे महलां भयो उजार ॥
 राठौडारी धीपड़ी जी सीसोछांरे साथ ।
 ले जाती बंकुंठ कूँ म्हारी नेक न मानो बात ।
 मीरा दासी राम की जी राम गरीबनिवाज ।
 जन मीरा को राखज्यो कोई ढाँह गहे की लाज ॥

[१००]

राणाजी थें जहर दियो म्हे जाणी ।

जैसे कंचन दहत अगिन में निकसत बारह बाणी ।
 लोक लाज कुल काण जगत की दइ बहाय जस पाणी ॥
 अपने घर का परदा करले में अबला बौराणी ।
 तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे गरक गयो सनकाणी ॥
 सब सतन पर तन मन वारो चरण कंबल लपटाणी ।
 मीरा को प्रभु राखि लई है दासी अपनी जाणी ॥

[१०१]

यो तो रग घत्तां लग्यो ए माए ।

पिया पियाला अमर रस का चढ़ गई घूम घुमाय ।
 यां तो अमल म्हारे कबहुँ न उतरे कोटि करो उपाय ॥
 नाँप पिटारी राणा जी भेज्यो द्यो मेड़तणी गल डार ।
 हँस हँस मीरा कँठ लगायो यो तो म्हारे नौसर हार ॥
 विष को प्यालो राणाजी भेज्यो द्यो मेड़तणी प्याय ।
 कर चरणामृत पा गई रे गुण गोविन्द रा गाय ॥
 पिया प्याला नामका रे और न रंग सोहाय ।
 मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर कांचो रग उड़ जाय ॥

[१०२]

मैं गोविन्द गुण गास्याँ ।
राजा रुठ नगरी राखें हरि रूठ्याँ कहँ आस्याँ ।
राणें भेज्या जहर पियाला इमरित करि पी जाणा ॥
डबिया मैं भेज्या ज भुवगम सालिगराम करि जाणा ।
मीरा तो अब प्रेम दिवाणी सावलिया बर पाणा ॥

[१०३]

म्हाँसुँ हरि बिन रह्यो इ न जाय ।
सास लड़े मेरी ननद खिजावें राणा रह्या रिसाय ।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्यो ताला दियो जड़ाय ॥
पूर्व जनम की प्रीत पुराणी सो क्यूँ छोड़ी जाय ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर और न आवे म्हाँरी दाय ।

[१०४]

अब नहि बिसरुँ म्हाँरे हिरदे लिख्यो हरि नाम ।
म्हाँरे सतगुरु दियो बताय अब नहि बिसरुँ रे ॥
मीरः बंठी महल मे रे ऊठत बैठत राम ।
सेवा करस्यां साध की म्हाँरे और न दूजा काम ॥
राणाजी बतलाइया काँइ देणो जवाब
मथ लागो हरिनाम सँ म्हाँरो दिन दिन दूना लाभ ॥
सोप भरयो पाणी पिवे रे टाँक भरयो अन्न खाय ॥
बतलाया बोलो नहीं रे राणोजी गया रिसाय ।
बिबरा प्याला राणाजी भेज्या दीजो मेडतणी हाथ ।
कर चरणामृत पी गई म्हाँरांसबल घणी का साथ ॥
बिबको प्यालो पी गई भजन करे उस ठौर ।
थौरा मारी ना मरुँ म्हाँरा राखणहारो और ॥
राणोजी मो पर कोप्यो रे मारुँ एक न सेल ।
मारयां पराछित लागसी म्हाँने दीजो पीहर मेल ।
राणो मोपर कोप्यो रे रती न राख्यो मोद ।
ले जाती बंकुँठ में यो तो समझ्यो नहीं सिसोद ।
छापा तिलक बनाइया तजिया सब सिंगार ।
म्हें तो सरण राम के भल निन्दो ससार ॥

माला म्हाँरे देवडी सोल बरत सिगार ।
अबके किरिपा कीजियो, हूँ तो फिर बाँधू तलवार ॥

[१०५]

रथाँ बेल जुताय कै ऊटाँ कसियो भार ।
कैसे तोड़ूँ राम सूँ म्हाँरो भो भो रो भरतार ॥
राणो साँड्यो मोकल्यो जाज्यो एके दौड ।
कुल की तरण अस्तरी या तो मुरड़ चली राठोड ॥
साँड्यो पाछो फेर्यो रे परत न देस्यो पाँव ।
कर सूरापण नीसरी म्हाँरे कुण राणे कुण राव ॥
संसारो निग्दा करे रे दुखियो सब ससार ।
कुल सारो हो लाजसी मीरा थे जो भया जो ख्वार ॥
राती माती प्रेम की विष भगत को मोड़ ।
राम अमल माती रहै धन मीरा राठोड ॥

[१०६]

मीरा—माई म्हाँने सुपणो में परण गया जगदीस ।
सोती को सुपना आविया जी सुपना विस्वा बीस ॥
मा— गेली दीखे मीरा बावली सुपणा आल जञ्जाल ।
मीरा—माई म्हाँने सुपने में परण गया गोपाल ॥
अग अग हल्दी में करी जी सूधे भीज्यो गात ।
माई म्हाँने सुपने में परण गया दीनानाथ ॥
छप्पन कोटि जहाँ जान पधारे डुलहा श्री भगवान् ।
सुपने में तोरन बाँधियो जी सुपने में आई जान ॥
मीरा को गिरधर मिला जी पूर्व जनम के भाग ।
सुपने में म्हाँने परण गया जी हो गया अचल सुहाग ॥

[१०७]

कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊँ री ।
उदक दादुर पीनवत है जल से ही उपजाई ।
पल एक जल कूँ मीन बिसरै तलफत मर जाई ।

पिया बिन पीली भई रे ज्यो काठ घुन खाय ॥
 औषध मूल न सचरै रे (बाला) बंद फिर जाय ।
 उदासी होय बन बन फिरूँ रे बिथा तन छाई ॥
 दासि मीरा लाल गिरधर मिल्या हँ सुखदाई ।

[१०८]

तू मत गरजे माइ री साधाँ दरसण जाती ।
 राम नाम हिरदै बसै ग्राहिले मदमाती ॥
 माई कहँ सुन धीहड़ी काहे गुण फूली ।
 लोक सोवँ सुख नीदडी थै क्यो रैणज भूली ॥
 गेली दुनिया बावली ज्याँ कूँ राम न भावँ ।
 ज्याँ रे हिरदे हरि बसे त्याकूँ नीद न आवँ ॥
 चौवास्याँ की बावडी ज्याकूँ नीर न पीजँ ।
 हरि नाले अमृत भरै ज्याँकी आस करीजँ ॥
 रूप सुरगा रामजी मुख निरखत जीजँ ।
 मीर! व्याकुल विरहिणी अपणी कर लीजँ ॥

[१०९]

म्हाना गुरु गोविन्द री आण गोरल ना पूजाँ ।
 ओर ज पूजँ गोरज्याँ जी थै कूँ पूजो न गोर ।
 मन बंछत फल पावस्यो जी थै क्यूँ पूजे और ॥
 नहिं हम पूज्याँ गोरज्याँ जी नहिं पूजाँ अनदेव ।
 परम सनेही गोबिंदो थे काई जानो म्हाँरो भेव ॥
 बाल सनेही गोबिंदो साध संताँ को काम ।
 थै बेटो राठोड़ की थाने राज दियो भगवान् ॥
 राज करे ज्याँना करणे दीज्यो मै भगतारी दास ।
 सेवा साधू जनन की म्हाँरे राम मिलण की आस ॥
 लाजँ पीहर सासरो माइतणो मोसाल ।
 सबही लाजँ मेड़तिया जी थांसू बुरा कहे ससार ॥
 चोरी करौ न मारगी नहिं मै कहुँ अकाज ।
 पुत्र के मारग चालताँ शक मारो ससार ॥

नहिं थे पीहर सासरे नहीं पियाजी रो साथ ।
मीरा ने गोबिंद मिल्या जी गुरु मिलिया रूँदास ॥

[११०]

ऊदा—थाने बरज बरज में हारी भाभी मानो बात हमारी ।
राणें रोस कियो थाँ ऊपर साधाँ में मत जारी ॥
कुल को दाग लगै छै भाभी निन्दा हो रही भारी ।
साधाँ रे संग बन बन भटको लाज गमाई सारी ॥
बड़ा घर थे जनम लियो छै नाचो दे दे तारी ।
बर पायो हिंदवाणै सूरज थे काँई मन धारी ॥
मीरा गिरधर साध संग तज चलो हमारी लारी ।

मीरा—मीरा बात नही जग छानी ऊदा समझो सुघर सयानी ।
साधू भात पिता कुल मेरे सजन सनेही ग्यानी ॥
सत चरण की सरण रेंग दिन सत्त कहत हूँ बानी ।
राणाने समझावो जावो मैं तो बात न मानी ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर संतों हाथ बिकानी ॥

ऊदा—भाभी बोलो बात बिचारी ।
साधाँ की संगत दुख भारी मानो बात हमारी ।
छापा तिलक गलहार उतारो पहिरो हार हजारी ॥
रतन जड़ित पहिरो आभूषण भोगो भोग अपारी ।
मीरा जी थें चलो म्हेँल में थाने सोगन म्हारी ॥

मीरा—भाव भगत भूषण सजे सोल संतों सिंगार ।
ओढ़ी चूनर प्रेम की म्हाँरो गिरधर जी भरतार ॥
ऊदाबाई मन समझ जावो अपने घाम ।
राज पाट भोगो तुम्हीं, हमें न तासूं काम ॥

[१११]

मीरा मगन भई हरि के गुण गाय ।
साँप पिटारा राणा भेज्यो मीरा हाथ दियो जाय ।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम गई पाय ।
जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय ।
न्हाय धोय जब पीवण लागी हो अमर अँचाय ॥

सुल सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीरा सुलाय ।
 साँझ भई मीरा सोवन लागी मानो फूल बिछाय ॥
 मीरा के प्रभु सदा सहाई राखे बिघन हटाय ।
 भजन भाव में मस्त डोलती गिरधर पं बलि जाय ॥

[११२]

मुझ अबलाने माटी नीरांत थई ।
 सामलो घरेनु भूहारे साँचे रे ॥
 वाली गढ़ाऊँ बीठल वर केरी हार हरि ने भूहारे हइये रे ।
 बीन माल चतुरभुज चूड़लो सिद सोनी घरे जइये रे ॥
 झाँझरिया जगजीवन केरा किस्न गलाँ री कठी रे ।
 बिछुवा घुँघरा राम नरायण अनवट अनरजामी रे ॥
 पेटी घड़ाऊँ पुरुषोत्तम केरो टीकम नाम नूँ तालो रे ।
 कूँची कराऊँ कहनानन्द केरी तेमाँ घँगानूँ मारूँ रे ॥
 सासर बासो सजोने बँठी हवे नथी काइ काँचूँ रे ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरिनुँ चरणे जाचूँ रे ॥

[११२] नीरात = आश्रय, आचार, भरोसा, अवलम्ब ।

मिलन और आनन्दोन्माद

[११३]

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे
मे तो मेरे नारायण की आपहि हो गई दासी रे ।
लोग कहै मीरा भई बावरी न्यात कहै कुलनासी रे ॥
विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हौंसी रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे ॥

[११४]

रंग भरी रंग भरी रंग सूं भरी री ।
होली आई प्यारी रंग सूं भरी री ॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल पिचकारिनि की लगी झरी री ।
चोवा चन्दन और अरगजा केसर गागर भरी घरी री ॥
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चेरी होय पायन में परी री ॥

[113-15] "No words can express the wonderful love and the ecstacy of happiness that was shed abroad in my heart. I wept aloud with joy and love and I do not know but I should say I literally bellowed out the unutterable gushings of my heart. These waves came over me and over me and over me one after the other, until I recollect I cried out. I shall die if these waves continue to pass over me."

President Finnes's accounts in The Varieties Religious Experiences 255

The difference between trance and transport (ecstasy) is this. In a trance the soul gradually dies to outward things, losing the senses and living unto God. But a transport came on by one sole act of His Majesty wrought in the innermost part of the soul with such swiftness that it is as if the higher part

[११५]

बदला रे तू जल भरि ले आयो ।
छोटी छोटी बूँद न बरसन लागी कोयल सबद सुनायो ।
गाजें बाजें पवन मधुरिया अंबर बदरां छायो ॥
सेज सँवारी पिया घर आये हिलमिल मंगल गायो ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी भाग भलो जिन पायो ॥

[११६]

जोसीड़ा ने लाख बधाई रे अब घर आये स्याम ।
आजि आनन्द उमगि भयो है जीव लहै सुखधाम ॥
पाँच सखी मिलि पोब परसि के आनंद ठाम् ठाम ।
बिसर गई दुख निरखि पिया कूँ सुफल मनोरथ काम ॥
मीरा के सुख सागर स्वामी भवन गवन कियो राम ।

thereof were carried away and the soul were leaving the body Rapture comes in general as a shock quick and sharp, before you can collect your thoughts or help yourself in any way. You see and feel it as a cloud, or a strong eagle rising upward and carrying you away on its wings You feel and see yourself carried away, you know not whither. This supreme state of ecstasy never lasts long, but although it ceases it leaves the will so inebriated and the mind so transported out of itself that such a person is incapable of attending to any thing, although wide awake. She seems asleep as regards all earthly matters"

—St Teresa

(११५) बरसात तो यो सर्वत्र ही सुखद और सुहावनी होती है पर राजस्थान में उसका और ही आनन्द है क्योंकि मेघ के दर्शन वहाँ दुर्लभ होते हैं । मेघ उधर गरजे-लरजने लगते हैं इधर मोर बोलने लगते हैं और पक्ष पसार कर नाचने लगते हैं । मिलन के समय यह सारा दृश्य मीरा के हृदय को गुदगुदा रहा है क्योंकि 'सेज सँवारी पिया घर आये हिलमिल मंगल गायो' । समस्त प्रकृति इस मिलन-बेला में मधु घोल रही है । मीरा का सारा वातावरण सुहावना और सजीला हो गया है क्योंकि यह प्रिय-मिलन का समय है ।

(११६) इस पद में मिलन जन्य आनन्दोन्माद का बड़ा ही भव्य एवं मनोहारी चित्रण है 'बिसरि गई दुख निरखि पिया को' में कितनी स्वाभाविक उल्लासपूर्ण सुखानुभूति की दिव्य व्यंजना है । 'उसे' पाकर जन्म-जन्म के प्यासे प्राण जुड़ा गया, परितृप्त हो गये !

[११७]

रे साँवलिया म्हारे आज रंगीलो गणगोर छै जी ।
 काली पीली बदली में बिजली चमके मेघ घटा घनघोर छै जी ॥
 दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही सोर छै जी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणो में म्हाँरो जोर छै जी ॥

[११८]

झुक आई बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की ।
 सावन में उमंग्यो मेरो मनवा भनक सुनी हरि आवन की ।
 उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आयो दामिण दमक झर लावन की ।
 नॉन्हीं नॉन्ही बूंदन मेहा बरसै गीतल पवन सोहावन की ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर आनंद मंगल गावन की ।

[११९]

सावन दे रह्या जोरा रे घर आयो जी स्याम मोरा रे ।
 उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आया गरजत हूँ घनघोरा रे ।
 दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल कर रही सोरा रे ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर जो वारूँ सोही थोरा रे ॥

[१२०]

साजन घर आबो मिठबोला ।
 कब की ठाढ़ी पथ निहारूँ थाँ हीं आया होंसी भला ।
 आबो निसंक संक मत मानो आयो ही सुख रहला ॥
 तन मन बार करूँ न्यौछावर दीजो स्याम मोहेला ॥
 आतुर बहुत बिलम नहिं करणा आयीं ही रंग रहेला ॥
 तेरे कारण सब रंग त्यागा काजल तिलक तमोला ॥
 तुम देख्याँ बिन कल न परत हूँ कर घर रही कपोला ।
 मीरा दासी जनम जनम की दिल की घुन्डी खोला ॥

[१२१]

सहेलियाँ साजन घर आया हो ।
 बहोत दिनाँ की जोबती बिरहणि पिव पाया हो ।
 रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूँ हो ।
 पिया का दिया सनेसड़ा ताहि भोत निवाजूँ हो ॥

पाँच सखी इकठी भई मिलि मगल गावैं हो ।
 पिय का रली बधावणों आणव अंगि न आवैं हो ॥
 हरि सागर सूं नहरो नेणा बँध्या सनेह हो ।
 मीरा सखी के आगण वूषाँ बूठा भेह हो ॥

[१२२]

म्हाराँ ओलगिया घर आया जी ।
 तन की ताप मिटी सुख पाया हिल मिल मगल नाया जी ॥
 धन की धुन सुनि मोर मगन भया यूँ आणव आया जी ।
 मगन भई मिलि प्रभु अपणाँ सूं भौ का दग्ध मिटाया जी ॥
 चद कूँ देखि कमोदनी फूलें हरखि भया मेरी काया जी ।
 रग रग सीतल भई मोरि सजनो हरि मेरे महल सिधायी जी ॥
 सब भगतन का कारज कीन्हा सोई प्रिय में पाया जी ।
 मीरा विरहिणि सीतल होई दुख दुन्द न्हसाया जी ॥

[१२३]

म्हें तो राजी भई मेरे मन में मोहि मिया मिले इक छिन मे ।
 पिया मिल्या मोहि किरिपा कीन्हीं दीवार दिखाया हरि ने ॥
 सतगुरु सबद लखायो असरी ध्यान लगाया धुन में
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर मगन भई मेरे मन में ॥

(१२१) विरहिणी युग-युग से प्रीतम प्यारे की प्रतीक्षा में थी आज वह 'उसे' पाकर निहाल हो रही है । इस मधुर मगल मिलन में आनन्द उमड़ा-उमड़ा फिरता है, हृदय में अमा नहीं रहा है । पिया ने आने को सदेश भेजा था, वह आज सच निकला, और इसलिये विरहिणी कह रही है कि मैं अपने प्यारे के सदेश का बहुत आदर करती हूँ क्योंकि वह मेरा प्रियतम अपनी बात का सच्चा है । आज आनन्द-मगल का क्या कहना । जिस प्रकार सागर से बूँदे उठ कर फिर मेघ रूप में कहीं बरस जाती है इसी प्रकार हरि रूपी सागर से नेह की बूँदे उठ कर आज मीरा के आँगन में झमाझम बरस रही है ।

(१२२) एक बार प्रभु के शीतल अमृत स्पर्श का अनुभव कर लेने पर तन का सारा ताप, हृदय की सारी व्यथा मिट जाती है और जन्म-जन्म के सकट क्षण में दूर हो जाते हैं । हृदय के अंदर एक अपूर्व आधार और भरोसा बना रहता है । चद्रमा को देख कर जिस प्रकार कुमदिनी खिल उठती है वैसे ही मीरा का हृदय, मन, प्राण, उसका रोम-रोम खिल उठा है, रग रग शीतल हो गया है ।

[१२४]

चाला वही देस प्रीतम चाला वाही देस ।
 कहो कसूमल साड़ी रंगावा कहो तो भगवा भेस ।
 कहो तो मोतिपन मांग भरावा कहो छिटकावा केस ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुगज्यो बिड़द नरेस ॥

[१२५]

फागुन के दिन चार रे होरी खेल मना रे ।
 बिन करताल पखावज बाज अनहद की झनकार रे ।
 बिन सुर राग छतीसूं गावें रोम रोम रग सार रे ॥
 सील सतोख की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकारी रे ।
 उडत गुलाल लाल भए बादल बरसत रंग अपार रे ॥
 घट के पट सब खोल दिए है लोक लाज सब डार रे ।
 होरी खेले पीव घर आये सोई प्यारी प्रिय प्यार रे ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल बलिहार रे ॥

[१२६]

बाल्हा मैं वेंरागिण हूँगी हो ।
 जौं जौं भेष म्हारो साजन रीझं सोइ भेष धरूँगी हो ॥
 सील सतोष धरूँ घट भीतर समता पकड़ रहूँगी हो ।
 जाको नाम निरजण कहिये ताको ध्यान धरूँगी हो ॥
 गुरु ध्यान रगूं तन कपड़ा मन मुद्रा फेरूँगी हो ।
 प्रेम प्रीत सूँ हरिगुण गाऊँ चरणन लिपट रहूँगी हो ॥
 या तन की मैं कलूँ कींगरी रसना राम रटूँगी हो ।
 मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर साधा संग रहूँगी हो ॥

(१२४) मीरा कह रही है ऐ मेरे साजन चलो तुम्हारे देश चलूँ । कहो तो कुसुम्भी साड़ी पहन लूँ, कहो तो भगवा वेश धारण कर लूँ, कहो तो माँग मोतियो से भरा लूँ या कहो तो केश बिखेर लूँ ।

राजस्थान में प्रायः सुहागिनें काली चौड़ी पाटियो पर मोतियो की लडियो से माँग सजती हैं ।

[१२७]

तू नागर नन्दकुमार तोस्यो लाग्यो नेहरा ।
 मुरली तेरी मन हरयो बिसरयो ग्रिह व्योहार ॥
 जब ते खवननि धुनि परी ग्रिह अंगना न सुहाइ ।
 पारधि ज्यों चूकै नहीं मृगो बेधि दई आई ॥
 पानी पीर न जाणई मीन तलफि मरि जाई ।
 रसिक मधुप के सरम को नाह समझत कंवल सुभाइ ॥
 दीपक को जू दया नहीं उडि उडि भरत पतंग ।
 मीरा प्रभु गिरधर मिले जैसे पाणी मिल गयो रग ॥

[१२८]

हमरे रौरे लागलि कैसे छूटै ।
 जैसे हीरा हनत निहाई तैसे हम रौरे बनि आई ॥
 जैसे सोना मिलत सोहागा तैसे हम रौरे दिल लागा ।
 जैसे कमल नाल बिच पानी तैसे हम रौरे मन मानी ॥
 जैसे चँदहि मिलत चकोरा तैसे हम रौरे मिल जोरा ।
 जैसे मीरा पति गिरधारी तैसे मिलि रहु कुंज बिहारी ॥

(१२७) सच्चा प्रेमी इस बात की ओर नहीं देखता कि उसका प्रियपात्र उससे प्रेम करता है या नहीं, वह प्रेम करने में ही आनन्द पाता है । प्रेम का नशा बहुत ही मादक होता है । हरिणी वाणा के स्वर पर आनन्द-विभोर होकर मृत्यु की गोद में छलाँग मार जाती है । जल के बिना मछली का जीवन असंभव है परन्तु जल को उसकी व्याकुलता का क्या पता ? भोरा काठ छेद देता है पर कमल-कोष में बन्दी हो जाता है और घुट-घुट कर प्राण दे देता है परन्तु कमल उस पर क्यों प्रीति करता है ? शलभ दीपक पर अपने को निछावर कर देता है और भस्म हो जाता है परन्तु निर्मम दीपक को उससे क्या गरज ? इसी प्रकार वह 'निठुर' (हाय, 'निठुर' कहते भी तो नहीं बनता जो प्राणी को इतना प्रिय और इतना 'अपना' है उसे 'निठुर' कैसे कहा जाय ?) भले ही द्रवित न हो अपना हृदय तो प्यार किये बिना नहीं मानता । मीरा कहती है कि मैं तो अपने साँवरे के रग में यो घुल गई जैसे पानी में रग घुल जाता है ।

[128] Nothing can show God's grace more than that He pines for man, His chosen bride whose wordliness and pride refuse to surrender to the soft alluring melodies of the flute of a reed ever resounding since man's separation from God God

[१२९]

म्हारी जमन मरण को साथी थाने नहिं विसरूं दिन राती ।
 तुम देख्यां बिन कल न पड़त हूं जानत मेरी छाती ॥
 ऊंची चढ़ चढ़ पथ निहाळूं रोय रोय अखिया राती ।
 यो संसार सकल जग झूठो झूठा कुलरा न्याती ॥
 दोउ कर जोड्यां अरज हूं सुण लीज्यो मेरी बाती ।
 यो मन मेरो बड़ो हरामी ज्यूं मदमाती हाथो ॥
 सदगुरु हस्त धर्यो सिर ऊपर आकुस दे समझाती ।
 पल पल तेरा रूप निहाळूं निरख निरख सुख पाती ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणों चित राती ।

[१३०]

आली म्हाने लागे बूदावन नीको ।
 घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोबिंद जी को ।
 निरमल नीर बहत जमना में भोजन दूध दही को ॥
 रतन सिंघासण आप बिराजे मुगट धर्यो तुलसी को ।
 कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको ।

lays aside all His godliness in order to win over man, He tries all the arts and wiles. The climax is reached when we read in Jaideva's 'Gita Govinda' of God cajoling man by saying, "Oh Thou! surrender to me, thy generous lotus feet!"
 'देहि में पदपल्लवमुदारम्' ।

—*Theory and Art of Mysticism*

[१३०] यह पद तब का मालूम होता है जब मीरा न अपने 'साजन' से मिलने के लिए 'अभिसार' किया था और वृन्दावन आई थी । इस पद में मीरा के आनन्द का कितना सुन्दर और स्वभाविक उल्लासपूर्ण वर्णन है । 'कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को' में कितनी गभीर व्यञ्जना है । यह स्वयं मीरा के हृदय की स्थिति है—स्वयं मीरा मुरली की मोहिनी में एक कुंज से दूसरे कुंज में भटक रही है, उस 'न मिलने वाले', उस 'ना ना की मधुर मूरत' को भर आँख देख पाने के लिए । वृन्दावन के वे कुंज अब भी प्रिया-प्रीतम की मिलन माधुरी से उल्लसित और सुवासित हैं ।

[१३१]

चलो मन गंगा जमना तीर ।

गंगा जमना निरमल पानी सीतल होत सरीर ।

बसी बज्रवत गावत कान्हो संग लियो बलवीर ॥

मोर मुगट पीतांबर सोहं कुडल झलकत हीर ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर सीर ॥

[१३२]

हो कान्हा किन गूँथी जुल्फां कारियाँ ।

मुघर कला प्रवीन हाथन सूं जसुमतिजू ने सँवारियाँ ॥

जो तूम आओ मेरी बाखरियाँ जरि राखूं चदन किवारियाँ ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर इन जुलफन पर वारियाँ ॥

[१३३]

गोकुला के वासी भले ही आए गोकुला के वासी ॥

गोकुल की नारि देखत आनंद मुखरासी ।

एक गावत एक नाचत एक करत हांसी ॥

पीताम्बर फेटा बाँधे श्ररगजा सुबासी ।

गिरधर से मुनवल ठाकुर मीरा सी दासी ॥

[१३४]

सखी म्हारो कानूँडो कलेजे की कोर ।

मोर मुगट पीतांबर सोहं कुडल की झकझोर ॥

बिद्रावन की कुज गलिन में नाचत नन्द किसोर ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चितचोर ॥

[१३५]

जायो बसीबारे ललना जागो मेरे प्यारे ।

रजनी बीती ओर भयो है घर घर खुले किबारे ।

गोपी दही मथत सुनियत है कँगना के झनकारे ॥

[१३५] प्रिय-जागरण का कितना मनोहर दृश्य है । सवेरा हो गया है । घर घर के किवाड़ खुल गए हैं । ग्वालिनें दही मह रही हैं और दही महते समय उनके हाथों के कयन और चूड़ियाँ बज रही हैं । ग्वाल बाल

उठो लाल जी भोर भयो है सुर नर ठाढ़े द्वारे ।
 ग्वालबाल सब करत कुलाहुल जय जय सबद उच्चार ।
 माखन रोटी हाथ में लीनी गडवन के रखवारे ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर शरण आया कुँ तारे ॥

[१३६]

गोहने गुपाल फिहँ ऐसी आवत मन में ।
 अवलोकत बारिज बदन बिबस भई तन में ॥
 मुरली कर लकुट लेऊँ पीत बसन धाहँ ।
 काछी गोप भेष मुकट गोधन संग चारहँ ॥
 हम भई गुल्म लता बृन्दावन रेंनाँ ।
 पसु पछी मरकट सुनी शवन सुनत बैना ॥
 गुरुजन कठिन कानि कासो री कहिए ।
 मीरा प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए ॥

[१३७]

स्याम म्हांसूँ ऐडो डोले हो ।
 औरन सूँ खेलै धमार म्हांसूँ मुख हूँ न बोले हो ॥
 म्हांरी गलियाँ ना फिरे बाके आंगण डोले हो ।
 म्हांरी अँगुरी ना छुवे बाँकी बहियाँ मोरे हो ॥
 म्हांरो अँचरा ना छुवै बाको घूँघट खोलै हो ।
 मीरा के प्रभु साँवरो रगरसिया डोले हो ॥

आकर शोर मचा रहे हैं—सबके सब हाथ मे रोटीमाखन लिए हुए गाय चराने के लिए अपने प्यारे सखा कन्हैया को बुलाने आये हैं । ऐसे भोर के समय मीरा अपने प्राणाधार श्री गिरधर नागर को जगा रही हैं—
 ‘जागो वसीवाले ललना, जागो मेरे प्यारे ।’ यह यशोदा का अपने कुँवर का जगाना नहीं है, यह प्रिया का अपने प्रियतम को जगाना है ।

[१३७] इस पद मे प्रणय-जन्य ईर्ष्या का कितना सुन्दर एवं भावपूर्ण मर्मस्पर्शी चित्र है जिसमे प्रेमिका अपने प्रणय देवता की ‘निष्ठुरता’ की मीठी-मीठी शिकायत कर रही है ।

[१३८]

आली साँवरो की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है ।
 लागत बेहाल भई तन की सुधि बुधि गई ॥
 तन मन व्यापो प्रेम मानो मतवारी है ।
 सखियाँ मिलि दुइ चारी बावरी सी भई न्यारी ॥
 हो तो वाको नीको जानो कुंज को बिहारी है ।
 चंद को चकोर चाहें दीपक पतंग दाहें ॥
 जल बिना मीन जैसे तैसे प्रीत प्यारी है ।
 बिनती करो हे स्याम लागों में तुम्हारे पाँव ॥
 मीरा प्रभु ऐसे जानो दासी तुम्हारी है ।

[१३९]

प्रेमनी प्रेमनी रे मन लागे कटारी प्रेमनी रे ।
 जल जमुना मां भरवा गया तां हतो गागर साथे हेमनी रे ॥
 काचे ते तातणे हरिजी ए बाँधो जेम खिचे तेम तेमनी रे ।
 मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर साँवली सूरत सुभ एमनी रे ॥

[१४०]

माई मेरो मोहने मन हर्यो ।
 कहा कहुँ कित जाऊँ सजनी प्राण पुरुष सूँ वरयो ॥
 हूँ जल भरने जात थी सजनी कलस साथे धरयो ।
 साँवरो सी किसोर मूरत कछुक टोनों कर्यो ॥
 लोक लाज बिसारि डारो तबही कारज सर्यो ।
 दासि मीरा लाल गिरधर छान ये वर वर्यो ॥

[138] The mystic sees a light that never was no sea and land He hears a sound which ear has not heard, He conquers space and time He becomes luminous in his ecstasy and exhales sweet perfumes. Even the birds and beasts of the forest love him such is the tenderness that he diffuses all around, Strange feelings surge from the unfathomable depths of his heart The voice of the whole humanity is uttered in his prayer'

—Theory and Art of Mysticism

[१४१]

छाड़ो लैंगर मोरी बहियाँ गहो ना ।
 मे जो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना ।
 जो तुम बहियाँ मेरो गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना ॥
 बृन्दावन की कुंज गली में रीत छोड़ अनरीत करो ना ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित डारे टरो ना ॥

[१४२]

आवत मोरी गलियन में गिरधारी में तो छुप गई लाज की मारी ।
 कुसुमल पाग केसरिया जामा ऊपर फूल हजारी ।
 मुकुट ऊपर छत्र बिराजे कुंडल की छवि न्यारी ॥
 केसरी चीर दरयाई को लहंगो ऊपर अंगिया भारी ।
 आवत देखी किसन मुरारी छुप गई राधा प्यारी ।
 मोर मुकुट मनोहर सोहे नथनी की छवि न्यारी ।
 गल मोतिन की माल बिराजें चरण कमल बलिहारी ॥
 ऊभी राधा प्यारी अरज करत हैं सुणजे किसन मुरारी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर वारी ॥

[१४३]

भई हों बावरी सुन के वांसुरी हरि बिन कछु न सुहाये माई ।
 लवन सुनत मेरी सुघ बूध बिसरी लगी रहत तामें मनकी गांसुरी ।
 नेम घरस कोन कीनी मुरलिया कोन तिहारे पासु री ।
 मीरा के प्रभु बस कर लीने सप्त सुरन तानन की फांसु री ॥

[१४४]

आज अनारी ले गयो सारी बंठ कदम की डारी हे माय ।
 म्हारे खेल पडया गिरधारी हे माय, आज अनारी० ।
 मैं जल जमुना मां भरन गई थी आ गयो कृष्ण मुरारी हे माय ।
 ले गयो सारी अनारी म्हारी जल में ऊभी उधारी हे माय ।
 सखी सयानी मोरी हंसत हैं हंसि हंसि दे मोहि तारी हे माय ॥
 सास बुरी अर ननद हठीली लरि लरि दे मोहि गारी हे माय ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की वारी हे माय ॥

[१४५]

या ब्रज में कछू देख्यो री टोना ।

ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना ।

दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी ले लेहु री कोई स्याम सलोना ॥

बिद्रावन की कुज गलिन में आँख लगाइ गयो मनमोहना ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुन्दर स्याम सुघर रसलोना ॥

[१४६]

कोई स्याम मनोहर लो री, सिर धरे मटुकिया डोलें ।

दधि को नाम बिसरि गई ग्वालिन हरि ल्यो, हरि ल्यो बोलें ॥

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चेरी भई बिन मोलें ।

कृष्ण रूप छकी हूं ग्वालनि औरहि और औरें बोलें ॥

[१४७]

कमल दल लोचना तने कैसे नाथ्यो भुजग ।

पेंसि पियाल कालीनाग नाथ्यो फण फण नितं करंत ॥

कूद पर्यो न डर्यो जल माहीं और काहूँ नहि संक ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर श्री बृन्दावनचद ॥

[१४८]

होली खेलत हूं गिरधारी ।

मुरली चग ब्रजत डफ न्यारो संग जुवति ब्रजनारी ।

चंदन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी ।

[१४५-१४६] ये भोरी अहीरिने भी कितनी भाव्यशालिनी थी जिनकी चुटकियो पर श्यामसुन्दर नाचे । इतके पूर्व पुण्य का हिसाब कौन लगा सकता है जिन्होंने हरि को खेलाया—अन्त सुख से खेलाया और बाह्य सुख से भी उन्हें पाकर मुख का चुम्बन दिया । भगवान् ने उन्हें अन्तः सुख दिया, जिन्होंने एकनिष्ठ भाव से उन्हें भजा । श्री कृष्ण ने जिनका मन मन लग गया, जो घर और द्वार और पति पुत्र तक को भूल गयी, जिनके लिए अन मान और स्वजन विष से हो गये वे एकान्त में वन बसाने लगी ।

इन ग्वालिनो के प्रेम का कोई क्या बखान करे ? दही बेचने चली है, राह में श्यामसुन्दर मिल जाते हैं, फिर सारी सुख-बुध भूल जाती है—‘लो दही, लो दही’ के बजाय ‘लो गोपाल लो गोपाल’ कहने लगती है ।

सूरदास का ‘कब की मह्यो लिये सिर डोलें’ पद इसी भाव का बड़ा ही सुन्दर है ।

भरि भरि मूठी गुलाल लाल चहुँ देत सवन पै डारी ।
छेल छबीले नवल कान्हू सँग स्यामा प्राण पियारी ।
गावत चार धमार राग तहँ दै दै कल करतारी ।

[१४९]

नदनदन बिलमाई बदरा ने घेरी माई ।
इत घन गरजे उत घन लरजे चमकत बिज्जु सवाई ।
उमड़ उमड़ चहुँ दिसि से आया पवन चलै पुरवाई ॥
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाई ॥

[१५०]

सुनी हो मं हरि आवन की आवाज ।
महँल चढ़े चढ़ि जोऊ मेरी सजनी कब आवे महाराज ॥
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज ।
उमंग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसै दामणि छोड़ी लाज ॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन के काज ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी बेगि मिलो महाराज ॥

[१४९] इस पद की गति और ध्वनि पर, लय और ताल पर ध्यान दीजिये । काव्य-रचना की दृष्टि से मीरा के गीतों में यह बहुत ही पुष्ट है । उमड़ती हुई मेघमाला के साथ पुरवाई ने वर्षा काल का एक बहुत ही सजीला चित्र उपस्थित कर दिया है । सारंग राग में यह बड़े ही मीठे ढंग से गाया जा सकता है ।

[१५०] समस्त प्रकृति निरावृत होकर, रस में सराबोर होकर, अपने प्राण-वल्लभ से मिल रही है उस समय मीरा को हरि का वियोग और खलने लगता है और बार बार वह महल पर चढ़ कर 'उन' के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है । 'दामिणि छोड़ी लाज' में कितना गम्भीर सकेत है—आज समस्त प्रकृति लज्जा छोड़कर अपने प्रिय से मिल रही है, इन्द्र से मिलने के लिए पृथ्वी ने नयी हरी साड़ी पहन ली है । ऐसे समय में—जब चारों ओर मिलन का समा बँधा हो प्रियतम के विरह में मीरा झुलस रही है । वह प्रतीक्षा में है क्योंकि मिलन के इन उपकरणों में वह प्यारे की पगध्वनि सुन रही है, पैरो की वह पहचानी हुई आहट सुन रही है ।

प्रेम की पीर

[१५१]

सजन सुघ ज्युं जानै त्यूं लीजै हो ।
तुम बिन मोरे और न कोई कृपा रावरी कीजै हो ।
दिन नहिं भूख रैन नहिं निदरा यूँ तन पलपल छीजै हो ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल-बिछड़न मत कीजै हो ॥

[१५१-२००] भगवान् आनन्दमय हैं, रसस्वरूप हैं और फिर भी विशे-
षता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है—‘रसो वै सः । रस ह्येवायं
लब्धवानन्दी भवति’ । स्वयं रसरूप होकर भी वह रस का चाहक है और
स्वयं आनन्दरूप होकर भी तब तब तक आनन्दवान नहीं होता जब तक उसे
‘रस’ न मिल जाय । भगवान् स्वयं इस लीला का जाल पसारे हुए हैं
इसलिए स्पष्ट ही उसे प्रेम की भूख है । इसी लीला के लिये प्रेम-भिखारी
साईं राह चलते भक्त पर रग डाल देता है । जो दुनियादार हैं और जिनकी
वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं वे उस रग की लीला का अनुभव ही नहीं करते,
अपने रास्ते चले जाते हैं । पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो जाते हैं । उन्हें
एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है । जैसे प्रियतम ने छेड़खानी करके एक
ऐसी पुकार फेंकी है जिस की चोट सँभालना मुश्किल है । यह पुकार सारे
शरीर को बेध डालती है । इसकी कोई औषध नहीं, मन्त्र नहीं, जड़ी नहीं,
बूटी नहीं,—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे
लगी वही अभिभूत हो गया । साईं के इस रग की चोट खाया मनुष्य सब
रंगों से रग जाता है और फिर भी उसका रंग सब रंगों से न्यारा होता है ।

धन्य है जो प्रिय के साथ एकमेक होकर फाग खेलती है, धन्य है वे जो
उसकी मनभावती हैं और अभागिन हैं वह सखी जो ऐचा-तानी में ही रह
गई । और प्रिय का रूप क्या वणन किया जाय ? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे
अलग से कैसे समझावे ? वह तो उसी में समा गई है,—तन्मय हो गई है ।
वह कहने की चीज नहीं है, अनुभव करने की चीज है,—अकथ कहानी है—
विरलो के नसीब में इस परम सुख का अनुभव बड़ा है ।

—‘कबीर’ पृ० १७८

[१५२]

म्हारी सुघ ज्युं जानो त्यूं लीजो जी ।
 पल पल भीतर पंथ निहाळूं दरसण म्हाने दीजो जी ॥
 में तो हूँ बहु औगणहारी औगण चित मत दीजो जी ।
 में तो दासी थारे चरण कँवल की मिल बिछुरन मत कीजो जी ।
 मीरा तो सतगुर जी सरणे हरि चरणाँ चित दीजो जी ॥

[१५३]

म्हारे घर होता जाज्यो राज ।
 अब के जिन टाला दे जावो सिर पर राखूं बिराज ॥
 म्हे तो जनम जनम की दासी थें म्हारा सिरताज ।
 पावणडा म्हां के भलाँ ही पधारी सब ही सुधारण काज ॥
 म्हे तो बुरी छां थाँके भली छँ घणेरी तुम हो एक रसराज ।
 थाने हम सबहिन की चिंता तुम सब के हो गरिबनिवाज ॥
 सबके मुगट सिरोमनि सिर पर भानूं पुण्य की पाज ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर बाँह गहे की लाज ॥

[१५४]

में जाण्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसे होई री ।
 आये मेरे सजना फिर गये अँगना में अभागण रही सोई री ॥
 फाहेंगी चीर कल्ले गल कथा रहेंगी बैरागण होई री ।
 चुरिया फोहें माग बखेहें कजरा में डालें घोई री ॥
 निस बासर मोहि बिरह सतावें कल ना परत पल मोई री ।
 मीरा के प्रभु हरि अबिनासी मिलि बिछरो मत कोई री ॥

[१५५]

प्रभु जी थें कहाँ गया नेहड़ी लगाय ।
 छोड़ गया बिस्वास संघातो प्रेम की बाती बरभय ॥
 बिरह समंद में छोड़ गया छो नेह की नाव चलाय ।
 मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्योइ न जाय ॥

[१५४] इसमें 'शुग्धा' का रूप सामने आता है । एकबार सपने में 'वह' आधा मिलने के लिए भुजाएँ बढायी ही कि वह 'छलिया' खिसक गया । मित्रन का 'सुख' कैसा होता है वह जान ही न पाई ।

[१५३]

डारि गयो मनसोहन पासी ।

आंवा की डारि कोयल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरी हांसी ।

बिरह की मारी मैं बन बन डोलूँ प्राण तजूँ करवत ल्यूँ कासी ।

मीरा के प्रभु हरि अबिनासी तुम मेरे ठाकुर मैं थारी दासी ॥

[१५७]

माई म्हारी हरिहू न बूझी बात ।

पिड मासू प्राण पापी निकसि क्युँ नहि जात ॥

पाट न खाल्या मुखौं न बोल्या साँझ भई परभात ।

अबोलण जुग बीतण लागो तो काहे की कुसलात ॥

सावण आवण कह गया रे हरि आवण की आस ।

रैण अंधेरी बीज चमकै तारा गिणत निराम

लेइ कटारो कठ साखूँ महुंगी बिष खाइ ।

मीरा दासी राम राती लालच रही ललचाइ ॥

[१५८]

परम सनेही राम की निति ओलूँ री आवैं ।

राम हमारे हम हैं राम के रि बिन कछु न सुहावैं ॥

[१५६] 'मेरो मरण अरु जगकेरी हाँसी' में कितनी निगूढ़ व्यथा की सकेतभरी व्यजना है ! विरहिणी व्यथा में जल रही है, मर रही है, और दुनिया तमाशा देख-देखकर हँस रही है । उस वेदना को जगत क्या समझे; क्यों दुनिया समझे ! उसे समझने की क्या पड़ी है ?

[१५७] इस पद में प्रिय की उपेक्षा पर प्राणों की खोज का कितना सुंदर एवं भावपूर्ण वर्णन है । साँझ हुई, सवेरा हुआ, रात आई, रात गई दिन आया पर एक बार भी 'वह' मूँहसे मुँह खोलकर बोला तक नहीं, और इस प्रकार बिना बोले युग पर युग निकल गया । सावन भादो में आने की बात थी पर वह वायदा भी वायदा मात्र रह गया । रात अंधेरी है, बिजली रह-रह कर चमक उठती है और प्राणों के हाहाकार को उकसा रही है । ऐसा जो करता है कि कटार लेकर छाती में धुसे डलूँ । परन्तु तुरंत स्मरण हो आता है, नहीं नहीं 'वह' आने को कह गये हैं, कभी न कभी, एक न एक दिन मेरे भाग्य खुलेंगे, उनके दर्शन होंगे । इसी आशा भरे लालच में मीरा 'अपघात' नहीं करती ।

आवण कह गये अजहुँ न आये जिवड़ो अति अकुलावे ।
 तुम दरसन की आस स्मैया कब हरि दरस दिखावे ॥
 चरण कँवल की लगन लगी नित बिन दरसन दुख पावे ।
 मीरा कूँ प्रभु दरसन दीज्यो आर्णद बरण्यूँ न जावे ॥

[१५९]

रमइया बिन रह्यो इ न जाय ।
 खान पान मोहि फीको सो लागै नैणा रहे मुरझाइ ॥
 बार बार मे अरज करत हूँ रंण गई दिन जाइ ॥
 मीरा कहै हरि तुम मिलिया बिन तरस तरस तन जाइ ॥

[१६०]

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोइ
 घाइल की गति घाइल जाणै कि जिण लाई होइ ।
 जौहरी की गति जौहरी जाणै की जिण जौहर होइ ॥
 सूली ऊपरि सेज हमारी सोवणा किस विध होइ ॥
 गगन मडल पै सेज पिया की किस विध मिलणा होइ ।
 दरद की मारी बन बन डोलूँ बँद मित्या नहि कोइ ।
 मीरा की प्रभु पीर मिटंगी जब बँद साँवलिया होइ ॥

[१६१]

पिया बिन रह्यो इ न जाइ ।
 तन मन मेरो पिया पर बाळूँ बार बार बलि जाइ ॥

[१६१] 'लीज्यो कंठ लगाइ'

बाला सेज हमारी रे तूँ आव हौ बारी रे दासी तुम्हारी रे ।
 तेरा पथ निहळूँ रे सुन्दर सेज सवाळूँ रे जियरा तुम पर बाळूँ रे ।
 तेरा अँगना पेखो रे, तेरा मुखडा देखो रे तब जीवन लेखो रे ॥
 मिलि सुखडा दीजे रे, यह लहर लीजे रे, तुम देखे जीजे रे ।
 तेरे प्रेम कर माती रे तेरे रगडे राती रे, दादू बारणे जाती रे ॥

—दादू

बालहा आब हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे ।
 सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोको कहै अदेह रे ।
 एकमेक तूँ सग न सूती तब लग कैसा नेह रे ॥
 है कोइ ऐसा पर उपकारी हरि सो कहै सुनाइ रे ।
 ऐसे हाल कबीर भए है बिन देखे जिव जाइ रे ॥

निस दिन जोहूँ बाट पिया की कब रे मिलोगे आइ ।
मीरा के प्रभु आस तुम्हारी लीज्यो कंठ लगाइ ॥

[१६२]

मैं बिरहिणि बैठी जागूँ जगत सब सोवै री आली ।
बिरहिणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड पोवै ।
इक बिरहिणि हम ऐसी देखी अंसुवन की माला पोवै ॥
तारा गिण-गिण रंण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल के विछुड न जावै ॥

[१६३]

सखी मेरी नौद नसानी हो ।

पिया के पंथ निहारत सिगरी रंण बिहानी हो ॥
सब सखियन मिल सोस दई मन एक न मानी हो ।
बिन देख्याँ कल नाहि पडत जिय ऐसी ठानी हो ॥
अगि अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो ।
अंतर वेदन बिरह की वह पीड न जानी हो ॥
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो ।
मीरा व्याकुल बिरहिणी सुध - बुध बिसरानी हो ॥

[१६४]

मैं हरि बिन क्यूँ जीवूँ री माइ ॥

पिय कारण बोरी भई ज्यूँ काठहि धुन खाइ ।
ओखद मूल न सचरै मोहि लाग्यौ बौराह ॥
कमठ दादुर बसत जल में जलहि तै उपजाइ ।
मीन जलके बीछुरै तन तलफि करि मरि जाइ ॥
पिय हूँडन बन बन गई कहुँ मुरली धुन पाइ ।
मीरा के प्रभु लाल गिरधर मिलि गए सुखदाइ ॥

[१६५]

प्रभु बिना सरै माई ।

मेरा प्राण निकस्या जात हरि बिन ना सरै माई ॥
 कमठ दादुर बसत जल मे जल से उपजाई ।
 मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई ॥
 काठ लकरी बन परी काठ घुन खाई ।
 ले अगन प्रभु डारि आये भसम हो जाई ॥
 बन बन दूढत मै फिरी आली सुधि नहि पाई ।
 एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई ॥
 पात ज्यूं परी पीरी अरु बिपत तन छाई ।
 दासि मीरा लाल गिरधर मिल्या सुख छाई ॥

[१६६]

रमया बिन नीद न आवै ।

नीद न आवै विरह सतावे प्रेम की आँच ढुलावै ।
 बिन पिया जोत मन्दिर अँधियारो दीपक दाय न आवै ॥
 पिया बिना मेरी सेज अलूनी जागत रैण विहावै ।
 पिया कब रे घर आवै ।

दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणावै ।
 घुमट घटा ऊलर होइ आई दामिन दमक डरावै ।
 नैना झर लावै ।

[१६५] इस पद से मीरा के सजीले हृदय का भोलापन फूट निकला है ।
 'मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई' में मीरा की स्वाभाविक असहाय-
 वस्था का चित्रण है । मीरा की अल्हड़ लालसा कितनी स्वाभाविक,
 कितनी सहज है । — 'एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई' तथा
 'मिल्या सुख छाई' ।

कमल जो बिगसा मानसर

बिनु जल गएउ सुखाइ ।

सूखि बेलि पुनि पलुहै

जो पिउ सीचै आइ ॥

कहा करूँ कित जाऊँ मेरी सजनी वेदन कूण बुतावै ।
 बिरह नागण मोरी काया डसी है लहर लहर जिव जावै ।
 जडी घस लावै ।
 को है सखी सहेली सजनी पिया कू आन मितावै ।
 मोरा कूँ प्रभु कब रे मिलोगे मनमोहन मोहि भावै ।
 कब हैस कर बतलावै ।

[१६७]

सोवत ही पलका में मैं तो
 पलक लगी पल से पिय आये ।
 मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ
 जाग परी पीव डूँड न पाये ।
 और सखी पिय सोइ गमाये
 मैं जु सखी पिय जागि गमाये ।

[१६८]

आये आये जी म्हाँरो म्हाराज आये ।
 निज भवतन के काज बनाये ।
 तज बैकुंठ तज्यो गरुडासन पवन बेग उठ धाये ।
 जब ही दृष्टि पडे नदनंदन प्रेम भगति रस धाये ।
 मोरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाये ॥

[१६९]

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिख ही न जाइ ।
 कलम धरत मेरो तन काँपत हिरदो रहो थराइ ।
 बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै झराइ ॥
 किस बिध चरण कमल मैं गहिहौँ सबहि अग थराइ ।
 मोरा कहै प्रभु गिरधर नागर सब ही दुख बिसराइ ॥

[१६७] सुघर स्याम सखि स्वप्न मिलि सपदि सिरायो जीव ।

वै जिमि सोय गँवावती जागि गमायो पीव ॥

—अर्जुन दास

आजु सखी सपने हरि आये री ।

और सखी पिय सोइ गमावत हौँ सखि साजन जागि गमायो री ॥

—सूरदास

[१७०]

प्रीतम कूं पतियाँ लिखूं कडबा तू ले जाइ ।
 जाइ प्रीतम जी सूं यूँ कहैं थारी बिरहणि धान न खाइ ॥
 मीरा दासी ब्याकुली रे पिव पिव करत बिहाइ ।
 बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्यौ इ न जाइ ॥

[१७१]

नीदलडी नहि आवैं सारी रात किस बिधि होइ प्रभात ॥
 चमक उठी सपने सुध भूली चद्रकला न सोहात ।
 तलफ तलफ जिब जाय हमारो कब रे मिलो दिनानाथ ॥
 भइहूँ दिवानी तन सुध भूली कोई न जानी म्हाँरी बात ।
 मीरा कहैं बातों सोइ जानै मरण जीवन उण हाथ ।

[१७२]

नातो नाम का रे मोसो तनक न तोड़यो जाइ ।
 पानाँ ज्यूं पीली पडी रे लोग कहें िड रोग ॥
 छाने लाँघण में किया रे राम मिलन के जोग ।
 बाबल बंद बुलाइया रे पकड़ दिखाइ म्हाँरी बाँह ॥
 मूरिख बंद मरम नहि जाणं करक कलेजा माँह ।
 जा बंदों घर आपणे रे मेरो नांव न लेइ ॥
 में तो दाधी बिरह की रे तूँ काहे को औषद देइ ।
 मांस गले गल छीजिया रे करक रह्या गल आहि ।
 आँगलिया रो मूदड़ो म्हाँरे आवण लागो बाँहि ॥
 रहो रहो पापी पपीहरा रे पिव को नाम न लेइ ।
 जे कोई बिरहणि साम्ले पिव कारण जिव देइ ॥
 खिण मंदिर खिण आँगणे रे खिण खिण ठाढ़ी होइ ।
 घायल ज्यूं घूमूं सदा री म्हाँरी बिथा न बूझैं कोई ॥
 काढ़ि कलेजो में धरूं रे कौवा तू ले जाइ ।
 ज्याँ देसाँ म्हाँरो पिव बसैं वं देखैं तू खाइ ॥
 म्हाँरे नातो नांव को रे और न नातो कोई ।
 मीरा ब्याकुल बिरहिणी रे पिया दरसन दीजो मोइ ॥

[१७३]

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री ।
तलफत तलफत कल न परत है बिरह बाण उर लागी री ।
निस दिन पथ निहाळू पीव को पलक न पल भरि लागी री ।
पीव पीव में रटूँ रात दिन दूजो सुधि बुधि भागी री ।
बिरह भुबंग मेरो डस्यो हूँ कलेजो लहरि हलाहल जागी री ॥
मेरी आरति भेटि गोसाईं आइ मिलौ मोहि सागी री ।
मीरा व्याकुल अति उकलाणी पिया की उमगि अति लागी री ॥

[१७४]

राम नाम मेरे मन बसियो रसियो राम रिझाऊँ ए माय ।
में मदभागिण करम अभागिण कीरत कैसे गाऊँ ए माय ॥
बिरह पिंजर की बाढ सखी री उठ कर जी हुलसाऊँ ए माय ।
मन कूँ मार सजूँ सतगुरु सँ दुरमत दूर गमाऊँ ए माय ॥
जाको नाम सुरत की डोरी कडियाँ प्रेम चढ़ाऊँ ए माय ।
सान को ढोल बन्धो अति भारी मगन होय गुण गाऊँ ए माय ॥
तन कहुँ ताल मन कहुँ मोरचग सोती सुरत जगाऊँ ए माय ।
निरत कहुँ में प्रीतम आगे अमरापुर पाऊँ ए माय ॥
मो अबला पर किरपा कीज्यो गुण गोविन्द के गाऊँ ए माय ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर रज चरणाँ की पाऊँ ए माय ॥

[१७५]

स्यामसुंदर पर बार ।
जीवडा में बार डारूँगी स्यामसुन्दर ॥ ० ॥
तेरे कारण जोग धारणा लोक लाज कुल डार ।
तुम देख्याँ दिन कल ना पड़त है नैन चलत दोऊ बार ॥
कहा कहुँ कित जाऊँ मोरी सजनी कठिन बिरह की धार ।
मीरा कहूँ प्रभु कब रे मिलोगे तुम चरणाँ आधार ॥

[१७६]

पिया इतनी विनती सुण मोरी कोई कहियो रे जाय ।
ओरन रसबतियाँ करत हो हम सँ रहे चित चोरी ॥

तुम बिन मेरे और न कोई मैं सरणागत तोरी ।
 आवन कह गये अजहुँ न आये दिवस रहे अब थोरी ।
 मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे अरज कळ कर जोरी ॥

[१७७]

करणां सुणि स्याम मेरी ।
 मैं तो होइ रही चेरी तेरी ।
 दरसन कारण भई बावरी बिरह बिथा तन घेरी ।
 तेरे कारण जोगण हूँगी बूँगी नग्न बिच फेरी ।
 कुंज सब हेरी हेरी ॥
 अग भभूत गले झिग छाला यो तन भसम कळूँगी ।
 अजहुँ न मिल्या राम अबिनासी बन बन बीच फिळूँगी ।
 रोऊँ नित टेरी टेरी ॥
 जन मीरा को गिरधर मिलिया दुख मेटण सुख भेरी ।
 रूम रूम माता भइ उर में मिट गई फेरा फेरी ॥

७८]

पिया अब घर आज्यो मेरे तुम मोरे हूँ तोरे ।
 मैं जन तेरा पथ निहारूँ मारग चितवत तोरे ॥
 अवधि बढी तो अजहुँ न आये दुतियन सँ नेह जोरे ।
 मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे दरसन बिन दिन दोरे ॥

[१७९]

भुवनपति तुम घर आज्यो हो ।
 बिथा लगी तन मांहिने म्हारी तपन ब्रुझाज्यो हो ॥
 रोवत रोवत डालताँ सब रैण बिहावँ हो ।
 भूख गई निदरा गई पापी जीव न जावँ हो ॥
 दुखिया कूँ सुखिया करो मोहि दरसन दीजँ हो ।
 मीरा व्याकुल बिरहिणि अब बिलम न कीजँ हो ॥

[१८०]

आवो मनमोहना जी जोऊँ थारी बाट ।
 खान पान मोहि नेक न भावँ नैण न लगे कपाट ।
 तुम आया बिन सुख नाहि मेरे दिल में भोत उचाट ॥
 मीरा कहे मैं भई रावरी छाँड़ो नाहि निराट ॥

[१८१]

आवो मनमोहना जी मोठा थारो बोल ।
बालपना की प्रीत रमयाजी कदे नाहि आयो थारो तोल ।
दरसन बिन मोहि जक न परत है चित मेरो डाँवाडोल ।
मीरा कहै मैं भई रावरी कहो तो बजाऊँ ढोल ॥

[१८२]

घड़ी एक नहि आवड़े तुम दरसन बिन मोय ।
तुम हो मेरे प्राण जी कासूँ जीवन होय ॥
धान न भावै नींद न आवै बिरह सतावै मोहि ।
घायल सी घूमत फिहूँ रे मेरो दरद न जाणै कोय ॥
दिवस तो खाय गमाइयो रे रैण गमाई सोय ।
प्राण गमाइया झूरताँ रे नैण गगाया रोय ॥
जो मैं ऐसा जाणती रे प्रीत कियाँ दुख होय ।
नगर ढिढोरा फेरती रे प्रीत करो मत कोय ॥

[१८३]

दरस बिन झूखन लागै नैण ।
जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन ॥
सबद सुणत मोरि छतिया काँपे मीठे लागे बैन ।
बिरह बिथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करबत ऐन ॥
एक टक टकी पंथ निहाळै भई छमासी रैण ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख भेटण सुख दें ॥

[१८३] मीरा के सर्वोत्तम पदों में यह एक अन्यत्तम है—इसके एक एक शब्द में मीरा के घायल हृदय की तस्वीर उतर आई है ।

‘छमासी रैण’—बिरह की रात इतनी लम्बी होती है कि काटे नहीं कटती । सूरदास में भी बिरह की ‘छमासी रैन’ का उल्लेख कई स्थलों पर आया है ।

[१८४]

तुमरे कारण सब सुख छाड़्या अब मोहि क्यूँ तरसावौ हो ।
 बिरह बिथा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावौ हो ॥
 अब छोड़त नहि बणै प्रभूजी हँसि करि तुरत बुझावौ हो ।
 मीरा दासी जनम जनम की अंग से अंग लगावौ हो ॥

[१८५]

पिय बिना सूनो छै जी म्हाँरो देस ।
 ऐसा हँ कोई पीब कूँ मिलावँ तन मन कल्लूँ सब पेस ।
 तेरे कारण बन बन डोलूँ कर जोगण को भेस ।
 अवधि बदी थी अजून आये पंडर हो गया केस ।
 मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तजि दियो नगर नरेस ॥

[१८६]

हो गये स्याम दुइज के चंदा ।
 मधुवन जाइ भए मधुवनिया हम पर डारो प्रेम को फदा ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर अब तो नेह परो कछु मंदा ॥

[१८४] अग से अंग लगावौ हो' ।

Thus does God, when he raises a soul to union with Himself suspend the natural action of all her faculties. She neither sees, hears, nor understands so long as she is united with God. God establishes Himself in the interior of this soul in such a way that when she returns to herself it is wholly impossible for her to doubt that she has been in God and God in her

—*St. Theresa*

[१८५] प्रियवम के बिना मेरे लिए यह सारा संसार सूना है, उजड़ा है । यदि कोई मुझे उस प्रणरमण से मिला दे तो उसके हाथों बिक जाऊँ क्योंकि उन्होंने आने की जो अवधि दी थी वह बढ़ती ही जा रही है । राह देखते-देखते बाल सफेद हो चले । प्रतीक्षा की भी हद है !

[१८७]

हो जी हरि कित गये नेह रगाय ।
नेह लगाय मेरो मन हर लीन्हो रस भरी ढेर सुनाय ।
मेरे मन में ऐसी आवाँ मरूँ जहर बिस खाय ॥
झाँड़ि गए बिसवास सँघाती करि नेह की नाव चढ़ाय ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे रहे मधुपुरी छाया ॥

[१८८]

सखी री लाज बैरण भई ।
श्रीलाल गोपाल के संग काहे नाहि गई ॥
कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कहें नई ।
रथ चढ़ाय गोपाल लैगो हाथ मीजत रही ॥
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिरहते तन तई ।
बासि मीरा लाल गिरधर बिखर क्यूँ ना गई ॥

[१८७] रस भरी ढेर सुनाकर उसने मन मोह लिया और जब प्राण व्याकुल होकर उसके पथ में चल पड़े तो फिर उसका 'विश्वासघात' ही हाथ आया क्योंकि वह 'नेह' लगा कर 'मधुपुरी' में छाये हुए है ।

यह देखना चाहिए कि भगवान् की अनेकानेक लीलाओं में से केवल मथुरागमन की लीला ही मीरा के प्रेमप्रवण हृदय को अधिक स्पर्श कर सकी क्योंकि विरह को—अनन्त और अवधिहीन विरह को उभारनेवाली यह सबसे गभीर लीला है । १८६ वें पद में 'मधुवन जाइ भए मधुवनिया' में कितनी गभीर व्यंग्याक्ति है—'मधुवनिया'—(मधुवन निवासी, मधु का 'वनिया') शब्द के श्लिष्टार्थ पर ध्यान दीजिए ।

[१८८] 'लाज बैरण भई'—'देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलाहि'—आँखों की इस बेवसी का अनुभव सभी प्रेमियों को है । प्राणनाथ को देखे बिना चैन नहीं मिलती और, जब 'वे' सामने आ जाते हैं तो आँखें लाज के मारे झप जाती हैं । फिर जब वह हृदयरमण आँखों से ओझल हो जाता है तो जी तडपने लगता है और मन ही मन हम अपने को धिक्कारने लगते हैं कि उसके विरह में अभी तक प्राणों का भार क्यों ढो रहे हैं । जब 'वे' आयें तो आँखें चूक गयी जब 'वे' चले गये तो फिर आँसुओं की रिमझिम ।

[१८९]

अपने करम को छे दोस काकूँ दीज रे ऊधो, अपने ॥०॥
 सुणियो मेरी भंण पड़ोसण गेल चलत लागी चोट ।
 पहली ग्यान मान नहि कीन्हो मे समता की बाँधी पोट ॥
 मे जाण्युं हरि नाहि तजंगे करम लिख्यो भलि पोच ।
 मीरा के प्रभु हरि अविनाशी परो निवारो नी सोच ॥

[१९०]

कुण बाँच पाती बिना प्रभु कुण बाँच पाती ।
 कागद ले ऊधोजी आए कहाँ बाल रह्या साथी ॥
 आवत जावत पाँव घिस्या रे अखियाँ भई राती ।
 कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती ।
 नैण नीरज मे अब बहे रे (बाला) गगा बहि जाती ।
 पानाँ ज्युं पीली पड़ी रे (बाला) अन्न नहि खाती ।
 हरि बिन जिवड़ो यूँ जल रे (बाला) ज्युं दीपक संग बाती
 म्हाँने भरोसा राम को रे (बाला) डूब तिर्यो हाथी ।
 दासि मीरा लाल गिरधर साँकडारो साथी ॥

[१८९] अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम को लेकर चले गये हैं उस समय का यह पद है। गोपियो ने उस समय कहा था—यह अक्रूर ! इस महाकूर का नाम भला अक्रूर किसने रखा, प्यारे प्राणवल्लभ को रथ पर बिठा कर लिये जा रहा है। अब यह दुःख सहना तो दूर रहा हमारा जीवित रहना भी कठिन है। जो सायंकाल के समय गोधूलि से धूसरित माला पहने, वशी बजाते हुए बलरामजी के साथ गोपों से घिरे हुए ब्रज में प्रवेश करते समय मद मद मूसकान और कटाक्षयुक्त अवलोकन से हमारे चित्त को हरखे थे उन श्रीकृष्ण के बिना हम कैसे जीवेंगी ?

‘सूरसागर’ में इस स्थल के पद बड़े ही मर्मिक तथा हृदय हिला देनेवाले हैं।

[१९०] इस पद में विरहिणी राधा का बड़ा ही सजीला चित्र है। कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती” में विप्रलभ का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन है। आँखों से गंगा-जमुना बह रही हैं—आँसुओं की इस धारा को देख कर मीरा कहती है—‘नैण नीरज मे अब बहे रे’—

[१९१]

लागो सोही जाणौ कठण लगण दी पीर ।
विपति पड्य़ा कोई निकट न आवैं सुख में सबको सीर ।
बाहिरि घाव कछू नहिं दीसैं रोम रोम दी पीर ॥
जन मीरा गिरधर के ऊपर सदैव कछू सरीर ॥

[१९२]

हे मेरो मनमोहना ।
आयो नही सखी री हे मेरो मनमोहना ।
कं कहूँ काज किया संतन का कं कहूँ गैल भुलावना ।
कहा कछू कित जाऊँ मोरी सजनी लाग्या हूँ बिरह सतावना ।
मीरा दासी दरसण प्यासी हरि चरणो चित लाबना ॥

[१९३]

किण सँग खेळूँ होली पिया तजि गये हूँ अकेली ।
माणिक मोती सब हम छोडे गले में पहनी सेली ।
भोजन भवन भलो नहिं लागे पिया कारण भे गेली ॥

कमल-कोष से जल की धारा ढुलक रही है । राधा पके पान की तरह पीली पड गई है और हरि के बिना बिरह में उसका जीवन वैसे ही जल रहा है जैसे दीपक के साथ बाती जलती है । परन्तु तुरन्त मीरा को स्मरण हो आता है कि वह तो 'साकड़ारा साथी' है, सकट का मित्र है ।

चित दै सुनौ स्याम प्रबैन ।
हरि तुम्हारे बिरह राधा में जु देखी छीन ॥
तज्यो तेल तमोल भूषण अंग बसन मलीन ।
कंकना कर बाम राख्यो गाढ भुज गहि लीन ॥
जब संदेसो कहन सुन्दरि गवन मोतन कीन ।
खसि मुद्रावलि चरण अरुक्षी गिरि धरनि बलहीन ॥
कंठ वचन न बोल आवैं हृदय अँसुवनि भीन ।
नैन जल भरि रोइ दीनो ग्रसित आपद दीन ॥
उठी बहुरि सँभारि भटु ज्यो परम सङ्गस कीन ।
सूर प्रभु कल्याण ऐसे जियहि आसा लीन ॥

मुझे दूरी क्यों महेली ।
 अब तुम प्रीत और सूँ जोड़ी हमसे करी क्यों पहेली ।
 बहु दिन बीतें अजहूँ न आये लग रही तालाबेल्ले ॥
 किण बिलमाये हेली ।
 स्याम बिना जिवड़ो मुरझावे जँसे जल बिन बली ।
 मीरा कूँ प्रभु दरसण दीज्यो जनम जनम की चेली ।
 दरस बिना खड़ी दुहेली ।

[१९४]

इक अरज सुनो पिया मोरी, मैं किन संग खेलूँ होरी ।
 तुम तो जाय बिदेसाँ छाये हम से रहे चित मोरी ।
 तन आभूषण छोड़्या सब ही तज दियो पाट पटोरी ॥
 मिलन की लग रही डोरी ।
 आप मिल्याँ बिन कल न पड़त है त्यागो तिलक तमोली ।
 मोरा के प्रभु मिलज्यो माधो सुणज्यो अरजी मोरी ।
 दरस बिन बिरहिन दोरी ॥

[१९५]

होली पिया बिन लागे खारी सुनो री सखी मोरी प्यारी ।
 सुनो गाँव देस सब सुनो सूनी सेज अटारी ।
 सूनी बिरहिन पिव बिन डोलै तज दई पिव पियारी ॥
 अई हूँ या दुख कारी ।
 देस विदेस सदेस न पहुँचै होय अदेसा भारी ।
 गिणताँ गिणताँ घिस गई रेखा आँगुलियाँ की सारी ।
 अजहूँ नहिँ आये मुरारी ।
 बाणत झाझ मृदंग मुरलिया बाज रही इकतारी ।
 आयो बसत कत घर नांही तन म जर भया भारी ।
 स्याम मन कहाँ बिचारी ।
 अब तो मेहर करो मुझ ऊपर चित दै सुनो हमारी ।
 मीरा के प्रभु मिलिज्यो माधो जनम जनम की कुँआरी ॥
 लगी दरसण की तारी ॥

[१९६]

होली पिया बिन मोहि न भावै घर आंगण न सुहावै ।
 दीपक जोय कहा करूँ हेली पिय परदेश रहावै ।
 सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै सुसक सुसक जिया जावै ।
 नीद नहि आवै ।
 कब की ठाढ़ी मैं मग जोऊँ निसदिन विरह सतावै ॥
 कहा कहूँ कछु कहत न आवै हिवडो अति अकुलावै ।
 पिया कब दरस दिखावै ।
 ऐसा है कोई परम सनेही तुरत सदेसो लावै ।
 वा बिरियाँ कद होसी मो कूँ हँसकर निकट बुलावै ।
 मोरा मिल होली गावै ॥

[१९७]

मतवारो बादल आए रे हरि को सदेसो कछु न लाए रे ।
 दादुर मोर पपइया दोलै कोयल सबद सुणाए रे ।
 कारी अँधियारी बिजरी चमकै बिरहिन अति डरपाए रे ।
 गाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति झड लाए रे ।
 कारी नाग बिरह अति जारी मीरा मन हरि भाए रे ॥

[१९८]

बादल देख झरी हो स्याम मे बादल देख झरी ।
 काली पीली घटा उमगी बरस्यो एक घरी ॥
 जित जाऊँ तित पाणीहि पाणी हुई सब भोम हरी ॥
 जा का पिया परदेस बसत है; भोजूँ बार खरी ।
 मीरा के प्रभु हरि अदिनासी कीज्यो प्रीति खरी ॥

[१९९]

पपइया रे पिव की बाणी न बोल ।
 सुणि पावेली बिरहणी रे थारो राखैली पॉख मरोड़ ॥

[१९९-२००] मीरा अपने महल मे सोयी थी कि पास के एक वृक्ष पर से 'पपइया' ने 'पी' 'पी' की टेर लगाई । फिर क्या था मीरा ने उस 'छेड़नेवाले' को संबोधित कर अपने हृदय का मधु उडेलना शुरू किया क्योंकि निश्चय ही वह इस विरह की अवस्था में जले पर नमक छिड़क रहा है ।

चोच कटाऊँ पपइया ऊपरि कालर लूण ।
 पिव मेरा मैं पिव की रे तू पिव कहै स कूण ॥
 थारा सबद सुहावन रे जो पिव भेल्या आज ।
 चोच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे तू मेरे सिरताज ॥
 प्रीतम को पतियाँ लिखूँ कउवा तू ले जाइ ।
 प्रीतम जू सू यूँ कहै रे थारी बिरहिणि धान न खाइ ॥
 मीरा दासी ब्याकुली रे पिव पिव करत विहाइ ।
 बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्योइ न जाइ ॥

[२००]

रे पपइया प्यारे कव को बैर चितार्यो ।
 मैं सूती छी अपने भवन मे पिय पिय करत पुकार्यो ॥
 दाध्या ऊपर लूण लगायो हिवडो करवत सार्यो ।
 उठि बैठो वृच्छ की डाली बोल-बोल कंठ सार्यो ॥
 मीरा के प्रभु गिरघर नागर हरि चरणों चित धार्यो ।

पर वे सारी वस्तुएँ जो विरह के समय दाहक और दारुण प्रतीत होती थीं मिलन के समय वे ही सुखद और सुहावनी मालूम होने लगती हैं । यदि प्रिय मिल जाय तो मीरा पपीहे की चोच को सोने से मढ़ाने की प्रतिज्ञा लेती है । हिन्दी में इसी भाव की बहुत कविताएँ हैं, मीरा जैसा उनमें दर्द भले न हो । सूरदास ने भी पपीहे को संबोधित कर कई ऐसे पद कहे हैं ।

स्वगत

[२०१]

अच्छे भीठे चाख चाख बोर लाई भीलनी ।
 ऐसी कहा अचारवती रूप नहीं एक रती ।
 नीच कुल ओछो जात अति ही कुचीलणी ।
 जूठे फल लीन्हें राम प्रेम को प्रतीत जाण,
 ऊँच नीच जाने नहीं रस की रसीलणी ।
 ऐसी कहा वेद पढी छिन में विमान चढ़ी;
 हरि जी सूँ बांध्यो हेत दास मीरा तरै जोई,
 पतितपावन प्रभु गोकुल अहीरिणी ॥

[२०२]

देखत श्याम हँसे सुदामाँ कूँ देखत श्याम हँसे ।
 फाटी तो फूलड़ियाँ पाँव उभाणे चलतें चरण घसे ।
 बालपणे का भीत सुदामा अब क्यूँ दूर बसे ॥
 कहा भावज ने भेंट पठाई ताडुल तीन पसे ।
 कित गई प्रभु म्हाारी टूटी टपरिया हीरा मोती लाल कसे ॥
 कित गई प्रभु मोरी गडवन बाँछिया द्वारा बिच हसती फसे ।
 मीरा के प्रभु हरि अविनासी सरने तोरे बसे ॥

[२०३]

बंदे बंदगी मत भूल ।
 चार दिना की करले खूबी ज्युँ दाडिमदा फूल ।
 आया था ए लोभ के कारण भूल गमाया भूल ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर रहना हूँ बे हजूर ।

[२०४]

राम नाम रस पीजे मनुआँ राम नाम रस पीजे ।
 तज कुसग सत्सग बंठ नित हरि चरणाँ सुख लीजें ॥
 काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ चित से बहाय दीजे ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताहि के रग में भीजे ।

[२०५]

मेरो मन रामहि राम रटै रे ।
 राम नाम जप लीजे प्राणी कोटिक पाप कटै रे ।
 जनम जनम के खत जु पुराने नामहि लेत कटै रे ॥
 कनक कटोरे इन्धित भरियो पीवत कौन नटै रे ।
 मीरा कहै प्रभु हरि अबिनासी तन मन ताहि पटै रे ॥

[२०६]

भज मन चरण कँवल अबिनासी ।
 जेतइ दीसे धरण गगन बीच तेतइ सब उठ जासी ।
 कहा भयो तीरथ ब्रत कीन्है कहा लिए करवत कासी ॥
 इस बेदी का गरब न करणा माटी में मिल जासी ।
 यो ससार चहुर की बाजो साँझ पड़्या उठ जासी ॥
 कहा भयो है भगवा पहुर्याँ घर तज भये सन्यासी ।
 जोगी होय जुगति नहि जाणी उलटि जनम फिर आसी ॥
 अरज करो अबला कर जोरे स्याम तुम्हारी दासी ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर काटो जम की फाँसी ॥

[२०५] सभी सत, महात्मा, भक्त, ज्ञानी, वैरागी, योगी, यती, संन्यासी, ओलिया, फकीर, दरवेश, आउल, बाउल, शास्त्र, पुराण, कुरान एक स्वर से नाम का महिमा गाते हैं । नाम के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं । मीरा ने नाम-स्मरण को 'अमृत पान' कहा है ।

[२०६] इस क्षण-क्षण विध्वंसी अनित्य जगत् में प्रभु के चरणों में शरणापन्न हो जाना ही परम पुरुषार्थ है । सन्यास या वैराग्य लेकर मन को मारना और अपनी इच्छाओं की जीतना बहुत कठिन कर्म है । मन को कहीं न कहीं टिकाव चाहिये ही । यह चंचल मन कोई न कोई आधार ढूँढता है अतएव यहाँ के नाम और रूप से हटाकर प्रभु के नाम और रूप में इस मतवाले मन को डुबो दिया जाय तभी परम शान्ति मिल सकती है ।

यहाँ, इस धरती और आकाश के बीच का जब सब कुछ नश्वर ही है तो ममत्व किस पर किया जाय ? इस उठती पैठ का क्या भरासा ?

इन विरागात्मक पदों में ससार के प्रति उदासीनता का जो भाव है उसे वैरागियों की उदासीनता न समझकर भक्त की ईश्वरोन्मुखता तथा एकान्त भगवदासक्ति समझनी चाहिए । मीरा के विराग का अर्थ है भगवान के प्रति अटूट अनुराग ।

दीसे = दीखता है । जासी = जायेगा ।

'सी' प्रत्यय राजस्थानी में सामान्य भविष्यत् में लगता है ।

[२०७]

करम गति टारे नाहि टरे ।
सतवादी हरिचंद से राजा (सो तो) नीच घर नीर भरे ॥
पाँच पाडु अरु सती द्रौपदी हाड़ हिमालं गिरे ।
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासन सो पाताल धरे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बिख ते अछित करे ॥

[२०८]

नाहि ऐसो जन्म बारंबार ।
का जानूँ कछु पुण्य प्रगटे मानुसा अवतार ॥
बढ़त छिन छिन घटत पल पल जात न लागे बार ।
बिरछ के ज्यूँ पात टूटे बहुरि न लागे डार ॥
भोसागर अति जोर कहिये अनत अँड़ी धार ।
राम नाम का बाँध भेडा उतर परले पार ॥
ज्ञान चौसर मडी चौहटे सुरत पासा सार ।
या दुनियाँ में रची बाजी जीन भावें हार ॥
सधु सन महंत ज्ञानी चलत करत पुकारे ।
दासि मीरा लाल गिरधर जीवणाँ दिन चार ॥

[२०७] कर्म की गति बड़ी गहन है—इस सम्बन्ध में कई दृष्टान्त देकर अन्त में मीरा का ध्यान अपने पर जाता है तो वह सकुचा जाती है क्योंकि उसके लिये तो प्रभु ने हलाहल को अमृत कर दिया ।

[२०८] मीरा में विरागात्मक पद बहुत थोड़े मिलते हैं । मीरा में वैराग्य वही मिलता है जहाँ जीवन की तुच्छता तथा अपन गम्भीर दायित्व का ध्यान आया है । ज्यो ज्यो अवस्था बढ़ती है त्यो त्यो आयु घटती जाती है और मनुष्य मृत्यु के निकट आता जाता है । इस ससार सागर की लहरे बड़ी विकराल है । इसमें पड़ कर बड़े बड़े चक्रनाचूर हो गये । इस नश्वर ससार में केवल भगवान की भक्ति और उसमें अनन्य श्रद्धा ही मनुष्य का एकमात्र आधार है और इस महामागर से पार होने के लिये एकमात्र भगवान की कृपा का ही आसरा है ।

[२०६]

जग में जीवणा थोड़ा राम कुण कह रे जंजार ।
 मात पिता तो जन्म दिया हूँ करम दियो करतार ।
 कइरे खाइयो कइरे खरचियो कइरे कियो उपकार ॥
 दिया लिया तेरे संग चलेगा और नहीं तेरी सार ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर भज उतरो भव पार ॥

[२१०]

मनुखा जन्म पदारथ पायो एसी बहुत न आती ।
 अबके मीसर ज्ञान बिचारो राम नाम मुख गाती ।
 सतगुरु मिलिया खुज पिछाणी ऐसा ब्रह्म में पाती ॥
 सतगुरु सूरा अमृत पीवे निर्गुण प्यासा जाती ।
 मगन भया मेरा मन सुख में गोविंद का गुण गाती ॥
 साहब पाया आदि अनादी नातर भव में जाती ।
 मीरा कहे इक आस आप की औराँ सूँ सकुचाती ॥

[२११]

लेताँ लेताँ राम नाम रे लोकिया तो राजाँ मरे छै ।
 हरि मंदिर जाताँ पाँवलिया रे दूखे फिर आवे सारो गाम रे ।
 झगड़ो थाय त्या दौडी ने जाय रे मूकी ने घर ना काम रे ।
 भांड भवैया गणिका नृत करताँ बेसी रहे चार जाम रे ।
 मीराँना प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित हाम रे ॥

[२१२]

यहि विधि भगति कैसे होय ।
 मन की मेल हिये तें न छूटी दियो तिलक सिर धोय ।
 काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चंडाल ।
 क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ॥
 विलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत ।
 दीन हीन हूँ छुधा रत से राम नाम न लेत ॥
 आपहि आप पुजाय के रे फूले अंग न समात ।
 अभिमान टीला किए बहु कहु जल कहाँ ठहरात ॥

जो तेरे हिय अंतर की जानें तासों कपट न बने ।
हिरदे हरि को नाम न आवे मुखमें मनिया गने ॥
हरी हितु से हेत कर संसार आसा त्याग ।
दासि मीरा लाल गिरधर सहज कर बैराग ॥

[२१३]

रमइया दिन यौ जिवडो दुख पावे ।
कहो कुण धीर बँधावे ।
यौ संसार कुबुधि को भाड़ो साध संगति नहि भावे ॥
राम नाम बिन मुकुति न पावे फिर चौरासी जावे ।
साध सगति में कबहुँ न जावे मूरख जनम गमावे ॥

[२१४]

मेरे मन राम नामा बसी ।
तेरे कारण स्याम सुन्दर सकल लोगाँ हंसी ॥
कोई कहै मीरा भई बावरी कोई कहै कुलनासी ।
कोई कहै मीरा दीप आगरी नाम पिया सूँ रसी ।
खाड़ धार भक्ती की न्यारी काटिहै जम फँसी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सब्द सरोवर घसी ॥

[२१५]

गोबिन्द सूँ प्रीत करत तर्षाहूँ क्यों न हटकी ।
अब तो बात फैल पड़ी जैसे बीज बटकी ॥
बीज को बिचार नाहि छाँय परी तटकी ।
अब चूको तो ठौर नाही जैसे कला नटकी ।
जल के बूझी गाँठ परी रसना गुन रटकी ।
अब तो छुड़ाय हारी बहुत बार झटकी ॥
घर घर में घोल भठोल बानी घट घट की ।
सब ही कर सीस धारि लोक-लाज पटकी ॥
मद की हस्ती समान फिरत प्रेम लटकी ।
दासि मीरा भक्ति बृन्द हिरदय बिच गटकी ॥

[२१६]

हेली सुरत सोहागिन नार सुरत मेरी राम से लगी ।
 लगनी लहंगा पहिर साहागन बीती जाय बहार ।
 धन जोबन दिन चार का है जात न लागे वार ॥
 झूठे वर को के बलूँ अध बिच मे तज जाय ।
 बर बरिये वह साँवगे म्हारो चूडलो अमर हो जाय ॥
 राम नाम का चूडलो हो निरगुन सुरमी सार ॥
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणों बलिहार ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

शब्दानुक्रमणिका

अ

अनुराग	९, २५
अर्जुनदास	२६५
अप्रकटलीला	२८
अरुण	२३
अगज	२४
अनुलाप	२४
अभिसार	१४
अपर्णा	१३
अभिशाप	१३
अग्निशर्मा दुर्वासा	१०
अमितार्था	२०
अघरदशन	२०
अनकूल	२०
अयोधिनक्षत्र	१९
अष्टांग	१९
अधीरा	१९
अभिमारिका	१९
अनसूया	९
अनभावो की विशेषता	२४
अष्टकालीन लोला	२८
अधिरूढ	२५
अनहद	५२ १३८
अपम्मार	२३
अवहित्या	२३
अनुलाप	२४
अपलाप	२४
अतिदेश	२४
अपदेश	२४
अमर्ष	२३
असूया	२३
अनिरुद्ध	३८

अभिलाष	२७
अथर्व शीर्ष	३५
अच्युत	२६
अमृततत्त्व	३०
अकल	३३
अनीह	३३
अर्द्धनारीश्वर	३१
अन्त समिलन	३२
अलवस्तामी	२९
अन्तमिलन	५०
अद्वैत सिद्धि	८८
अलवार भक्त	८९
अज्ञात रति	८९
अनाहत	१५७
अनुभवैकगम्य	१८४
अव्यय कालत्व	७४
अन्तर्वासी	१६९
अघरामृत	४
अहल्या	३
अनुराग	११०
अजामिल	१२५
अष्टसिद्धियाँ	२
अन्नमय	१
अमर्ष	२३
अदाल	४०
अगिरस	३६
अतरंग साधना	३२
अगसौरभ	२२
अगुरीयक	२२

आ

आत्मरति	५९, १५२
आत्मप्रकाश	६२

उत्कठा	२४	करुणा	२३, २६, ३१
उद्वेग	२७	कुब्जा	१३, २४
उल्लास	२७	केन	४२
उद्यम	४३	कृष्णभक्ति शाखा	३९
उपनिषद्	१९	कर्म-सत्यास	३६
उपनिषद्काल	३५	कला	४६
उमा	३१	कालाग्नि	३२
उपाय	३१	कायासिद्धि	३२
उत्तर रामचरित	७५	कायाशोधन	३२
उत्तमा भक्ति	९३	कान्ताभाव	५६
उद्दीपन विभाव	२४, ९६	कान्तासक्ति	५१
उद्दीप्त	९७	कात्यायनी देवी	६७
उज्ज्वल नीलमणि	१५, १७	कुमार सभवा	१२, ७५
उत्तरीयस्खलन	२४	कृष्णभावनामृत	८९
उष्णीष	२२	क्लेशघ्नी	९३
उत्कठिता	१९	कामगधहीन	१८८
उत्तमा	१६	कामरूपा	९४
उपेन्द्र	२३	कवीन्द्र रवीन्द्र	१५९
ॐ रामाय नमः	३	कालिदास	१९३
		कान्तरति	१८९
		कबीर	२०४, ३, ९९, १४७, १५४, १५३
		कैकेयी	४
ऋग्वेद	३५	कृष्णाभिसार	११४, १४
ऋषिकन्या	१०	कृष्ण	२, ३, १३, २३
		कौशल्यानन्दन	२
		कृष्णोपनिषद्	२
ए		कन्यका	१७
एकपाद विभूति	१८	केश ससन	२४
एसटॉरिक	२९	क्रीडा-माधुरी	१२३
		केयूर	२२
ऐ		कुडल	२२
ऐश्वर्यमाधुरी	१२३	किरीट	२२
		कर्बुर	२२
		कबरी	२२
क		केशवधन	२२
कलहान्तरिता	१९	कचुक	२२
कपटनिद्रा	२८	कैशोर	२१
कुसुमराग	२५	कौमार	२१
कुण्डलिनी-जागरण	१३८	कायिक	२१
क्रोध	२३		

कृष्णरति	२१	गुणकथन मे आसक्ति	९५
कन्दपे	२०	गोदा	१९४
कीटस	५	गिद्ध	३
कृष्णसेवा	१८	गणिका	३
काव्य-शास्त्र	१९	गज	१२५
कृष्ण कृपा	१८	गव	१
कनिष्ठा	१९	गोदोहन	२४
क्रोशन	२३	गोवर्धन धारण	२४
कलिक	२२	गौर	२३
कर्म	२३		
कपिल	२३		
कबु	२२		
कण्व	६		
कान्होपात्रा	४०		

घ

घृत स्नेहवत्	२४, २५
घनानन्द	३९, १४१, १६७, २२२

ख

खडता	१९	चिन्मयी लीला	१८
		चीरहरण	६, २८, ४७
		चुम्बन	२८, १९३
		चित्रजल्प	२६
		चण्डीदास	५, १२८, १४१
		चिता	२३, २७
		चापल्य	२३
		चैतन्य महाप्रभु	३९
		चित्रदर्शन	२७
		चिरन्तनविहार	५५
		चिद्विलास	७७ १५१
		चित्कण स्वरूप	१८८
		चिद्धन स्वरूप	१८८
		चरणामृत	४
		चित्सत्त्वगण	१६
		चिज्जगत	१५, १८
		चीरहरण लीला	१२५
		चतुष्की	२२
		चूडा	२२
		चित्र	२२
		चतुष्क	२२
		चेष्टा	२१

ग

गोपीकृष्ण	६
गौडीय बंष्णव	८८
गोलोक	१८, १९
गर्व	२३
ग्लानि	२३
गोपियाँ	२४
गीता	३७, ४८
गुण-कीर्तन	२७
गोपाल कृष्ण	३५
गोपाल तापनी	३५
महासाधना	२९
गीत	२३
गोपीगीत	६५
गौराङ्ग देव	८९
गोरक्षपथ	८५
गीतगोविन्द	८६
गोविन्दलीलामृत	८९
गीतिकाव्य	५

चिद्गठन	२१
चेट	२०
चैतन्य	५

डायना	७
-------	---

छ

छादोग्य उपनिषद्	३६
छायासीता	७५
छमासी रैन	११५

ज

जलकेलि	२८
जलक्रीडा	२८
जोग	७, १३
ज्योत्ना-प्लावित	६
ज्योतिर्मय	१८
जयदेव	५, ८६, १०८
जायसी	१४१, ७१, ११०, १४६ १५४, १५७ १३५
जुगुप्सा	२३
जाड्य	२३
ज्वलित	२४, ९७
जागरण	२७
जडिमा	२७
जडता	२७
जीवन प्रवाह	३३
जीव-जीवन	२९
जल्वागर	७६
जीव गोस्वामी	१६, १७, ८७, ८८,
जातरति	८९, ९७
जनकपुर	४
जलालद्दीन	११३
जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्यजी	३
जुभा	२४
जवधर्म	१५
जडजगत्	१५
जमना	११
जूट	२२

त

तैत्तिरीय	३५, ४२
तानव	२७
तन्मयतासक्ति	५१
तन्मयता	५१
सरीकत	१६१
तत्र-मत्र	२
तालावेली	१४९
तुलसी साहब	१४७
तुलसी	२२, १३५
तिलक	२२
ताम्बूल	२२
तुडवध	२२

द

देवना	२३
देवी	१९
द्वारका	१८
दक्षिण	२०
दुर्लभता	२०
दैव्यज्ञा	२०
दुष्टवध	२१
दुष्यन्त	१०, १३
दोहद	१३
दाडू	१३५, १४७
दानलीला	२८, १२३
दास्यरस	१६
देवकीपुत्र	२
दीप्त	२४, ९७
दधिबेचन लीला	१२५
दाम्पत्यरति	१२५
दास्य	४, १८७
दूरत्व	४
दिग्ध	९६
दान्ते	७२

दिव्य रोमास	५५
दिव्यानन्द	२९
दिव्य शरीर	३२
दक्षिण भारत की मीरा	४०
देवदासी	४०
दिव्योन्माद	२६
दैत्य	२३
दुर्वासा	१०
द्युतकीडा	२८
द्वारकापुरी	२०
दिव्यदेह	१८
दर्शन	२८
दास्यासक्ति	५१

ध

धृति	२३
धूमायित	२४, ६७
ध्रुवदासजी	९८
धात्रेयी	२०
धीरोदात्त	२०
धीरललित	२०
धीर प्रशान्त	२०
धीरोद्धत	२०
धृष्ट	२०
धीरा	१९
धीरा-धीरा	१९
धम्र	२३

न

निधुवन रमणादि	२८
नखार्पण	२८
नित्यवृन्दावन	२८
नौका विहार	२८
नागलीला	१२५
नीलराग	२५
नव्य	२३
नादानुसंधान	१३८
निर्वेद	२३, २४

निद्रा	२३
नन्ददास	३९
नारी-हृदय	३८
निम्बार्क	३९
नित्य लीला मे नित्य संयोग	२७
नारायण	३६, २
नारायणीयोपाख्यान	३६
नारद-सूत्र	३६, १८८
नाथ पथ	३३
निरंजन	३३
नाथ	२९
नानक	२०४
निशा-निमंत्रण	४९
निरावरण	६८
नित्यसिद्ध गोपी	७०
नटनागर	८१
निर्गुनिये	८५
निवासाचार्य	९०
नामगान	९५
नाभादासजी	९८
नि.सत्त्व	९७
नागमती	१४६
नारायणोपनिषद्	२
निकलसन	१५३
नीवी विस्रसन	२४
निजानन्द संभोग	११
नूपुर	२२
नित्यसिद्धि	२०
नायक भेद	२०
नवद्वीप	५
निम्बार्क	५
नित्य सहचरी	१९
नित्य सखी	१९
नित्य गोलोक	१८
निजरस	१८
नित्य सिद्धा	१९
नृत्य	२३
नील	२३
नृसिंह	२३

प	पाश्चात्य साधना	
पार्वती १०, ११, १२, १३, १४६	प्रौढ	४७
प्रेयसी २३	प्रणय विपासा	२७
प्रियंवदा ६	प्रतीक उपासना	३६
पुष्टिमार्ग ६२	प्रजल्प	२६
प्यार १०	परीक्षित	३७
प्रेम १०, २४	परमभाव	४, ३७
पीत २३	प्रद्युम्न	३८
पाण्डुर २२, २३	प्रत्याख्यान	१३
पत्र भंग २२	पुरुष हृदय	३८
प्रसाधन २२	परम विरहासक्ति	५१
प्रस्वेद १०, १२६	प्रेमरशना	५१
प्रीति पुरातन १०	पत	७५
पौगण्ड २१	परदानशी	७६
प्रणय २५	प्रपत्ति	३, ८३
प्रणय लीला १८८	प्रेम की पीर	८५
पूर्ण २३	पद्मावत	८५
प्रक्षेप १२९	पूजासक्ति	५१
पण्डरपुर ४०	पुष्पचौर्य	२८
प्रणय मिलन १३	प्रज्ञापारमिता	२९
पुराण १६	प्राणायाम	७, २९
प्राचीना १६	प्रीतम की सेज	८५
पद्म १६	पञ्चम पुरुषार्थ	५३
परम प्रेष्ठ १९	प्रकटलीला	२८
प्रियसखी १९	प्रेमास्वादन	६०
प्राणसखी १९	प्रसाधन	२१
विगला २३	प्रीतम की अटारी	१८५
प्रलय २३	परोडा	२१
प्रज्ञा ३१	परोडाभिमान	२१
प्रियता २३	पद्मावती	१४६
पदाक २२	‘प्रसाद’	१९१
पर्ववासर २२	प्राकृत काम	१७
परात्पर तत्व ३०, ४६	प्रीतिसंदर्भ	१६, १७
परम प्रेम ३२	प्रीडा	१७
प्रलाप २४, २७	पूर्वाङ्गराग	१११
प्रेमसाधना ३२	परकीय	१७
प्राच्य साधना ४७	परकीया १७, १९, २०, १८८	
पूर्वराग २६, २७	परकीयाभाव १७, १८	
	परकीय रस १८	

प्रतीप	६७	ब्राह्मत्मिक्य ज्ञान	३६
पद्मपुराण	१५	विहार-वासना	६४
पिय परिचय	१०५	बाइबिल	७७
प्राणवल्लभ	१३	ब्रह्मरन्ध्र	८५
प्रियादासजी	९८	बड् स्वर्य	५०
प्रीति	२३	बिम्बाधर सुधापान	२८
पनघट लीला	१२५	ब्रह्मानन्द	८५
प्रेय	४	ब्रजवासिनी	२१
पीपा	३	ब्रजवासी	२१
प्रबध	१६१	ब्रजगोपीत्व	२१
प्रिय नर्म सखा	२०	ब्रजलीला	१७
पीठमर्दक	२०	बृहद् गौतमीय	१५
परिचारिका	२०	ब्रह्मवैवर्त	१५
पत्रहारिका	२०	बाललीला	१२५
प्राणमय	१	बिदकी	८९
प्रेम तत्त्व	५	ब्रह्मवाद	३
प्रगल्भा	१६	ब्रजपुरी	२०
प्रेममयी तृष्णा	९३	बौद्ध धर्म	२
परव्योम	१८	ब्रह्मधाम	१८
प्रोषितभर्तृ का	१९	बृहदारण्यक	९
प्रेमाभक्ति	९३	ब्रह्म सबध	९२
प्रेयस	२३		
		भ	
फ		भगवान्	५
फागलीला	१२५	भावभक्ति	९३, ९४
		भू	१८
		भक्तिरसराज	१६
ब		भाव	२३
बारहमासे	१४६, १५७, १६३	भूमिष्ठ	२२
बीडा	२३	भुक्तभोगी	११
ग्राउनिंग	४५	भावदेह	१८७
ब्रजरस	१९	भक्तिरसामृत सिधु	१३१, १८८, ८७
ब्रह्मज्ञान	१९	भार्गव	२३
बलराम	२३	भक्तिरस	२३
बुद्ध	२३	भाव बंधन	२४
बैध	३२	भारतीय	४६
बोध	२३	भागवत	३६
ब्रह्म संहिता	२३, ३५, १५	भागवत धर्म	३८
ब्राह्मी स्थिति	३७	भवभूति	७५, १९३

महादेवी	११०, १६१	यम	३५
मुक्तक	१६१	यमुना	२८
मंदम ग्यों	११३	यौवन वसंत	६१
मीरा बाई	३	यशोदा	४
मथुरा गमन	१२५	राम	२, १०
महाप्रभु श्री चैतन्य देव	१००	रत्नमाला	२२
मणिपुर	१५७	राधारानी	१०
मनोमय	१	रसिकशेखर श्रीकृष्ण	११
मोटायायित	२४	रोमाच	१०, १२९
मिलन लीला	१२५	रूप	१, २१२३
महासती	११	रसायन	२, ३२, १३६
महादेव	११, १२	रवीन्द्रनाथ	१३३, १४०, १४१
मदन	१२	रघुनाथदास गोस्वामी	२८
मन्मथमथन	११	रसीली भगति	१३८
मजनु	११	रक्तिमा	२५
मिथिलेश बन्दिनी	२२	रक्तिमराग	२५
मडन	२२	रूप गोस्वामी	२१, १३१
मृदुता	२१	रामायण	३९
मानसिक	२१	रसखान	३६
महा मिलन	५	रक्त	२३
मिथिला	५	रति	२३
मध्व	५	रससिद्धि	३२
मुनि	१६	राबर्ट ब्रीजेज	४५
मुग्धा	१९	राधा	१९
मध्या	१६	रामी	६३
मथुरा में पूर्णता	१८	राघव	२३
		रौद्र	२३
		रग	२३
		रूप-श्री	३४
		रुक्मिणी	२४
यौथिकी	१०	रति का उदय	२४
युग	२२	रसाणं व सुधाकर	२६, २८
युगल	३०	रागानुगा	८७, ६३
यामल	३०	रुद्र	३६
युगनद्ध	३०	रामभक्ति शाखा	३६
युगलोपासना	३२	रामावतार	६८
योगसाधना	३२	रासपंचाध्यायी	६५, ६७
यथार्थवाद	४६	रासमडल	६६
यज्ञ	३६	रास	२८
याग	३६		

य

रूपासक्ति	५१	लौल्य	१५
रूपसुधा	६१	लास्य	२०
रास	२१	लिङ्गिनी	२०
रबिया	१६४		
रूप-माधुरी	१२५	व	
रसास्वादन	१७	वाल्मीकि	१३
रति	१७	वैजयन्ती	२२
रत्याभासज	६७	वेणी	२२
रूपलावण्य	१४	विशेषक	२२
रैदास	३, १६, १००, १५६	वसन	२२
रूसो	११६	वैवर्ण्य	१०, २३, १५६
रस	१, २३	वनसृज	२२
रुचिभक्ति	८८	वलय	२२
रामत्व	३	बृहदारण्यक	१८७
रामचन्द्र	६०	विलम्ब	२५
रामनाम	३	वात्सल्य	४, १८७
रागात्मिका	९४	व्यक्त	२३
रक्ष	९६	व्याधि	२३
राधिकावल्लभ	२	विषाक्त	२३
रामतपनी उपनिषद्	२	वितर्क	२३
रहस्यमयी	६	व्यासदेव	३९
राजस्थान	५	बृहदवामन पुराण	१६
		बृन्दावनेश्वरी	१६
ल		वाराह	२३
लोक-संग्रह	१०	विलुठित	२३
ललित	२५	वेपथु	२३
लाग फेलो	४४	वज्रसत्त्व	३२
लावण्य	२३	वीभत्स	२३
लालसा	२६	वीर	१३
ललिता	७०	विश्वस्त	२३
लियर	७४	वेणु	२२
लीलाविलाम्	१६, २८	वशी	२२
लंला	११	विस्मय	२३
लोकमर्यादा	४, १३	विश्वसगीत	२३
लौ	१०२	व्याभिचारी भाव	२३, ६७
लक्ष्मण	१३	वैष्णवधर्म	३९, १८८
लीला	२४	विलाप	२४, १७
लीलामाधुरी	१२३	व्यसदेश	२४
लीला बिहार	९०	विप्रलम्भ	२६

वैवर्ण्य	२७	व्रजेन्द्रनन्दन	२०
विष्णु-छन्द	३५	वनदेवी	२०
विजल्प	२६	विदूषक	२०
विष्णु	३, ३५, ३६	विट	२०
वरण	३५	वामता	२०
वासुदेव	२, ३, ३८	विसृष्टार्था	२०
वात्सल्यासक्ति	५१	वासकसृज्जा	१६
वल्लभाचार्य	३६		
व्याधि	२७	व	
वैष्णव सम्प्रदाय	६४	विप्रलब्धा	१९
विष्णु स्वामी	३६	वृन्दावन लीला	१७
वियत्रिस	७२	वज्र	१८
वार्तालाप	२८	वकुठ	१८
विशिष्टाद्वैत	३, ८३	विरजा	१८
वृन्दावन क्रीडा	२८	विजय कृष्ण गोस्वामी	८
विश्वरूप दर्शन	४६	विश्ववेदना	९
वशी चोरी	२८		
वैष्णव सहजिया	२६		
वस्त्राकर्षण	२८		
वृन्दावन	२८	श	
वय सधि	२१	शोक	२३
वाचिक	२१	शात	२३, १८७
विलापकुसुमाजलि	८८	शका	२३
विषयालबन	१८६	शुकदेव	३७
बृहद् भागवतामृत	८८	शाडिल्यसूत्र	३६, १८९
वात्सल्यरस	१३, १६	शेक्सपियर	७४, ७५
विश्वनाथ चक्रवर्ती	१७	शरणागति	८३
विग्रह माधुरी	१२३, १२५	शक्ति	१५७
वज्रलेप	१३	शरीरगत	१६१
विरहिणी	१३	शाडिल्य	१८९
विच्छिन्ति	५४	श्याम राग	२५
वशीवादन	२८	शवरी	३, १२५
विद्यापति	५, १२८	शिव	३, १२
वशीवादन लीला	१२५	शकुन्तला	१३, १४, १४९
वेणुमाधुरी	१२३	शातरस	१६
विभीषण	३	शिल्पकारी	२०
वल्लभ सम्प्रदाय	३	शठ	२०
विरक्ति	६४	शृंगार	१०, १४, २०, २३, २५
विषयालबन	६६		

स्पर्श	२८	सुग्रीव	३
‘साधारणीकरण’	७४	सहज समाधि	१५७
स्वामी रामानुज	८३	सहज समाज	१५७
सामवेद	४८	सहजावस्था	१५७
सौंदर्योपासना	५९	स्वामी रामानन्दजी	३
सत ज्ञानदास	५९	समुत्कंठा	९४
सुन्नमहल	५५	संबंधरूपा	९४
सहज साधना	२९	स्वामी रामानुज	३
संजल्प	२८	स्निग्ध	९६
संस्पर्श	२८	सात्त्विक भाव	९६
संदर्शन	२८	सखी	२०
सुरंग सुषुम्ना	८५	स्वयंदूती	२०
सुषुम्ना	८५	साधन भक्ति	९३
स्वयं लिंग	८५	स्वकीय रस	१८
सिद्ध-सती	५२	स्वाधीनभर्तृका	१९
सम्प्रयोग	२८	साधनसिद्धा	१९
सौंदर्य-मधु	६१	सव्योम	१८
सहज साधना	३२	साष्टि	९३
सनातन नारी	६२, १८६	सायुज्य	९३
स्वयं	२०	सुदुर्लभा	९३
स्वसवेद्य	१८४	सान्द्रानन्दविशेषात्मा	९३
सुज्ञान	१६७	सारूप्य	९३
सूफी मतवाद	१६४	सामीप्य	९३
सेन्ट टेरेसा	१९४	सालोक्य	९३
सिद्ध-देह	८८		
सकल्प कल्पद्रुम	८८	ह	
समरसता	१५१	हार	२२
स्वाधिष्ठान	१५७	हर्ष	२३
सूर	३९, १३५, १६३	ह्लादिनी महाशक्ति	१९
स्वरूपासक्ति	१७	हास्य	२३
स्वकीय	१७	हि तत्र	३०
सुदामा	१२५	हठयोग	२, ३२
सत्वाभासज	६७	हृदयद्रावण	२४
सख्यरस	१६	हृल्लेन	४७
सम्मोहनतत्र	१५	हितहरिवश	५, ३९
सूहीप्त	९७	हैमलेट	७४
स्वभावज	२४	हल्लाज मसूर	१५२
मर्वात्मसमर्पण	१३४	हरिभक्ति रसामृत सिंधु	१५
सिद्धान्त रत्नाञ्जलि	८८		

(ए)

हाव	२४	George Russell	200
हेला	४	Hound of Heaven	6
हनुमान	३	Inner lights	53
हलूल	१६२	Jalaluddin	213
हकीकत	१६१	The Festival of Spring	213
हरिवल्लभा	१९	M. M. G. N. Kaviraj	29
हास	२३	Mansur Hallaj	295
		Meister Eckhart	113, 209, 212
क्षाति	६४	The Mystics of Islam	153, 211
		Newman	102
		On the Steps of the Soul	209
त्रिपाद विभूति	१८	Old Testament	233
त्रिकुटी महल	८५	Sapho	194
त्रास	२३	St. John of the Cross	199, 210
		St. Theresa	204, 247, 270
		Theory & Art of mysticism	198
ज्ञानसमुच्चय	३६	The Varieties of Religious Experiences	203, 246
Abu Said	211	The story of Mirabai	236
Coventry Patmore	173	Taular	207
Eastern Lights	195	Vaisnava faiths and	
E. Underhill	116, 129	Movements	18
Francis Thompson	6	Wilfred Monod	211
Gardener	133		